[illegible]-ग्रन्थमाला : १

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

डा. दरबारीलाल जैन कोठिया
न्यायतीर्थ, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य
एम० ए०, पी-एच० डी०
[सम्पादक—न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका, अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड, शासनचतुस्त्रिंशिका, श्रीपुर-पार्श्वनाथ, प्राकृतपद्यानुक्रमणी आदि]
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधिके लिए स्वीकृत

Treatment of Inference in Jaina Logic :
A Historical and Critical Study

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार :
ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

by

Dr. Darbari lal Jain Kothia, M. A. Ph. D.

प्रकाशक
मंत्री, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट
ट्रस्ट-संस्थापक
आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

●

प्राप्तिस्थान
१. मंत्री, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट
चमेली कुटीर,
१/१२८, डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी–५
२ डा० श्रीचन्द जैन संगल
कोषाध्यक्ष, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट
जी० टी० रोड, एटा (उ० प्र०)

●

प्रथम संस्करण ५०० प्रति
ज्येष्ठ वी० नि० २४९५
मई १९६९
मूल्य : सोलह रुपए

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी–१

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
संस्थापक व प्रवर्तक—वीर सेवा मन्दिर व ट्रस्ट

राष्ट्र और समाजसेवी
जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वविद्
श्रद्धेय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार युगवीर
को
उनकी ९२वीं वर्षगांठपर
सादर समर्पित

श्रद्धावनत
दरबारीलाल कोठिया

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक या शोधप्रबन्धके लेखक डा० दरबारीलाल कोठिया जैन दर्शनके जाने-माने विद्वान् हैं, उनका भारतके दूसरे दर्शनोंसे भी अच्छा परिचय है। अब तक वे मुख्यतया जैनदर्शन एवं धर्म सम्बन्धी अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन एवं अनुवाद कर चुके है। प्रस्तुत पुस्तकका विषय तर्कशास्त्रसे सम्बन्ध रखता है। भारतीय दर्शनमें ज्ञानमीमांसाका, और उसके अन्तर्गत प्रमाणमीमांसाका, विशेष स्थान रहा है। प्रमाणविचारके अन्तर्गत यहाँ अन्वेषण-पद्धतियोंपर उतना विचार नही हुआ जितना कि प्रमा अथवा यथार्थज्ञानके स्रोतोंपर। इन स्रोतोंको प्रमाणसंज्ञा दी गयी। प्रमाणोंमे भी प्रत्यक्ष और अनुमान सर्वस्वीकृत है और उनपर विभिन्न सम्प्रदायोके दार्शनिकोने विशेष विमर्श किया है। कुछ विद्वानोंने भारतीय अनुमान और अरस्तूके सिलाजिज्ममे समानता देखनेका प्रयास किया है, किन्तु वस्तुतः इन दोनोंमें बहुत अंतर है। 'भारतीय न्याय' अथवा 'पंचावयववाक्य' बाहरसे अरस्तूके सिलाजिज्मके समान दिखता है, यह सही है, किन्तु अपनी अन्तरंग प्रक्रियामे दोनोंके आधार भिन्न हैं। भारतीय अनुमानकी मूल भित्ति हेतु और साध्यका सम्बन्ध है, जिसे व्याप्ति कहते हैं। हमारे तर्कशास्त्रियोंने हेतुके विविध रूपोंपर विस्तृत विचार किया है। इसके विपरीत अरस्तूके अनुमानकी मूल भित्ति वर्गसमावेशका सिद्धान्त है। अरस्तूने सिलाजिज्मके १९ प्रामाणिक रूप (मूड) माने हैं, और ४ अवयवसंस्थान, जिनमें विभिन्न अनुमानरूपोंको व्यवस्थित किया जाता है। इन सबको देखते हुए भारतीय अनुमानका स्वरूप बहुत संक्षिप्त एवं सरल जान पड़ता है। भारतीय तर्कशास्त्रियोंने अपना ध्यान मुख्यतः हेतुके स्वरूप एवं विविधतापर संसक्त किया। चूंकि भारतीय दार्शनिकोंके सामने चिन्तन और अन्वेषणके वे अनेक तरीके उपस्थित नही थे, जिनसे विविध विज्ञानोंने हमें परिचित बनाया है, इसलिए वे अनुमान-प्रक्रियापर बड़े मनोयोगसे विचार कर सके। हमारे देशके अनेक विचारक कई दूसरे प्रमाणोंको भी मानते हैं, जैसे अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। बौद्ध तर्कशास्त्री धर्मकीर्तिने बड़ी चतुराईसे शेष प्रमाणोंका अन्तर्भाव अनुमानमें करनेकी कोशिश की है। भारतीय तर्कशास्त्रमें जिस चीजका अभाव सबसे ज्यादा खटकता है वह है— प्राक्कल्पना (हाइपाथेसिस) की धारणाकी अनवगति या अपर्याप्त अवगति। यों व्याप्तिग्रहके साधनोंपर विचार करते हुए वे आगमनात्मक चिन्तनके अनेक तत्त्वोपर प्रकाश डाल सके थे। योरोपीय तर्कशास्त्रमें प्राक्कल्पनाका महत्त्व धीरे-धीरे ही स्वीकृत हुआ है। न्यूटन प्राक्कल्पनाओंको शंकाकी दृष्टिसे देखता था। किन्तु

आजका गणितमूलक—भौतिक विज्ञान प्राक्कल्पनाओंके बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता ।

आलोच्य पुस्तकमें सामान्यतः भारतीय तर्कशास्त्रके और विशेषतः जैन तर्कशास्त्रके अनुमान-सम्बन्धी विचारोंका विशद आकलन हुआ है। संभवतः हिन्दीमें कोई दूसरा ऐसा ग्रन्थ नही है जिसमें एक जगह अनुमानसे सम्बन्धित विचारणाओंका इतना सूक्ष्म और सटीक प्रतिपादन हुआ हो। जो दो चार पुस्तकें मेरी नजरमे आयी हैं उनमें प्रायः न्यायके तर्कसंग्रह जैसे संग्रहग्रन्थोंपर आधारित नैयायिकोंके तर्कसिद्धान्तका छात्रोपकारी संकलन रहता है। इसके विपरीत प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय दर्शनके समग्र तर्क-साहित्यके आलोडन-विलोडनका परिणाम है। लेखकने निष्पक्षभावसे वात्स्यायन, उद्योतकर आदि हिन्दू तार्किकोके और धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट आदि बौद्ध तार्किकोके मतोंका विवेचन उतनी ही सहानुभूतिसे किया है जितना कि जैनाचार्योंके मन्तव्योंका। विद्वान् लेखकने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म समस्यायोंको उठाया और उनका समाधान किया है। विभिन्न अध्यायोंके अन्तर्गत संस्कृतके लेखकों और ग्रन्थोके प्रचुर संकेत समाविष्ट हुए हैं, जिससे भारतीय तर्कशास्त्रमे शोध करनेवाले विद्यार्थी विशेष लाभान्वित होंगे। अपनी इस परिश्रमसे लिखी गयी विद्वत्तापूर्ण कृतिके लिए लेखक दर्शन-प्रेमियो और हिन्दी जगतकी बधाईके पात्र हैं।

२५ अप्रैल, १९६९
हिन्दू विश्वविद्यालय

—देवराज

●

पुरोवाक्

भारतीय चिन्तकोंने सही तर्क करनेके नियमोंको न्यायशास्त्र कहा है। सही ज्ञान या तत्त्वज्ञानके लिए ज्ञानका स्वरूप, ज्ञानके साधन, ज्ञानकी प्रक्रिया, ज्ञानकी कसौटी, ज्ञानका विस्तार प्रभृति ज्ञानसम्बन्धी प्रश्नोंका विधिवत् अध्ययन अपेक्षित है। भारतीय न्यायशास्त्रमें तर्क, अनुमान आदि प्रमाणविषयक प्रश्नोंका सविस्तर अध्ययन किया जाता है। अतः न्यायशास्त्र ज्ञानके सही साधनों द्वारा वस्तुकी सम्यक् परीक्षा प्रस्तुत करता है। पर्याप्त बौद्धिक विश्लेषणके अनन्तर जो चरम सत्य सिद्ध होता है, वही सिद्धान्तरूपमे ग्राह्य है।

तर्कका कार्य ज्ञानकी सत्यता और असत्यताका परीक्षण करना है। मनुष्य तर्कद्वारा ज्ञानका बहुत बड़ा अंश अर्जित करता है। नया अनुभव नये हेतुके मिलनेपर ही स्वीकृत होता है। अतएव यह स्पष्ट है कि तर्ककी सहायतासे मनुष्य अपने ज्ञानका संवर्द्धन एवं सत्यापन करता है। तर्कजन्य ज्ञान ही उसे असत्यसे सत्यकी ओर ले जाता है।

न्यायशास्त्रमें तर्क और अनुमान दो भिन्न ज्ञानबिन्दु हैं। अनुमानमें किसी लिङ्ग या हेतुके ज्ञानके आधारपर किसी दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त किया जाता है; क्योकि उस वस्तु तथा लिङ्गके बीच एक प्रकारका सम्बन्ध है, जो व्याप्ति द्वारा अभिहित किया जाता है। आशय यह है कि अनुमानके पक्षधर्मता और व्याप्ति ये दो आधार है। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए विना अनुमानकी उत्पत्ति सम्भव नही है। पक्षधर्मता अनुमानकी प्रथम आवश्यकता है; किन्तु पक्षधर्मताके रहनेपर भी व्याप्तिज्ञानके विना अनुमान हो नही सकता। अतएव अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। यथा—"पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्" इस उदाहरणमे पर्वत पक्ष है, यतः पर्वतके सम्बन्ध या पक्षमें ही अग्निका अनुमान होता है। 'अग्नि' साध्य है, क्योंकि इसीको पर्वतके सम्बन्धमें सिद्ध करना है। 'धूम' साधन है, क्योंकि इसीके द्वारा पर्वतमें अग्निकी सिद्धि की जाती है। इस प्रकार अनुमानमे पक्ष, साधन और साध्य ये तीन पद रहते हैं।

अन्वय और व्यतिरेकके निमित्तसे होनेवाले व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहा जाता है[1]। किसी भी अनुमानमें हेतुकी गमकता अविनाभावपर निर्भर करती है और

---

१ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः—परीक्षामुख ३।७।
तर्को व्याप्यस्य व्यापकस्य च वाधनिश्चयः कारणमिति—न्यायबोधिनी, पूना, पृष्ठ २१।
तर्कों आपाद्यव्यतिरेकनिश्चयः आपाद्यापादकयोर्व्याप्तिनिश्चयश्च कारणमिति—नीलकण्ठी। पृष्ठ १८।

इस अविनाभावका ज्ञान तर्कके द्वारा होता है[1]। अतएव स्पष्ट है कि अनुमानकी सत्यताका निर्णय तर्क द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार भारतीय न्यायशास्त्रमें तर्क और अनुमानके मध्यमें विभेदक सीमारेखा विद्यमान है। दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि तर्कका क्षेत्र अनुमानसे आगे है। अनुमानके दोषोंका निराकरण कर उसके अध्ययनको व्यवस्थित रूप प्रदान करना तर्कका कार्य है। अतः "तर्कशास्त्र वह विज्ञान है, जो अनुमानके व्यापक नियमो तथा अन्य सहायक मानसिक क्रियाओका अध्ययन इस ध्येयसे करता है कि उनके व्यवहारसे सत्यताकी प्राप्ति हो"। इस परिभाषाके विश्लेषणसे दो तथ्य प्रस्फुटित होते हैं—

१. अनुमानके दोषोंका विश्लेषण तर्क द्वारा होता है तथा उसकी अविसंवादिताकी पुष्टि भी तर्कसे होती है।

२. तर्कद्वारा अनुमानमे सहायक मानसिक क्रियाओका भी अध्ययन किया जाता है।

आशय यह है कि गलत अनुमानसे बचनेका उपाय तर्कका आश्रय ग्रहण करना है। यत· तर्कशास्त्रका सम्बन्ध विशेषत. अनुमानसे है। अनुमानको तर्कशास्त्रसे हटा देनेपर तर्कशास्त्रका अस्तित्व ही खतरेमे पड जायगा। भूत और भविष्यको मानवके सम्पर्कमें लानेका कार्य अनुमान ही करता है। अनुमानके सहारे ही भविष्यकी खोज और भूतकी परीक्षा की जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि अनुमानजन्य ज्ञानका क्षेत्र प्रत्यक्ष ज्ञानके क्षेत्रसे बहुत बडा है। अल्प ज्ञानसे महत् अज्ञानकी जानकारी अनुमान द्वारा होती है। प्रत्यक्षकी प्रमाणतामें सन्देह होनेपर अनुमान ही उक्त सन्देहका निराकरण कर प्रामाण्यकी प्रतिष्ठा करता है। प्रत्यक्ष जहाँ अनुमानके मूलमें रहता है, वहाँ प्रत्यक्षकी प्रामाणिकता कभी-कभी अनुमानपर अवलम्बित देखी जाती है। जहाँ युक्ति द्वारा प्रत्यक्षके किसी विषयका समर्थन किया जाता है वहाँ आपाततः अनुमान आ जाता है।

अनुमानके महत्त्वका निरूपण करते हुए श्री गङ्गेश उपाध्यायने लिखा है—"प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका."[2] अर्थात् विचारशील तार्किक प्रत्यक्षद्वारा अवगत भी अर्थको अनुमानसे जाननेकी इच्छा करते हैं। अतएव असम्बद्ध और अवर्त्तमान—अतीत, अनागत, दूरवर्ती और सूक्ष्म-व्यवहित अर्थोंका ज्ञान अनुमानसे होता है। इस प्रकार भारतीय चिन्तकोंने वस्तुज्ञान और व्यवस्थाके लिए अनुमानकी आवश्यकता एवं उपयोगितापर प्रकाश डाला है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रमे वर्णित 'काज एण्ड इफैक्ट्स' (Cause and effects) को अन्वेषणविधियाँ भी भारतीय अनुमानमें समाविष्ट हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्व अन्य प्रमाणोंसे कम नहीं है।

---

१ तर्कात्तन्निर्णयः—परीक्षामुखसूत्र ३।१५।   २ तत्त्वचिन्तामणि पृष्ठ ४२४।

डॉ० प्रो० दरबारीलाल कोठियाने जैन अनुमानके अध्ययनके सन्दर्भमें भारतीय तर्कशास्त्रमे अनुमानका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर भारतीय न्यायशास्त्रको एक मौलिक कृति प्रदान की है। उनका यह अध्ययन तथ्यों-के प्रस्तुतीकरणकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर तथ्योंकी पुष्टिके लिए ग्रन्थान्तरासे उपस्थित किये गये प्रमाणोकी दृष्टिसे भी समृद्ध है। विषय-सामग्रीकी मौलिकता एवं विषय-प्रतिपादनकी स्वच्छ और विशद शैली नवीन शोध-कर्त्ताओंके लिए अनुकरणीय है।

इसकी सामग्री शोध-खोजकी दिशामे एक नया चरणचिन्ह है। व्याप्ति और हेतुस्वरूपके सम्बन्धमे इतनी विचारपूर्ण सामग्री अन्य किसी ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है। व्याप्तिग्रहके साधनोंकी तटस्थ वृत्तिसे आलोचना करते हुए जैन नैयायिकोंके व्याप्तिग्राहक तर्कका विशेषरूपसे निरूपण किया है। डॉ० कोठियाने तर्कके क्षेत्रकी व्यापकता बतलाते हुए प्रभाचन्द्रके आधार पर लिखा है—"प्रत्यक्ष जहाँ सन्निहितको, अनुमान नियत देश-कालमें विद्यमान अनुमेयको, उपमान सादृश्यको और आगम शब्दसंकेतादिपर निर्भरितको जानते हैं, वहाँ तर्क सन्निहित-असन्निहित, नियत-अनियत देश-कालमें विद्यमान साध्य-साधनगत अविनाभावको विषय करता है।"[1] इस प्रकार अनेक प्रमाण और युक्तियोंके आधार पर व्याप्ति-सम्बन्धग्राही तर्ककी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

उल्लेखनीय है कि डॉ० कोठियाने इसमे जैन दृष्टिसे अनुमानके लिए साध्य, साधन और उनके व्याप्तिसम्बन्धको आवश्यक तथा पक्ष और पक्षधर्मताको अनावश्यक बतलाकर भारतीय चिन्तकोके समक्ष एक नये विचारका और उद्घाटन किया है। साथ ही अनुमानके समस्त घटकोका विस्तारपूर्वक समालोचनात्मक अध्ययन कर केवल जैन परम्पराके अनुमानका वैशिष्ट्य ही प्रदर्शित नही किया है, अपितु भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानकी सर्वाङ्गीण अर्हता स्थापित की है।

निस्सन्देह अनुमानपर इतना अच्छा शोधपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी भाषामे सर्वप्रथम लिखा गया है। इसके अध्ययनसे न्यायशास्त्रमे रुचि रखनेवाले प्रत्येक जिज्ञासुका ज्ञान-वर्द्धन होगा। डॉ० कोठिया अपने विषयके मर्मज्ञ एवं प्रतिभासम्पन्न मनीषी हैं, उन्होंने विषयके प्रामाणिक विश्लेषणात्मक अध्ययनके साथ प्रत्येक मान्यताके सम्बन्धमे अपनी प्रतिक्रिया भी व्यक्त की है। उनकी प्रतिक्रिया एक ऐसे विद्वान्की प्रतिक्रिया है, जिसने मूलग्रन्थ, भाष्य और टीकाओंके गम्भीर अध्ययनके साथ सूक्ष्मतम समस्याओंका भी अनुचिन्तन किया है।

विषय-प्रतिपादनकी शैली चित्ताकर्षक और सुबोध है तथा विषयके साथ भाषापर भी अच्छा अधिकार है। तर्कशास्त्रकी गहन और दुरूह सामग्रीको सरल

एवं स्पष्टरूपमें प्रस्तुत कर देना इस ग्रन्थका अपना मूल्य है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थने न्यायशास्त्रकी श्रीवृद्धि की है। मैं डॉ० कोठियाको हृदयसे बधाई देता हूँ और आशा व्यक्त करता हूँ कि उनकी लेखनीसे इस प्रकार-की समालोचनात्मक महत्त्वपूर्ण तर्कशास्त्र सम्बन्धी अन्य कृतियाँ भी निबद्ध होंगी। हिन्दी भाषा और साहित्यकी यह अभिवृद्धि तकनीकी वाङ्मयके निर्माणकी दृष्टिसे विशेष श्लाघ्य है।

सरस्वती श्रुतमहतो न हीयताम्

नेमिचन्द्र शास्त्री,
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
ज्योतिषाचार्य न्याय-काव्यतीर्थ
अध्यक्ष—संस्कृत-प्राकृत-विभाग

ह० दा० जैन कॉलेज, आरा
मगध विश्वविद्यालय
वैशाखी पूर्णिमा, वि० सं० २०२६

प्रकाशकीय

प्राकृतविद्यामहार्णव, प्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित एवं प्रवर्तित वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्टसे मार्च १९६३ में उनके निबन्धोंका प्रथम संग्रह—युगवीर-निबन्धावली प्रथम भाग, दिसम्बर १९६३ में उन्हींके द्वारा सम्पादित-अनूदित तत्त्वानुशासन, सितम्बर १९६४ में पण्डित हीरालालजी शास्त्री द्वारा अनुवादित तथा मेरे द्वारा सम्पादित एवं लिखी प्रस्तावना सहित समाधिमरणोत्साहदीपक, जून १९६७ में मुख्तारसाहबद्वारा अनूदित-सम्पादित और मेरी प्रस्तावना युक्त देवागम (आप्तमीमांसा) और दिसम्बर १९६७ मे उनके ही निबन्धोंका द्वितीय संग्रह—युगवीर निबन्धावली द्वितीय भाग ये पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

आज उसी ट्रस्टसे 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' नामकी कृति, जो मेरा शोध-प्रबन्ध (thesis) है, 'युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमालाके' अन्तर्गत उसके प्रथम ग्रन्थाङ्कके रूपमें प्रकट हो रही है। खेद है कि इसे ट्रस्टसे प्रकाशित करनेकी जिनकी प्रेरणा, योजना और स्वीकृति रही उन ट्रस्ट-संस्थापक श्रद्धेय आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीरका' गत २२ दिसम्बर १९६८ को निधन हो गया। वे होते तो उन्हें इसके प्रकाशनसे बड़ी प्रसन्नता होती।

प्रस्तुत सन्दर्भमे इतना ही प्रकट कर देना पर्याप्त होगा कि इसके प्रकाशमें आनेपर जैन अनुमानके विषयमें ही नही, अन्य भारतीय दर्शनोके अनुमान-सम्बन्ध मे भी अध्येताओंको कितनी ही महत्त्वपूर्ण एवं नयी जानकारी प्राप्त होगी। अत एव विश्वास है जिज्ञासु विद्वानों और अनुसन्धित्सु छात्रों द्वारा यह अवश्य समादृत होगी तथा राष्ट्रभाषा हिन्दीके दार्शनिक साहित्य-भण्डारकी अभिवृद्धिमें योगदान करेगी।

१९ अप्रेल १९६९
अक्षयतृतीया, वि० सं० २०२६
वाराणसी

दरबारीलाल जैन कोठिया
मंत्री, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट

प्रस्तुत कृति

जैन वाङ्मय इतना विशाल और अगाध है कि उसके अनेक प्रमेय कितने ही विद्वानोंके लिए अज्ञात एवं अपरिचित हैं और जिनका सूक्ष्म तथा गहरा अध्ययन अपेक्षित है। जीवसिद्धान्त, कर्मवाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद, निक्षेपवाद, सप्तभङ्गी, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास प्रभृति ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनकी चर्चा और विवेचन जैन श्रुतमें ही उपलब्ध है। परन्तु यह भारतीय ज्ञानराशि-की बहुमूल्य एवं असामान्य ज्ञान-सम्पदा होने पर भी अध्येताओंका उसके अध्ययन, मनन और शोधकी ओर बहुत ही कम ध्यान गया है।

ऐसा ही एक विषय 'जैन तर्कशास्त्रमे अनुमान-विचार' है, जिसपर शोधा-त्मक विमर्श प्रायः नही हुआ है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, जैन अनुमानपर अभी-तक किसीने शोध-प्रबन्ध उपस्थित नही किया। अतएव हमने जनवरी १९६५ में डा० नन्दकिशोर देवराजके परामर्शसे उन्हीके निर्देशनमे उसपर शोध-कार्य करनेका निश्चय किया और काशी हिन्दूविश्वविद्यालयसे उसकी विधिवत् अनुमति प्राप्त की। फलतः तीन वर्ष और तीन माह बाद ६ मई १९६८ को उक्त विषयपर अपना शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालयको प्रस्तुत किया, जिसे विश्वविद्यालयने स्वीकृत कर गत ३० मार्च १९६९ को अपने दीक्षान्त-समारोहमें 'डॉक्टर आफ फिलॉसाफी' की उपाधि प्रदान की। प्रसन्नता है कि वही प्रबन्ध प्रस्तुत कृतिके रूपमें मनीषियोके समक्ष है।

स्मरणीय है कि इस प्रबन्धमें जैन तर्कशास्त्रमें उपलब्ध अनुमान-विचारका ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय भारतीय तर्कशास्त्रकी सभी शाखाओंमें विहित अनुमान-विचारका भी सर्वेक्षण किया गया है, क्योंकि उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और परस्परमें वे कई विषयोंमें एक-दूसरेके ऋणी हैं। इससे तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंको एक जगह भारतीय अनुमानकी प्रायः पूरी सामग्री मिल सकेगी।

इसमें पाँच अध्याय और बारह परिच्छेद हैं। प्रथम अध्यायमें, जो प्रास्ताविक-रूप है, चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें भारतीय वाङ्मयके आधारसे अनु-मानके प्राचीन मूल रूप और न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, मीमांसा, वेदान्त एवं सांख्य दर्शनगत अनुमान-विकासको दिखाया है। द्वितीयमें जैन परम्पराका अनुमान-विकास प्रदर्शित है। तृतीयमें अनुमानका स्वरूप, अनुमानाङ्ग (पक्षधर्मता और व्याप्ति तथा जैन दृष्टिसे केवल व्याप्ति), अनुमानभेद, अनुमानावयव और अनुमानदोष इन सभी अनुमानीय उपादानोंका संक्षिप्त चिन्तन अङ्कित है। चतुर्थ परिच्छेदमें भार-तीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्रपर दिङ्मात्र तुलनात्मक अध्ययन निबद्ध है।

द्वितीय अध्यायमें दो परिच्छेद हैं। प्रथममें जैन प्रमाणवादका विवेचन करते हुए उसमें अनुमानका क्या स्थान है, इसे बतलाकर प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदोंकी मीमांसा, परोक्षप्रमाणमें अनुमानका अन्तर्भाव, स्मृति आदि परोक्ष प्रमाणोंका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें जैनागमके आलोकमें अनुमानका प्राचीन रूप, अनुमानका महत्त्व एवं अनिवार्यता, जैन दृष्टिसे अनुमान-परिभाषा एवं क्षेत्र-विस्तार इन सबपर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्यायमें भी दो परिच्छेद हैं। पहलेमें अनुमानके विविध भेदोंपर भारतीय दर्शनोंमें किया गया विचार ग्रथित है तथा अकलङ्क, विद्यानन्द, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि जैन तार्किकोंकी तत्सम्बन्धी मीमांसा एवं विमर्श निबद्ध है। प्रत्यक्षको अनुमानकी तरह परार्थ माननेवाले सिद्धसेन और देवसूरिका मत तथा उसकी समीक्षा प्रदर्शित है। स्वार्थ और परार्थ अनुमानोंकी मूलकल्पना, उद्गम-स्थान एवं पृष्ठभूमि, उनके अङ्ग एवं अवयवोंका चिन्तन भी इसमें अङ्कित है। द्वितीय परिच्छेदमें व्याप्तिका स्वरूप, उपाधिमीमांसा, उपाधि-विमर्श-प्रयोजन, व्याप्तिस्वरूपके सम्बन्धमें जैन तार्किकोंका नया दृष्टिकोण, व्याप्तिग्रहण-समीक्षा, व्याप्तिग्राहकरूपमें एकमात्र तर्कको स्वीकार करनेवाले जैन विचारकोंका अभिनव चिन्तन तथा व्याप्तिभेद (समव्याप्ति-विषमव्याप्ति, अन्वयव्याप्ति-व्यतिरेकव्याप्ति, बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति, अन्तर्व्याप्ति, साधर्म्य-वैधर्म्यव्याप्ति, तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्ति) इन सबका विमर्श है।

चतुर्थ अध्यायमें दो परिच्छेद हैं। प्रथममें सामान्य तथा व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी अपेक्षासे अवयवोंका विचार, प्रतिज्ञा, हेतु आदि प्रत्येक अवयवका विशिष्ट स्वरूप-चिन्तन और भद्रबाहु प्रतिपादित पंचशुद्धियों सहित दशावयवोंके सम्बन्धमें दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किकोंका विचारभेद विवेचित है। द्वितीयमें हेतुके विभिन्न दार्शनिकलक्षणों (द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण, पंचलक्षण, षड्लक्षण, और सप्तलक्षण) की समीक्षा तथा एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) की जैन मान्यताका विमर्श है। परिच्छेदके अन्तमें हेतुके विभिन्न प्रकारों—भेदोंका चिन्तन है।

पञ्चम अध्यायके अन्तर्गत दो परिच्छेद हैं। आद्य परिच्छेदमें समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, माणिक्यनन्दि, देवसूरि और हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित पक्षाभासादि अनुमानाभासोंका विवेचन है। धर्मभूषण, चारुकीर्ति और यशोविजयने अनुमानदोषोंपर जो चिन्तन किया है वह भी इसमें संक्षेपमें निबद्ध है। माणिक्यनन्दि द्वारा अभिहित चतुर्विध बालप्रयोगाभास भी इसीमें विवेचित है जो सर्वथा नया है और अन्य भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुपलब्ध है। दूसरे परिच्छेदमें वैशेषिक, न्याय और बौद्ध परम्पराओंमें चर्चित एवं विकसित अनुमानदोषोंका विचार अङ्कित है, जो तुलनात्मक अध्ययनकी दृष्टिसे उपादेय एवं ज्ञातव्य है।

उपसंहारमें जैन अनुमानकी कतिपय उपलब्धियोंका निर्देश है जो जैन तार्किकोंके स्वतन्त्र चिन्तनका फल कही जा सकती हैं।

ऊपर कहा गया है कि यह शोध-प्रबन्ध माननीय डा. नन्दकिशोर देवराज एम. ए., डी. फिल., डी. लिट्., अध्यक्ष दर्शन-विभाग तथा निर्देशक उच्चानुशीलन दर्शन-संस्थान और डीन आर्टस् फैकल्टी काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके निर्देशनमें तैयार किया। डा. देवराजसे समय-समयपर बहुमूल्य निर्देशन और मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। सम्प्रति उन्होने प्राक्कथन भी लिख देनेकी कृपा की है। इसके लिए मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

सुहृद्वर डा. नेमिचन्द्र शास्त्री एम. ए (संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी), पी-एच. डी., डी. लिट्., ज्योतिषाचार्य, अध्यक्ष प्राकृत-संस्कृत विभाग जैन कालेज आराको नहीं भूल सकता, जिन्होने निरन्तर प्रेरणा, परामर्श और प्रवर्त्तन तो किया ही है अपना पुरोवाक् भी लिखा है। वे मुझे अग्रज मानते हैं, पर विशिष्ट और बहुमुखी मेधाकी अपेक्षा मैं उन्हें ज्ञानाग्रजके रूपमें देखता व मानता हूँ। अतएव मैं उन्हे धन्यवाद दूँ तो उचित ही है।

जिन साहित्य-तपस्वी श्रद्धेय आ० जुगलकिशोर मुख्तारने सत्तर वर्ष तक निरन्तर साहित्य-साधना और समाज-सेवा की तथा साधना और सेवाका कभी प्रतिदान या पुरस्कार नहीं चाहा, आज उनका अभाव अखर रहा है। आशा है इस प्रबन्ध-कृतिसे, जिसे मैंने उनके ९२ वें जन्मदिनपर उन्हें एक मुद्रित फर्मा द्वारा समर्पण किया था और जिसका प्रकाशन उनकी सदिच्छानुसार उन्हीके ट्रस्टसे हो रहा है, उनकी उस सदिच्छाकी अवश्य पूर्णता होगी। मेरा उन्हे परोक्ष नमन है।

स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणीके अकलंक सरस्वतीभवनसे शतश: ग्रन्थोंका उपयोग किया और जिन्हे अधिक काल तक अपने पास रखा। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके गायकवाड़ ग्रन्थागार, जैन सिद्धान्त भवन आरा और पार्श्वनाथ जैन विद्याश्रम वाराणसीसे भी कुछ ग्रन्थ प्राप्त हुए। हमारे कालेजके सहयोगी प्राध्यापक मित्रवर डा गजानन मुशलगावकरने मीमासादर्शनके और श्री मूलशंकर व्यासने वेदान्तके दुर्लभ ग्रन्थ देकर सहायता की। अनेक ग्रन्थकारों और ग्रन्थ-सम्पादकोंके ग्रन्थोंसे उद्धरण लिए। प्रिय धर्मचन्द्र जैन एम. ए. ने विषय-सूची और परिशिष्ट बनाये। इन सबका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ। साथ ही अपनी गृहिणी सौ० चमेलीबाई 'हिन्दीरत्न' को भी उसकी सतत प्रेरणा, सहायता, परिचर्या और अनुरूप सुविधा प्रदानके लिए धन्यवाद है।

अन्तमें महावीर प्रेसके संचालक श्री बाबूलालजी फागुल्लको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने ग्रन्थका सुन्दर मुद्रण किया और मुद्रण-सम्बन्धी परामर्श दिये।

—दरबारीलाल कोठिया

विषय-सूची

प्रथम-अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ-अध्याय

पंचम अध्याय

उपसंहार

●

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार : ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन

अध्याय : १ :

प्रथम परिच्छेद

प्रास्ताविक

भारतीय वाङ्मय और अनुमान

भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक (लोकायत) दर्शनके अतिरिक्त शेष सभी भारतीय दर्शनोंने अनुमानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है और उसे परोक्ष पदार्थोंकी व्यवस्था एवं तत्त्वज्ञानका अन्यतम साधन माना है।

विचारणीय है कि भारतीय वाङ्मयके तर्कग्रन्थोंमें[1] सर्वाधिक विवेचित एवं प्रतिपादित इस महत्त्वपूर्ण और अधिक उपयोगी प्रमाणका संव्यवहार कबसे आरम्भ हुआ ? दूसरे, ज्ञात सुदूरकालमें उसे अनुमान ही कहा जाता था या किसी अन्य नामसे वह व्यवहृत होता था ? जहाँ तक हमारा अध्ययन है भारतीय वाङ्मयके निबद्धरूपमें उपलब्ध ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थोंमें अनुमान या उसका पर्याय शब्द उपलब्ध नहीं होता। हाँ, उपनिषद्-साहित्यमें एक शब्द ऐसा अवश्य आता है जिसे अनुमानका पूर्व संस्करण कहा जा सकता है और वह शब्द है 'वाकोवाक्यम्'[2]। छान्दोग्योपनिषद्के इस शब्दके अतिरिक्त ब्रह्मबिन्दूपनिषद्-

---

१. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३; भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि···वाकोवाक्यमेकायनं···अध्येमि।

—छान्दो० ७।१।२; निर्णयसागर प्रेस बम्बई; सन् १९३२।

में[1] अनुमानके अङ्ग हेतु और दृष्टान्त तथा मैत्रायणी-उपनिषदमें[2] अनुमानसूचक 'अनुमीयते' क्रियाशब्द मिलते हैं। इसी तरह सुबालोपनिषद्में[3] 'न्याय' शब्दका निर्देश है। इन उल्लेखोंके अध्ययनसे हम यह तथ्य निकाल सकते हैं कि उपनिषद् कालमें अध्यात्म-विवेचनके लिये क्रमशः अनुमानका स्वरूप उपस्थित होने लगा था।

शाङ्कर-भाष्यमें[4] 'वाकोवाक्यम्'का अर्थ 'तर्कशास्त्र' दिया है। डा० भगवानदासने[5] भाष्यके इस अर्थको अपनाते हुए उसका तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्तिशास्त्र व्याख्यान किया है। इन (अर्थ और व्याख्यान)के आधारपर अनुभवगम्य अध्यात्मज्ञानको अभिव्यक्त करनेके लिए छान्दोग्योपनिषद्में व्यवहृत 'वाकोवाक्यम्'को तर्कशास्त्रका बोधक मान लेनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रियाका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि आदिम मानवको अपने प्रत्यक्ष (अनुभव) ज्ञानके अविसंवादित्वकी सिद्धि अथवा उसकी सम्पुष्टिके लिए किसी तर्क, हेतु या युक्तिकी आवश्यकता पड़ी होगी।

प्राचीन बौद्ध पाली-ग्रन्थ ब्रह्मजालसुत्तमें[6] तक्की और तक्क शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो क्रमशः तर्कशास्त्री तथा तर्कविद्याके अर्थमें आये हैं। यद्यपि यहाँ तर्कका अध्ययन आत्मज्ञानके लिए अनुपयोगी बताया गया है, किन्तु तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग यहाँ क्रमशः कुतर्क (वितण्डावाद या व्यर्थके विवाद) और कुतर्की (वितण्डावादी) के अर्थमें हुआ ज्ञात होता है। अथवा ब्रह्मजालसुत्तका उक्त कथन उस युगका प्रदर्शक है, जब तर्कका दुरुपयोग होने लगा था। और इसीसे सम्भवतः ब्रह्मजालसुत्तकारको आत्मज्ञानके लिए तर्कविद्याके अध्ययनका निषेध करना पड़ा। जो हो, इतना तो उससे स्पष्ट है कि उसमें तर्क और तर्की शब्द प्रयुक्त है और

---

१. 'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्'।
—ब्रह्मबिन्दु० श्लोक ९; निर्णयसागर प्रेस बम्बई; १९३२।

२. '⋯ बहिरात्मा गत्यन्तरात्मनानुमीयते⋯'।
—मैत्रायणी० ४।१; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९३२।

३. 'शिक्षा कल्पो...न्याया मीमांसा ..।
—सुबालोपनिष० खण्ड २; प्रकाशन स्थान व समय नहीं।

४. वाकोवाक्य तर्कशास्त्रम्।
—आ० शङ्कर, छान्दोग्यो० भाष्य ७।१।२, गीताप्रेस गोरखपुर।

५. डा. भगवानदास, दर्शनका प्रयोजन पृ. १।

६. 'इध, भिक्खवे, एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति वीमंसी। सो तक्कपरियाहतं वीमंसानुचरितं ⋯।
—राव डेविड (सम्पादक), ब्रह्मजालसु० १।३२।

तर्कविद्याका अध्ययन आत्मज्ञान के लिए न सही, वस्तु-व्यवस्थाके लिए आवश्यक था।

न्यायसूत्र[1] और उसकी व्याख्याओंमें[2] तर्क और अनुमानमें यद्यपि भेद किया है—तर्कको अनुमान नहीं, अनुमानका अनुग्राहक कहा है। पर यह भेद बहुत उत्तरकालीन है। किसी समय हेतु, तर्क, न्याय और अन्वीक्षा ये सभी अनुमानार्थक माने जाते थे। उद्योतकरके[3] उल्लेखसे यह स्पष्ट जान पड़ता है। न्यायकोशकारने[4] तर्कशब्दके अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। उनमें आन्वीक्षिकी विद्या और अनुमान अर्थ भी दिया है।

वाल्मीकि रामायणमें[5] आन्वीक्षिकी शब्दका प्रयोग है जो हेतुविद्या या तर्कशास्त्रके अर्थमें हुआ है। वहाँ उन लोगोंको 'अनर्थकुशल', 'बाल', 'पण्डितमानी' और 'दुर्बुध' कहा है जो प्रमुख धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी व्यर्थ आन्वीक्षिकी विद्याका सहारा लेकर कथन करते या उसकी पुष्टि करते हैं।

महाभारतमें[6] आन्वीक्षिकीके अतिरिक्त हेतु, हेतुक, तर्कविद्या जैसे शब्दोंका भी प्रयोग पाया जाता है। तर्कविद्याको तो आन्वीक्षिकीका पर्याय ही बतलाया है। एक स्थानपर[7] याज्ञवल्क्यने विश्वावसुके प्रश्नोंका उत्तर आन्वीक्षिकीके माध्यमसे दिया और उसे परा (उच्च विद्या कहा है। दूसरे स्थलपर[8] याज्ञवल्क्य राजर्षि जनकको आन्वीक्षिकीका उपदेश देते हुए उसे चतुर्थी विद्या तथा मोक्षके लिए त्रयी, वार्ता और दण्डनीति तीनों विद्याओंसे अधिक उपयोगी बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य जगह[9] शास्त्रश्रवणके अनधिकारियोंके लिए 'हेतुदुष्ट' शब्द आया है, जो असत्य हेतु प्रयोग करनेवालोंके ग्रहणका बोधक प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि जो व्यर्थ तर्कविद्या (आन्वीक्षिकी) पर अनुरक्त हैं उन्हें महाभारतकारने[10]

---

१. अक्षपाद गौतम, न्यायसू० १।१।३,१।१।४० ।

२. वात्स्यायन, न्यायभाष्य १।१।३, १।१।४०; उद्योतकर, न्यायवा. १।१।३, १।१।४० ।

३. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहुः। हेतुस्तर्को न्यायाऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति। —उद्योतकर, न्यायवा, १।१।४०; चौखम्बा विद्याभवन, सन् १९१६ ।

४. भीमाचार्य (सम्पादक), न्यायकोश, 'तर्क' शब्द, पृ० ३२१, प्राच्यविद्यासंशोधन मन्दिर, बम्बई, सन् १९२८ ।

५. वाल्मीकि, रामायण अयो० का. १००।३८,३९, गीताप्रेस गोरखपुर, वि. सं. २०१७।

६. व्यास, महाभारत शान्तिपर्व २१०।२२; १८०।४७; गीताप्रेस गोरखपुर, वि. स. २०१७।

७. वही, शा० प० ३१८।३४ ।

८. वही, शा० प० ३१८।३५ ।

९. वही, अनुशा० प० १३४।१७।

१०. वही, शा० प० १८०।४७ ।

वाल्मीकि रामायणकी तरह पण्डितक, हेतुक और वेदनिन्दक कहकर उनकी भर्त्सना भी की है। तात्पर्य यह कि तर्कविद्याके सदुपयोग और दुरुपयोगकी ओर उन्होंने संकेत किया है। एक अन्य प्रकरणमें[1] नारदको पंचावयवयुक्त वाक्यके गुणदोषोंका वेत्ता और 'अनुमानविभागवित्' बतलाया है। इन समस्त उल्लेखोंसे अवगत होता है कि महाभारतमें अनुमानके उपादानों और उसके व्यवहारकी चर्चा है।

आन्वीक्षिकी शब्द अनुमानका बोधक है। इसका यौगिक अर्थ है अनु—पश्चात् + ईक्षा—देखना अर्थात् फिर जाँच करना। वात्स्यायनके[2] अनुसार प्रत्यक्ष और आगमसे देखे-जाने पदार्थको विशेष रूपसे जाननेका नाम 'अन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या—न्यायशास्त्र है। तात्पर्य यह कि जिस शास्त्रमें वस्तु-सिद्धिके लिए अनुमानका विशेष व्यवहार होता है उसे वात्स्यायनने अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविद्या और आन्वीक्षिकी बतलाया है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रकी संज्ञाको धारण करती हुई अनुमानके रूपको प्राप्त हुई है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने[3] आन्वीक्षिकीमें आत्मा और हेतु दोनों विद्याओंका समावेश किया है। उनका मत है कि सांख्य, योग और लोकायत आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और असिद्धिमें प्राचीन कालसे ही हेतुवाद या आन्वीक्षिकीका व्यवहार करते आ रहे है।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें[4] आन्वीक्षिकीके समर्थनमें कहा गया है कि विभिन्न युक्तियों द्वारा विषयोंका बलाबल इसी विद्याके आश्रयसे ज्ञात होता है। यह

१. व्यास, महाभा० सभा पर्व ५।५,८।

२. प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१, पृ० ७।

3. Ānvīksikī deald in fact with two subjects, viz Ātmā, Soul, and Hetu, theory of reasons Vātsyāyana observes that Ānvīksikī without the theory of reasons would have like the upanisad been a mere Ātma-vidyā or Adhyātma-vidyā It is the theory of reasons which distinguished it from the same the Sāmkhya, yoga & Lokāyata, in so far as they treated of reasons affirming of denying the existence of Soul, were included by Kovtilya in the Ānvīksikī.

—A History of Indian Logice, Calcutta University 1921, page 5.

४. कौटिल्य, अर्थशास्त्र विद्यासमुद्देश १।१, पृ० १०, ११।

लोकका उपकार करती है, दुःख-सुखमें बुद्धिको स्थैर्य प्रदान करती है, प्रज्ञा, वचन और क्रियामें कुशलता लाती है। जिस प्रकार दीपक समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी सब विद्याओं, समस्त कार्यों और समस्त धर्मोंकी प्रकाशिका है। कौटिल्यके इस विवेचन और उपर्युक्त वर्णनसे आन्वीक्षिकी विद्याको अनुमानका पूर्वरूप कहा जा सकता है[1]।

मनुस्मृतिमें[2] जहाँ तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग मिलता है वहाँ हैतुक, आन्वीक्षिकी और हेतुशास्त्र शब्द भी उपलब्ध होते हैं। एक स्थानपर[3] तो धर्म-तत्त्वके जिज्ञासुके लिए प्रत्यक्ष और विविध आगमरूप शास्त्रके अतिरिक्त अनुमानको भी जाननेका स्पष्ट निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनुस्मृतिकारके समयमें हेतुशास्त्र और आन्वीक्षिकी शब्दोंके साथ अनुमान शब्द भी व्यवहृत होने लगा था और उसे असिद्ध या विवादापन्न वस्तुओंकी सिद्धिके लिए उपयोगी माना जाता था।

षट्खण्डागममें[4] 'हेतुवाद', स्थानाङ्गसूत्रमें[5] 'हेतु', भगवतीसूत्रमें[6] 'अनुमान' और अनुयोगसूत्रमें[7] अनुमानके भेद-प्रभेदोंकी चर्चा समाहित है। अतः जैनागमोंमें भी अनुमानका पूर्वरूप और अनुमान प्रतिपादित हैं।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके अनुशीलनसे अवगत होता है कि भारतीय तर्कशास्त्र आरम्भमें 'वाकोवाक्यम्', उसके पश्चात् आन्वीक्षिकी, हेतुशास्त्र, तर्क-विद्या और न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रके रूपोंमें व्यवहृत हुआ। उत्तरकालमें प्रमाणमीमांसाका विकास होनेपर हेतुविद्यापर अधिक बल दिया गया। फलतः आन्वीक्षिकीमें अर्थसंकोच होकर वह हेतुपूर्वक होनेवाले अनुमानकी बोधक हो गयी। अतः 'वाकोवाक्यम्' आन्वीक्षिकीका और आन्वीक्षिकी अनुमानका प्राचीन मूल रूप ज्ञात होता है। ●

---

१. विशेषके लिए देखिए, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक पृ० ४० ।

२. मनुस्मृति १२।१०६, ²२।१११, ७।४३, २।११; चौखम्बा सं० सी० वाराणसी।

३. प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥
—वही, १२।१०५ ।

४. भूतबली-पुष्पदन्त, षट्ख० ५।५।५१, सोलापुर संस्करण, सन् १९६५ ई० ।

५. मुनि कन्हैयालाल; स्था० सू० पृ० ३०९, ३१०; ब्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।

६. मुनि कन्हैयालाल; भ० सू० ५।३।१९१-९२; धनपतसिंह कलकत्ता।

७. मुनि कन्हैयालाल, अनु० सू० मूलसुत्ताणि, पृ० ५३९; ब्यावर संस्करण, वि० सं० २०१० ।

अनुमानका विकास-क्रम

अनुमानका विकास निबद्धरूपमें अक्षपादके न्यायसूत्रसे आरम्भ होता है। न्यायसूत्रके व्याख्याकारों—वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, श्रीकण्ठ, गंगेश, वर्द्धमानउपाध्याय, विश्वनाथ प्रभृति—ने अनुमानके स्वरूप, आधार, भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्तिग्रहण, अवयव आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विकासमें प्रशस्तपाद, माठर, कुमारिल जैसे वैदिक दार्शनिकोंके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्ध नैयायिकों तथा समन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रमुख जैन तार्किकोंने भी योगदान किया है। निःसन्देह अनुमानका क्रमिक विकास तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे जितना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है उससे कहीं अधिक भारतीय धर्म और दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे भी। यतः भारतीय अनुमान केवल कार्यकारणरूप बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है, बल्कि निःश्रेयस-उपलब्धिके साधनोंमें परिगणित है[1]। यही कारण है कि भारतीय अनुमान-परम्पराका जितना विचार तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है उतना या उससे कुछ कम धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और पुराणग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। पर हमारा उद्देश्य स्वतन्त्र दृष्टिसे भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानपर जो चिन्तन उपलब्ध होता है उसीके विकासपर यहाँ समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत करना है।

(क) न्याय-परम्परामें अनुमान-विकास

गौतमने अनुमानकी परिभाषा केवल "तत्पूर्वकम्"[2] पद द्वारा ही उपस्थित की है। इस परिभाषामें "तत्" शब्द केवल स्पष्ट है, जो पूर्वलक्षित प्रत्यक्षके लिए प्रयुक्त हुआ है और वह बतलाता है कि प्रत्यक्ष-पूर्वक अनुमान होता है, किन्तु वह अनुमान है क्या ? यह जिज्ञासा अतृप्त ही रह जाती है। सूत्रके अग्रांशमें अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथमके दो भेदोंमें आगत 'वत्' शब्द भी विचारणीय है। शब्दार्थकी दृष्टिसे 'पूर्वके समान' और 'शेषके समान' यही अर्थ उससे उपलब्ध होता है तथा 'सामान्यतोदृष्ट'से 'सामान्यतः दर्शन' अर्थ ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त

---

१. प्रदीपः सर्वविद्याना···।···इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं···।
—वात्स्यायन न्यायभा० १।१।१, पृष्ठ ११।

२. गौतम अक्षपाद न्यायसू० १।१।५,।

उनके स्वरूपका कोई प्रदर्शन नहीं होता ।[1]

सोलह पदार्थोंमें एक अवयव पदार्थ परिगणित है। उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच भेदोंका परिभाषासहित निर्देश किया है ।[2] अनुमान इन पाँचसे सम्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है। उनके बिना अनुमानका आत्मलाभ नहीं होता । अतः अनुमानके लिए उनकी आवश्यकता असन्दिग्ध है। 'हेतु' शब्दका प्रयोग अनुमानके लक्षणमें, जो मात्र कारणसामग्रीको ही प्रदर्शित करता है, हमें नहीं मिलता, किन्तु उक्त पंचावयवोंके मध्य द्वितीय अवयवके रूपमें 'हेतु'का और हेत्वाभासके विवेचन-सन्दर्भमें 'हेत्वाभासों'का स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है ।[3]

अनुमान-परीक्षाके प्रकरणमें रोध, उपघात और सादृश्यसे अनुमानके मिथ्या होनेकी आशंका व्यक्त की है ।[4] इस परीक्षासे विदित है कि गौतमके समयमें अनुमानकी परम्परा पर्याप्त विकसित रूपमें विद्यमान थी—'वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणम्, प्रत्यक्षानुपपत्तेः'[5] सूत्रमें 'अनुपपत्ति' शब्दका प्रयोग हेतुके रूपमें किया है। वास्तव में 'अनुपपत्ति' हेतु पंचम्यन्तकी अपेक्षा अधिक गमक है। इसीसे अनुमानके स्वरूपको भी निर्धारित किया जा सकता है । एक बात और स्मरणीय है कि 'व्याहतत्वात् अहेतुः'[6] सूत्रमें 'अहेतु' शब्दका प्रयोग सामान्यार्थक मान लिया जाए तो गौतमकी अनुमान-सरणिमें हेतु, अहेतु और हेत्वाभास शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं । अतएव निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम अनुमानके मूलभूत प्रतिज्ञा, साध्य और हेतु इन तीनों ही अंगोंके स्वरूप और उनके प्रयोगसे सुपरिचित थे । वास्तवमें अनुमानकी प्रमुख आधार-शिला गम्य-गमक (साध्य-साधन) भाव योजना ही है। इस योजनाका प्रयोगात्मक रूप साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्तोंमें पाया जाता है।[7] पंचावयववाक्यकी साधर्म्य और वैधर्म्यरूप प्रणालीके मूललेखक गौतम अक्षपाद जान पड़ते हैं। इनके पूर्व कणादके वैशेषिकसूत्रमें अनुमानप्रमाणका निर्देश 'लैंगिक' शब्दद्वारा किया गया है,[8] पर उसका विवेचन न्यायसूत्रमें ही प्रथमतः दृष्टिगोचर

---

१. न्यायसू० १।१।५ ।

२. वही, १।१।३२-३९ ।

३. वही, १।२।५-९ ।

४. वही, २।१।३८ ।

५. वही, २।१।४३ ।

६. वही, २।१।२५ ।

७. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ।
—वही १।१।३६,३७ ।

८. तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम् । अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम् ।
—वैशेषिकसू० १०।१।३, ९।२।१।

होता है। अतः अनुमानका निबद्धरूपमें ऐतिहासिक विकासक्रम गौतमसे आरम्भकर रुद्रनारायण पर्यन्त अंकित किया जा सकता है। रुद्रनारायणने अपनी तत्त्वरौद्रीमें गंगेश उपाध्याय द्वारा स्थापित अनुमानकी नव्यन्यायपरम्परामें प्रयुक्त नवीन पदावलीका विशेष विश्लेषण किया है। यद्यपि मूलभूत सिद्धान्त तत्त्वचिन्तामणिके ही हैं, पर भाषाका रूप अधुनातन है और अवच्छेदकावच्छिन्न, प्रतियोगिताकाभाव आदिको नवीन लक्षणावलीमें स्पष्ट किया है।

गौतमका न्यायसूत्र अनुमानका स्वरूप, उसकी परीक्षा, हेत्वाभास, अवयव एवं उसके भेदोंको ज्ञात करनेके लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि यह सत्य है कि अनुमानके निर्धारक तथ्य पक्षधर्मता, व्याप्ति और परामर्शका उल्लेख इसमे नहीं पाया जाता, तो भी अनुमानकी प्रस्तुत की गयी समीक्षासे अनुमानका पूरा रूप खड़ा हो जाता है। गौतमके समयमें अनुमान-सम्बन्धी जिन विशेष बातोंमें विवाद था उनका उन्होंने स्वरूप विवेचन अवश्य किया है[1]। यथा— प्रतिज्ञाके स्वरूप-निर्धारणके सम्बन्धमें विवाद था—कोई साध्यको प्रतिज्ञा मानता था, तो कोई केवल धर्मीको प्रतिज्ञा कहता था। उन्होंने साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहकर उस विवादका निरसन किया।[2] इसी प्रकार अवयवों, हेतुओं, हेत्वाभासों एवं अनुमान-प्रकारोंके सम्बन्धमें वर्तमान विप्रतिपत्तियोंका भी उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया और एक सुदृढ़ परम्परा स्थापित की।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने सूत्रोंमें निर्दिष्ट अनुमान सम्बन्धी सभी उपादानोंकी परिभाषाएँ अंकित की और अनुमानको पुष्ट और सम्बद्ध रूप प्रदान किया है। यथार्थमें वात्स्यायनने गौतमको अमर बना दिया है। व्याकरणके क्षेत्रमें जो स्थान भाष्यकार पतंजलिका है, न्यायके क्षेत्रमें वही स्थान वात्स्यायनका है। वात्स्यायनने सर्वप्रथम 'तत्पूर्वकम्' पदका विस्तार कर 'लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनपूर्वकमनुमानम्[3]' परिभाषा अंकित की। और लिंग-लिंगीके सम्बन्ध-दर्शनको अनुमानका कारण बतलाया।

गौतमने अनुमानके त्रिविध भेदोंका मात्र उल्लेख किया था। पर वात्स्यायनने उनकी सोदाहरण परिभाषाएँ भी निबद्ध की है।[4] वे एक प्रकारका परिष्कार देकर ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु प्रकारान्तरसे दूसरे परिष्कार भी ग्रथित किये है।[5] इन व्याख्यामूलक परिष्कारोंके अध्ययन बिना गौतमके अनुमानरूपोंको अवगत करना असम्भव है। अत. अनुमानके स्वरूप और उसकी भेदव्यवस्थाके स्पष्टीकरणका श्रेय बहुत कुछ वात्स्यायनको है।

---

१. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।—न्यायसू० १।१।३३।

२. न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २१।

३,४,५. वही, १।१।५, पृष्ठ २१, २२।

अपने समयमें प्रचलित दशावयवकी समीक्षा करके न्यायसूत्रकार द्वारा स्थापित पंचावयव-मान्यताका युक्तिपुरस्सर समर्थन करना भी उनका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है।[1] न्यायभाष्यमें[2] साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुरूपोंकी व्याख्या भी कम महत्त्वकी नहीं है। द्विविध उदाहरणका विवेचन भी बहुत सुन्दर और विशद है। ध्यातव्य है कि वात्स्यायनने 'पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति।'[3] कहकर साधर्म्यदृष्टान्तको अन्वयदृष्टान्त कहने और अन्वय एवं अन्वयव्याप्ति दिखानेका संकेत किया जान पड़ता है। इसी प्रकार 'उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति।'[4] शब्दों द्वारा उन्होंने वैधर्म्यदृष्टान्तको व्यतिरेकदृष्टान्त प्रतिपादन करने तथा व्यतिरेक एवं व्यतिरेकव्याप्ति प्रदर्शित करनेकी ओर भी इंगित किया है। यदि यह ठीक हो तो यह वात्स्यायन की एक नयी उपलब्धि है। सूत्रकारने हेतुका सामान्यलक्षण ही बतलाया है।[5] पर वह इतना अपर्याप्त है कि उससे हेतुके सम्बन्धमें स्पष्टतः जानकारी नहीं हो पाती। भाष्यकारने हेतु-लक्षणको उदाहरण द्वारा[6] स्पष्ट करनेका सफल प्रयास किया है। उनका अभिमत है कि 'साध्यसाधनं हेतुः' तभी स्पष्ट हो सकता है जब साध्य (पक्ष) तथा उदाहरणमें धर्म (पक्षधर्म हेतु) का प्रतिसन्धान कर उसमें साधनता बतलायी जाए। हेतु समान और असमान दोनों ही प्रकारके उदाहरण बतलाने पर साध्यका साधक होता है। यथा—न्यायसूत्रकारके प्रतिज्ञालक्षण[7]को स्पष्ट करनेके लिए उदाहरणस्वरूप कहे गये 'शब्दोऽनित्यः' को 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'[8] हेतुका प्रयोग करके सिद्ध किया गया है। तात्पर्य यह कि भाष्यकारने हेतुस्वरूपबोधक सूत्रकी उदाहरणद्वारा विशद व्याख्या तो की ही है, पर 'साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः'[9] कथन द्वारा साध्यके साथ नियत सम्बन्धीको हेतु कहा है। अतः जिस प्रकार उदाहरणके क्षेत्रमें उनकी देन है उसी प्रकार हेतुके क्षेत्रमें भी।

---

१. न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।
२. वही, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८।
३. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५०।
४. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५०।
५. न्यायसू० १।१।३४,३५।
६. 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति।
—न्यायभा० १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।
७. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा—न्यायसू० १।१।३३।
८. न्यायभा० १।१।३३, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।
९. वही, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।

अनुमानकी प्रामाणिकता या सत्यता लिंग-लिंगीके सम्बन्धपर आश्रित है। वह सम्बन्ध नियत साहचर्यरूप है। सूत्रकार गौतम उसके विषयमें मौन हैं। पर भाष्यकारने[1] उसका स्पष्ट निर्देश किया है। उन्होंने लिंगदर्शन और लिंगस्मृतिके अतिरिक्त लिंग (हेतु) और लिंगी (हेतुमान्-साध्य) के सम्बन्ध दर्शनको भी अनुमितिमें आवश्यक बतला कर उस सम्बन्धके मर्मका उद्घाटन किया है। उनका मत है कि सम्बद्ध हेतु तथा हेतुमान्‌के मिलनेसे हेतुस्मृतिका अभि-सम्बन्ध होता है और स्मृति एवं लिंगदर्शनसे अप्रत्यक्ष (अनुमेय , अर्थका अनु-मान होता है। भाष्यकारके इस प्रतिपादनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने 'सम्बन्ध' शब्दसे व्याप्ति-सम्बन्धका और 'लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनम्' पदोसे उस व्याप्ति सम्बन्धके ग्राहक भूयोदर्शन या सहचारदर्शनका सकेत किया है जिसका उत्तरवर्ती आचार्योंने स्पष्ट कथन किया तथा उसे महत्त्व दिया है।[2] वस्तुत. लिंग-लिंगीको सम्बद्ध देखनेका नाम ही सहचारदर्शन या भूयोदर्शन है, जिसे व्याप्तिग्रहणमे प्रयोजक माना गया है। अत. वात्स्यायनके मतसे अनुमानकी कारण-सामग्री केवल प्रत्यक्ष (लिंगदर्शन) ही नही है, किन्तु लिंग-दर्शन, लिंग-लिंगीसम्बन्धदर्शन और तत्सम्बन्धस्मृति ये तीनों हैं। तथा सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान उन्होंने प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपादन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती तार्किकोने भी किया है।[3]

वात्स्यायनकी[4] एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि और उल्लेख्य है। उन्होंने अनुमान-परीक्षा प्रकरणमें त्रिविध अनुमानोंके मिथ्यात्वकी आशंका प्रस्तुत कर उनकी सत्यताकी सिद्धिकेलिए कई प्रकारसे विचार किया है। आपत्तिकार कहता है कि 'ऊपरके प्रदेशमें वर्षा हुई है, क्योंकि नदीमे बाढ आयी है,[5] वर्षा होगी, क्योंकि चीटियाँ अण्डे लेकर जा रही[6] हैं ये दोनो अनुमान सदोष हैं, क्योंकि कही नदीकी धारामें रुका-वट होनेपर भी नदीमे बाढ आ सकती है। इसी प्रकार चीटिओका अण्डों सहित संचार चीटियोके बिलके नष्ट होनेपर भी हो सकता है। इसी तरह सामान्यतो-

---

१. लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।
—न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २१।

२. "यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि... ।
—वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६७।

३. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४४। न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६७। उदयन, न्यायवा० ता० टी० परिशु० १।१।५, पृष्ठ ७०१। गंगेश, तत्त्वचिन्तामणि, जागदी० पृष्ठ १७८, आदि।

४, ५; ६. न्यायभा० २।१।३८, पृष्ठ ११४।

दुष्ट अनुमानका उदाहरण—'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी'—भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि पुरुष भी परिहास या आजीविकाकेलिए मोरकी बोली बोल सकता है।[1] इतना ही नहीं मोरके बोलने पर भी वर्षा नहीं हो सकती; क्योंकि वर्षा और मोरके बोलनेमें कोई कार्य-कारणसम्बन्ध नहीं है। वात्स्यायन[2] इन समस्त आपत्तियों (व्यभिचार-शंकाओं) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि उक्त आपत्तियाँ ठीक नहीं हैं, क्योंकि उक्त अनुमान अनुमान नहीं हैं, अनुमानाभास हैं और अनुमानाभासोंको अनुमान समझ लिया गया है। तथ्य यह है कि विशिष्ट हेतु ही विशिष्ट साध्यका अनुमापक होता है[3]। अतः अनुमानकी सत्यताका आधार विशिष्ट (साध्याविनाभावी) हेतु ही है, जो कोई नहीं। यहाँ वात्स्यायनके प्रतिपादन और उनके 'विशिष्ट हेतु' पदसे अव्यभिचारी हेतु अभिप्रेत है जो नियमसे साध्यका गमक होता है। वे कहते हैं[4] कि यह अनुमाताका ही अपराध माना जाएगा कि वह अर्थविशेषवाले अनुमेय अर्थको सामान्य अर्थसे जाननेकी इच्छा करता है, अनुमानका नहीं।

इस प्रकार वात्स्यायनने अनुमानके उपादानोंके परिष्कार एवं व्याख्यामूलक विशदीकरणके साथ कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है।

अनुमानके क्षेत्रमें वात्स्यायनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उद्योतकरका है। उन्होंने लिंगपरामर्शको[5] अनुमान कहा है। अब तक अनुमानकी परिभाषा कारणसामग्रीपर निर्भर थी। किन्तु उन्होंने उसका स्वतन्त्र स्वरूप देकर नयी परम्परा स्थिर की। व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताका ज्ञान ही परामर्श है। उद्योतकरकी[6] दृष्टिमें लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृतिसे युक्त लिंगपरामर्श अभीष्टार्थ (अनुमेयार्थ) का अनुमापक है।[7] वे कहते हैं[8] कि अनुमान वस्तुतः उसे कहना चाहिए, जिसके अनन्तर उत्तरकालमें शेषार्थ (अनुमेयार्थ) प्रतिपत्ति (अनुमिति) हो और ऐसा केवल लिंगपरामर्श ही है, क्योंकि उसके अनन्तर नियमतः अनुमिति उत्पन्न होती है। लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृति आदि लिंगपरामर्शसे व्यवहित हो जानेसे अनुमान नहीं हैं। उद्योतकरकी यह अनुमान-परिभाषा इतनी दृढ़ एवं बद्धमूल हुई कि

---

१. न्यायभा० २।१।३८, पृष्ठ ११४।
२ वही, २।१।३९, पृष्ठ ११४, ११५।
३,४. वही० २।१।३९, पृष्ठ ११५।
५. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५ आदि।
६. वही १।१।५, पृष्ठ ४५।
७. 'तस्मात् स्मृत्यनुगृहीतो लिंगपरामर्शोऽभीष्टार्थप्रतिपादकः'—वही, १।१।५, पृष्ठ ४५।
८. यस्माल्लिंगपरामर्शादनन्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिंगपरामर्शो न्याय्य इति। स्मृतिर्न प्रधानम्। किं कारणम्? स्मृत्यनन्तरमप्रतिपत्तेः...।—वही, १।१।५, पृ० ४५।

उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याख्याकारोंने[1] अपने व्याख्या-ग्रन्थोंमें उसे अपनाया है। नव्य-नैयायिकोंने[2] तो उसमें प्रभूत परिष्कार भी उपस्थित किये हैं, जिससे तर्क-शास्त्रके क्षेत्रमें अनुमानने व्यापकता प्राप्त की है और नया मोड़ लिया है।

न्यायवार्तिककारने[3] गौतमोक्त पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या करनेके अतिरिक्त अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदोंकी भी सृष्टि की है, जो उनसे पूर्व न्यायपरम्परामें नहीं थे। 'त्रिविधम्' सूत्रके इन्होंने कई व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं।[4] निश्चयतः उनका यह सब निरूपण उनकी मौलिक देन है। परवर्ती नैयायिकोंने उनके द्वारा रचित व्याख्याओंका ही स्पष्टीकरण किया है।

उद्योतकरद्वारा बौद्धसन्दर्भमें की गयी हेतुलक्षणसमीक्षा भी महत्त्वकी है। बौद्ध[5] हेतुका लक्षण त्रिरूप मानते हैं। पर उद्योतकर न केवल उसकी ही आलोचना करते हैं, अपितु द्विलक्षणकी भी मीमांसा करते हैं।[6] किन्तु सूत्रकारोक्त एवं भाष्यकार समर्थित द्विलक्षण, त्रिलक्षणके साथ चतुर्लक्षण और पंचलक्षण हेतु उन्हें इष्ट[7] है। अन्वयव्यतिरेकीमें पंचलक्षण और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकीमें चतुर्लक्षण घटित होता है। यहाँ उद्योतकरकी विशेषता यह है कि वे न्यायभाष्यकारकी आलोचना करनेसे भी नहीं चूकते। वात्स्यायनने[8] 'तथा वैधर्म्यात्'[9] इस वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणका उदाहरण साधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणके उदाहरण 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' को ही प्रस्तुत किया है। इसे वे[10] युक्तिसंगत न मानते

१. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६९। तथा उदयन, वा० टी० परिशु० १।१।५, पृष्ठ ७०७,।

२. गंगेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, जागदीशी, पृ० १३, ७१। विश्वनाथ, सिद्धान्तमु० पृष्ठ ५०। आदि

३. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४६।

४. वही, १।१।५, पृष्ठ ४६–४६।

५ न्यायप्रवेश, पृष्ठ १।

६. 'त्रिलक्षणं च हेतुं ब्रुवाणेन—अहेतुत्वमिति प्राप्तम्।···तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे···तादृशा विना न भवतीत्यनेन द्वयं लभ्यते—।'—न्यायवा० १।१।३५, पृ० १३१।

७. च शब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति।
—वही, १।१।५, पृष्ठ ४६।

८. न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ ४९।

९. न्यायसू० १।१।३५।

१०. एतत्तु न समंजसमिति पश्यामः प्रयोगमात्रभेदात् ··। उदाहरणमात्रभेदाच्च ··। तस्मान्नेदं उदाहरणं न्याय्यमिति। उदाहरणं तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति'।—न्यायवा० १।१।३५, पृष्ठ १२३।

हुए कहते हैं कि यह तो मात्र प्रयोगभेद है और प्रयोगभेदसे वस्तु (हेतु) भेद नहीं हो सकता। अथवा वह केवल उदाहरणभेद है—आत्मा और घट। यदि उदाहरण-भेदसे भेद हो तो 'तथा वैधर्म्यात्' यह सूत्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि उदाहरणके भेदसे ही हेतुभेद अवगत हो जाता है और भेदक उदाहरणसूत्र 'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' सूत्रकारने कहा ही है। अतः 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह वैधर्म्यप्रयुक्त हेतुका उदाहरण ठीक नहीं है। किन्तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्राणादिमत्त्वप्रसंगादिति' यह उदाहरण उचित है। इस प्रकार न्यायभाष्यकारकी मीमांसा सूत्रकारद्वारा प्रतिपादित हेतुद्वयकी पुष्टिमें हो की गयी है। अतएव उद्योतकर अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं[1] कि परोक्त हेतुलक्षण सम्भव नहीं है, यही आर्ष (सूत्रकारोक्त) हेतुलक्षण संगत है।

न्यायभाष्यकारके[2] समय तक अनुमानावयवोंकी मान्यता दो रूपोंमें उपलब्ध होती है—(१) पंचावयव और (२) दशावयव। वात्स्यायनने दशावयवमान्यताकी मीमांसा करके सूत्रकार प्रतिपादित पंचावयवमान्यताको संपुष्टि की है। पर उद्योतकरने[3] त्र्यवयवमान्यताकी भी समीक्षा की है। यह मान्यता बौद्ध तार्किक दिङ्नागकी है, क्योंकि दिङ्नागने[4] ही अधिक-से-अधिक तीन अवयव स्वीकार किये हैं। सांख्य विद्वान् माठरने[5] भी अनुमानके तीन अवयव प्रतिपादित किये हैं। यदि माठर दिङ्नागसे पूर्ववर्ती है तो त्र्यवयवमान्यता उनकी समझना चाहिए। इस प्रकार कितनी ही स्थापनाओं और समीक्षाओंके रूपमें उद्योतकरकी उपलब्धियाँ हम उनके न्यायवार्तिकमें पाते हैं।

वाचस्पतिकी[6] भी अनुमानके लिए महत्त्वपूर्ण देन है। व्याप्तिग्रहकी सामग्रीमें तर्कका प्रवेश उनकी ऐसी देन है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी नैयायिकोंने किया है। उद्योतकरद्वारा प्रतिपादित 'लिंगपरामर्शरूप' अनुमान-परिभाषाका समर्थन करके उसे पुष्ट किया है। दो अवयवकी मान्यताका भी उल्लेख करके उसकी समीक्षा प्रस्तुत की है। यह दो अवयवकी मान्यता धर्मकीर्तिकी[7] है।

---

१. न्यायवा०, १।१।३५, पृष्ठ १३४।

२. न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।

३. न्यायवा० १।१।३२, पृष्ठ १०८।

४ न्यायप्रवेश पृष्ठ १, २।

५. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्'—माठर वृ० का० ५।

६. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६७, १७०, १७८, १६५ तथा १।१।३२, पृष्ठ २६७।

७. 'अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नांगं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि…'
—वादन्याय० पृष्ठ ६१। किन्तु धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु (पृष्ठ ९१) में दृष्टान्तको हेतुसे पृथक् नहीं मानते और हेतुको ही साधनावयव बतलाते हैं। प्रमाणवार्तिक (१-१२८) में भी 'हेतुरेव हि केवलः' कहते हैं।

न्यायदर्शनमें अविनाभावका सर्वप्रथम स्वीकार या पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंके अविनाभावद्वारा संग्रहका विचार उन्हींके द्वारा प्रविष्ट हुआ है। लिंग-लिंगीके सम्बन्धको स्वाभाविक प्रतिपादन करना और उसे निरुपाधि अंगीकार करना उन्हींकी सूझ है।

जयन्तभट्टका भी अनुमानके लिए कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है। उन्होंने न्यायमंजरी और न्यायकलिकामें अनुमानका सांगोपांग निरूपण किया है। वे स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं। यहाँ हम उनके स्वतन्त्र विचारका एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। न्यायमंजरीमें[1] हेत्वाभासोंके प्रकरणमें उन्होंने अन्यथासिद्धत्व नामके एक छठे हेत्वाभासकी चर्चा की है। सूत्रकारके उल्लंघनकी बात उठनेपर वे कहते हैं कि सूत्रकारका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता। पर अन्तमें वे उसे उद्योतकरकी तरह असिद्धवर्गमें अन्तर्भूत कर लेते हैं। 'अथवा' के साथ यह भी कहा है कि अप्रयोजकत्व (अन्यथासिद्धत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति अनुगत सामान्यरूप है। न्यायकलिकामें[2] भी यही मत स्थिर किया है। समव्याप्ति और विषमव्याप्तिका निर्देश भी उल्लेखनीय है। अवयव-समीक्षा, हेतुसमीक्षा आदि अनुमान-सम्बन्धी विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उदयनका[3] चिन्तन सामान्यतया पूर्वपरम्पराका समर्थक है, किन्तु अनेक स्थलोंपर उनकी स्वस्थ और सूक्ष्म विचार-धारा उनकी मौलिकताका स्पष्ट प्रकाशन करती है। उपाधि और व्याप्तिकी जो परिभाषाएँ उन्होंने प्रस्तुत कीं, उत्तरकालमें उन्हींको केन्द्र बनाकर पुष्कल विचार हुआ है।

अनुमानके विकासमें अभिनव क्रान्ति उदयनसे आरम्भ होती है। सूत्र और व्याख्यापद्धतिके स्थानमें प्रकरण-पद्धतिका जन्म होता है और स्वतन्त्र प्रकरणों द्वारा अनुमानके स्वरूप, आधार, अवयव, परामर्श, व्याप्ति, उपाधि, हेतु एवं पक्ष-सम्बन्धी दोषोंका इस कालमें सूक्ष्म विचार किया गया है।

गंगेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानकी परिभाषा तो वही दी है जो उद्योतकरने न्यायवार्त्तिकमें उपस्थित की है, पर उनका वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अनुमितिकी ऐसी परिभाषा[4] प्रस्तुत की है जो न्यायपरम्परामें अब तक प्रचलित नहीं थी।

---

१. न्यायमंजरी पृष्ठ १३१, १६३-१६६।

२. अप्रयोजकत्व च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्।
—न्यायक० पृष्ठ १५

३. किरणावली० पृष्ठ २६७।

४. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानम्।
—त० चि० अनुमानलक्षण, पृष्ठ १३।

उसमें प्रयुक्त व्याप्ति[1] और पक्षधर्मता[2] पदोंका उन्होंने सर्वथा अभिनव तथा विस्तृत स्वरूप प्रदर्शित किया है। व्याप्तिग्रहके साधनोंमें सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिपर[3] उन्होंने सर्वाधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि यदि सामान्यलक्षणा न हो तो अनुकूल तर्कादिकके बिना धूमादिमें आशंकित व्यभिचार नहीं बन सकेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूममें वह्निसम्बन्धका ज्ञान हो जानेसे कालान्तरीय एवं देशान्तरीय धूमके सद्भावका साधक प्रमाण न होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता। सामान्यलक्षणा द्वारा तो समस्त धूमोंकी उपस्थिति हो जाने और धूमान्तरका विशेष दर्शन न होने से व्यभिचारकी आशंका सम्भव है। तात्पर्य यह कि व्यभिचारशंकाके लिए सामान्यलक्षणाका मानना आवश्यक है और व्यभिचारशंकाके होने पर ही तर्कादिकी उपयोगिता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार गंगेशने अनुमानके सम्बन्धमें मौलिक विवेचन नव्यन्यायके आलोकमें कर नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये है।

विश्वनाथ, जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ तर्कवागीश, गदाधर आदि नव्य-नैयायिकोंने भी अनुमानपर बहुत ही सूक्ष्म विचार करके उसे समृद्ध किया है। केशव मिश्रकी तर्कभाषा और अन्नम्भट्टकी तर्कसंग्रह प्राचीन और नवीन न्यायकी प्रतिनिधि तर्ककृतियाँ हैं जिनमें अनुमानका सुबोध और सरल भाषामें विवेचन उपलब्ध है।

(ख) वैशेषिक-परम्परामें अनुमानका विकास

वैशेषिकदर्शनसूत्रप्रणेता कणादने[4] स्वतन्त्र दर्शनका प्रणयन करके उसमे पदार्थों की सिद्धि (व्यवस्था) प्रत्यक्षके अतिरिक्त लैंगिक द्वारा भी प्रतिपादित की है और हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण जैसे हेतुवाची पर्याय-शब्दोंका प्रयोग तथा कार्य, कारण, संयोगि, विरोधि एवं समवायि इन पाच लैंगिकप्रकारो और त्रिविध हेत्वाभासोंका निर्देश किया है। उनके इस संक्षिप्त अनुमान-निरूपणमें अनुमानका सूत्रपात मात्र दिखता है, विकसित रूप कम मिलता है। पर उनके भाष्यकार प्रशस्तपादके भाष्यमें अनुमान-समीक्षा विशेष रूपमे उपलब्ध होती है। अनुमानका

---

१. नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः। न तावदव्यभिचरितत्वम्। ''नापि'''। अत्रोच्यते। प्रतियोग्यसमानाधिकरणयत्समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

—त० चि० अनुमान लक्षण, पृष्ठ ७७, ८६, १७१, १७८, १८१, १८६-२०१।

२. वही, पृष्ठ ६३१

३. व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्या सकलधूमादिविषयक.'''। यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदा....।

—वही, पृष्ठ ४२३, ४५१।

४. वैशेषि० द० १०।२।१, तथा ६।२।१,४।

लक्षण प्रशस्तपादने इस प्रकार दिया है—'लिंगदर्शनात्संजायमानं लैंगिकम्'[1] अर्थात् लिंगदर्शनसे होनेवाले ज्ञानको लैंगिक कहते हैं। इसी सन्दर्भमें उन्होंने[2] लिंगका स्वरूप बतलानेके लिए काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनका आशय प्रस्तुत करते हुए लिखा है[3] कि जो अनुमेय अर्थके साथ किसी देशविशेष या कालविशेषमें सहचरित हो, अनुमेयधर्मसे समन्वित किसी दूसरे सभी अथवा एक स्थानमें प्रसिद्ध (विद्यमान) हो और अनुमेयसे विपरीत सभी स्थानोंमें प्रमाणसे असत् (व्यावृत्त) हो वह अप्रसिद्ध अर्थका अनुमापक लिंग है। किन्तु जो ऐसा नहीं वह अनुमेयके ज्ञानमें लिंग नहीं है—लिंगाभास है। इस प्रकार प्रशस्तपादने सर्वप्रथम लिंगको त्रिरूप वर्णित किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नागने[4] भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है। सम्भवतः वह प्रशस्तपादका अनुसरण है।

व्याप्तिग्रहणके प्रकारका निरूपण भी हम प्रशस्तपादके भाष्यमें[5] सर्वप्रथम देखते हैं। उन्होंने उसे बतलाते हुए लिखा है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है और अग्नि न होने पर धूम भी नहीं होता, इस प्रकारसे व्याप्तिको ग्रहण करने वाले व्यक्तिको असन्दिग्ध धूमको देखने और धूम तथा वह्निके साहचर्यका स्मरण होनेके अनन्तर अग्निका ज्ञान होता है। इसी तरह सभी अनुमानोंमें व्याप्तिका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होता है। अत समस्त देश तथा कालमें साध्याविनाभूत लिंग साध्यका अनुमापक होता है।' व्याप्तिग्रहणके प्रकारका इस तरहका स्पष्ट निरूपण प्रशस्तपादसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता।

प्रशस्तपादने[6] ऐसे कतिपय हेतुओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनका अन्तर्भाव सूत्रकार कणादके उक्त कार्यादि पंचविध हेतुओंमें नहीं होता। यथा—चन्द्रोदयसे समुद्रवृद्धि और कुमुदविकासका, शरद्में जलप्रसादसे अगस्त्योदयका अनुमान करना। अतएव वे सूत्रकारके हेतुकथनको अवधारणार्थक न मानकर 'अस्येदम्'

---

१. प्रश० भा० पृष्ठ ९९।

२,३. वही, पृष्ठ १००, १०१।

४. हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति। —न्यायप्र० पृ० १।

५. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिंगम्।

—प्रश० भा० पृष्ठ १०२, १०३

६. शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—व्यवहितस्य हेतुर्लिंगम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च' ……। वही, पृष्ठ १०४।

इस सम्बन्धमात्रके सूचक वचनसे चन्द्रोदयादि हेतुओंका, जो कार्यादिरूप नहीं हैं, संग्रह कर लेते हैं। यह प्रतिपादन भी प्रशस्तपादकी अनुमानके क्षेत्रमें एक देन है।

अनुमानके दृष्ट और सामान्यतोदृष्टके भेदसे दो भेदों[1] तथा स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमानके भेदसे भी दो भेदों[2] का वर्णन, शब्द, चेष्टा, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव-प्रतिपादन,[3] परार्थानुमानवाक्यके प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्याम्नाय इन पाँच अवयवोंकी परिकल्पना,[4] हेत्वाभासोंका अपने ढंगका चिन्तन,[5] अनध्यवसितनामके हेत्वाभासकी कल्पना और फिर उसे असिद्धके भेदोंमें ही अन्तर्भूत करना[6] तथा निदर्शनके विवेचनप्रसंगमें निदर्शनाभासोंका कथन,[7] जो न्यायदर्शनमें उपलब्ध नहीं होता, केवल जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें वह मिलता है, आदि अनुमान-सम्बन्धी सामग्री प्रशस्तपादभाष्यमें पर्याप्त विद्यमान है।

व्योमशिव, श्रीधर आदि वैशेषिक तार्किकोंने भी अनुमानपर विचार किया है और उसे समृद्ध बनाया है।

(ग) बौद्ध परम्परामें अनुमानका विकास

बौद्ध तार्किकोंने तो भारतीय तर्कशास्त्रको इतना प्रभावित किया है कि अनुमानपर उनके द्वारा संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे गये हैं। उपलब्ध बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन तर्कशास्त्र[8] और उपायहृदय[9] नामक दो ग्रन्थ माने जाते हैं। तर्कशास्त्रमें तीन प्रकरण हैं। प्रथममें परस्पर दोषापादन, खण्डनप्रक्रिया, प्रत्यक्षविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, लोकविरुद्ध तीन विरुद्धोंका कथन, हेतुफलन्याय, सापेक्षन्याय, साधनन्याय, तद्यतान्याय चार न्यायोंका प्रतिपादन आदि है। द्वितीयमे खण्डनभेदों और तृतीयमें उन्हीं बाइस निग्रहस्थानोंका अभिधान है, जिनका गौतमके न्यायसूत्रमें है। किन्तु गौतमकी तरह हेत्वाभास पाँच वर्णित नहीं हैं,

---

१. प्रश० भा० पृष्ठ १०४।
२. वही, पृष्ठ १०६, ११३।
३. वही, पृष्ठ १०६-११२।
४. वही, पृष्ठ ११४-१२७।
५. वही, पृष्ठ ११६-१२१।
६. वही, पृष्ठ ११६ तथा १२०।
७. वही, पृष्ठ १२२।
८. ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा द्वारा प्रकाशित Pre-Dinnaga Buddhist texts on Logic From Chinese Sources के अन्तर्गत।
९. वही।

अपितु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन अभिहित हैं।[1] जैसी युक्तियाँ और प्रतियुक्तियाँ इसमें प्रदर्शित हैं उनसे अनुमानका उपहास ज्ञात होता है। पर[2] इतना स्पष्ट है कि शास्त्रार्थमें विजय पाने और विरोधीका मुँह बन्द करनेके लिए सद्-असद् तर्क उपस्थित करना उस समयकी प्रवृत्ति रही जान पड़ती है।

उपायहृदय[५] चार प्रकरण है। प्रथममें वादके गुण-दोषोंका वर्णन करते हुए कहा गया है[3] कि वाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे वाद करनेवालोंको विपुल क्रोध और अहंकार उत्पन्न हो जाता है चित्त विभ्रान्त, मन कठोर, पर-पाप प्रकाशक और स्वकीय पाण्डित्यका अनुमोदक बन जाता है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि तिरस्कार, लाभ और ख्यातिके लिए वाद नहीं, अपितु सुलक्षण और दुर्लक्षण उपदेशकी इच्छासे वह किया जाना चाहिए। यदि लोकमें वाद न हो तो मूर्खोंका बाहुल्य हो जाएगा और उससे मिथ्याज्ञानादिका साम्राज्य जम जाएगा। फलत: संसारकी दुर्गति तथा उत्तम कार्योंकी क्षति होगी। इस प्रकरण-में न्यायसूत्रकी तरह प्रत्यक्षादि चार प्रमाण और पूर्ववदादि तीन अनुमान वर्णित हैं। आठ प्रकारके हेत्वाभासो आदिका भी निरूपण है। द्वितीयमें वादधर्मों आदि का, तृतीयमें दूषणों आदिका और चतुर्थमें बीस प्रकारके प्रश्नोत्तर धर्मों, जिनका न्यायसूत्रमें जातियोंके रूपमें कथन है, आदिका वर्णन है।[4] उल्लेख्य है कि इसमें पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन अनुमानोंके जो उदाहरण दिये गये हैं[5] वे न्यायभाष्यगत उदाहरणोसे भिन्न तथा अनुयोगसूत्र[6] और युक्तिदीपिकासे[7] अभिन्न हैं। इससे प्रतीत होता है कि इसमें किसी प्राचीन परम्पराका अनुसरण है।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थोंके संक्षिप्त परिचयका प्रयोजन केवल अनुमानके प्राचीन स्रोतको दिखाना है। परन्तु उत्तरकालमें इन ग्रन्थोंकी परम्परा नहीं अपनायी गयी। न्यायप्रवेश[8] में अनुमानसम्बन्धी अभिनव परम्पराएँ स्थापित की गयी हैं।

---

१ यथापूर्वमुक्तास्त्रिविधाः। असिद्धोऽनैकान्तिको विरुद्धश्चेति हेत्वाभासाः।
—तर्कशास्त्र पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ ३।

३. उपायहृदय पृष्ठ ३।

४. वही पृष्ठ ६–१७, १८–२१, २२–२५, २६–३२।

५. यथा षडंगुलिं सपिटकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद्वृद्ध बहुश्रुत देवदत्तं दृष्ट्वा षडंगुलिस्म-रणात् सोऽयमिति पूर्ववत्। शेषवत् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवण मनुभूय शेष-मपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति…।—वही, पृष्ठ १३।

६. सं० मुनिश्री कन्हैयालाल, मूलसुत्ताणि, अ० सू० पृष्ठ ५३१।

७. यु० दी० का० ५, पृष्ठ ४५।

८. न्या० प्र० पृष्ठ १–८।

साधन (परार्थानुमान) के पक्ष, हेतु और दृष्टान्त तीन अवयव, हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व तीन रूप, पक्ष, सपक्ष और विपक्षके लक्षण तथा पक्ष-लक्षणमें प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध विशेषणका प्रवेश, जो प्रशस्तपादके अनुसरणका सूचक है, नवविध पक्षाभास, तीन हेत्वाभास और उनके प्रभेद, द्विविध दृष्टान्ताभास और प्रत्येकके पाँच-पाँच भेद, प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे द्विविध प्रमाण, लिंगसे होने वाले अर्थ (अनुमेय) दर्शनको अनुमान; हेत्वाभासपूर्वक होनेवाले ज्ञानको अनु-मानाभास, दूषण और दूषणाभास आदि अनुमानोपयोगी तत्त्वोंका स्पष्ट निरूपण करके बौद्ध तर्कशास्त्रको अत्यधिक पुष्ट तथा पल्लवित किया गया है। इसी प्रयो-जनको पुष्ट और बढ़ावा देनेके लिए दिङ्नागने न्यायद्वार, प्रमाणसमुच्चय सवृत्ति, हेतुचक्रसमर्थन आदि ग्रन्थोंकी[1] रचना करके उनमें प्रमाणका विशेषतया अनुमान-का विचार किया है।

धर्मकीर्तिने प्रमाणसमुच्चयपर अपना प्रमाणवार्तिक लिखा है, जो उद्योतकरके न्यायवार्तिककी तरह व्याख्येय ग्रन्थसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और यशस्वी हुआ। इन्होंने हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु आदि स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थोंकी भी रचना की है[2] और जिनसे बौद्ध तर्कशास्त्र न केवल समृद्ध हुआ, अपितु अनेक उपलब्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई है। न्यायबिन्दुमें अनुमानका लक्षण और उसके द्विविध भेद तो न्यायप्रवेश प्रतिपादित ही है। पर अनुमानके अवयव धर्मकीर्तिने तीन न मानकर हेतु और दृष्टान्त ये दो[3] अथवा केवल एक हेतु[4] ही माना है। हेतुके तीन भेद (स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि), अविनाभावनियामक तादात्म्य और तदुत्पत्तिसम्बन्धद्वय, ग्यारह अनुपलब्धियाँ आदि चिन्तन धर्मकीर्तिकी देन है। इन्होंने जहाँ दिङ्नागके विचारोंका समर्थन किया है वहाँ उनकी कई मान्यताओंकी आलोचना भी की है। दिङ्नागने विरुद्ध हेत्वाभासके भेदोंमें इष्टविघातकृत् नामक तृतीय विरुद्ध हेत्वाभास, अनेकान्तिकभेदोंमें विरुद्धाव्यभिचारी और साधनावयवोंमें दृष्टान्तको स्वीकार किया है। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें इन तीनोंकी समीक्षा की है।[5] इनकी विचार-धाराको

१. पं० दलसुखभाई मालवणिया, धर्मोत्तर-प्रदीप, प्रस्ताव० पृष्ठ ४१।

२ धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृष्ठ ४४।

३. अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि....।
—राहुल सांकृत्यायन, वादन्या० पृष्ठ ६१।

४. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु तृतीय परि० पृष्ठ ९१।

५. (क) तत्र च तृतीयोऽपीष्टविघातकृद्विरुद्धः।...स इह कस्मान्नोक्तः। अनयोरेवान्तर्भावात्।
(ख) विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः। अनुमानविषयेऽ-सम्भवात्।
(ग) त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्।
—न्यायबि० पृष्ठ ७९-८०, ८६, ९१।

उनकी शिष्यपरम्परामें होने वाले देवेन्द्रबुद्धि, शान्तभद्र, विनीतदेव, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर आदिने पुष्ट किया और अपनी व्याख्याओं-टीकाओं आदि द्वारा प्रवृद्ध किया है। इस प्रकार बौद्धतर्कशास्त्रके विकासने भी भारतीय अनुमानको अनेक रूपोंमें समृद्ध किया है।

(घ) मीमांसक-परम्परामें अनुमानका विकास

बौद्धों और नैयायिकोंके न्यायशास्त्रके विकासका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि मीमासक जैसे दर्शनोमें, जहाँ प्रमाणकी चर्चा गौण थी, कुमारिलने श्लोकवार्तिक, प्रभाकरने बृहती, शालिकानाथने बृहतीपर पंचिका और पार्थसारथिने शास्त्रदीपिकान्तर्गत तर्कपाद जैसे ग्रन्थ लिखकर तर्कशास्त्रको मीमासक दृष्टिसे प्रतिष्ठित किया। श्लोकवार्तिकमे तो कुमारिलने[1] एक स्वतन्त्र अनुमान-परिच्छेदकी रचना करके अनुमानका विशिष्ट चिन्तन किया है और व्याप्य ही क्यों गमक होता है इसका सूक्ष्म विचार करते हुए उन्होंने व्याप्य एवं व्याप्तिके सम और विषम दो रूप बतलाकर अनुमानकी समृद्धि की है।

(ङ) वेदान्त और सांख्यपरम्परामें अनुमान-विकास

वेदान्तमे भी प्रमाणशास्त्रको दृष्टिसे वेदान्तपरिभाषा जैसे ग्रन्थ लिखे गये है। सांख्य विद्वान् भी पीछे नही रहे। ईश्वरकृष्णने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उसे त्रिविध प्रतिपादित किया है। माठर, युक्तिदीपिकाकार, विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति आदिने अपनी व्याख्याओं द्वारा उसे सम्पुष्ट और विस्तृत किया है।

•

---

१. मी० श्लो० अनुमा० परि० श्लोक ४-७ तथा ८-१७१।

द्वितीय परिच्छेद

जैन-परम्परामें अनुमान-विकास

सम्प्रति विचारणीय है कि जैन वाङ्मयमें अनुमानका विकास किस प्रकार हुआ और आरम्भमें उसका क्या रूप था ?

(क) षट्खण्डागममें हेतुवादका उल्लेख

जैन श्रुतका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागममें श्रुतके पर्याय-नामोंमें एक 'हेतुवाद'[1] नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीर-सेनने हेतुद्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तुका ज्ञान करना किया है और जिसपरसे उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमानका भी हेतुसे साध्यका ज्ञान करना अर्थ है। अतएव हेतुवादका व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्ति-शास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रने सम्भवत. ऐसे ही शास्त्रको 'युक्त्यनुशासन'[2] कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक बतलाया है।

(ख) स्थानांगसूत्रमें हेतु-निरूपण

स्थानांगसूत्र[3] में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और उसका प्रयोग प्रमाणसामान्य[4] तथा अनुमानके प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनोंके अर्थमें हुआ है। प्रमाणसामान्य-के अर्थमें उसका प्रयोग इस प्रकार है—

---

१. ···हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो···।
—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्खण्डा० ५।५।५१; सोलापुर संस्करण १६६५।

२. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० ४८; वीरसेवामन्दिर दिल्ली।

३. अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—पच्चक्खे अनुमाने उवमे आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते त जहा—अत्थि त अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि तं णत्थि सो हेऊ।
—स्थानांगसू० पृष्ठ ३०९–३१०।

४. हिनोति परिच्छिनत्त्यर्थमिति हेतुः।

१. हेतु चार प्रकारका है—

(१) प्रत्यक्ष
(२) अनुमान
(३) उपमान
(४) आगम

गौतमके न्यायसूत्रमें भी ये चार भेद अभिहित हैं। पर वहाँ इन्हें प्रमाणके भेद कहा है।

हेतुके अर्थमें हेतु शब्द निम्न-प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२. हेतुके चार भेद हैं—

(१) विधि विधि—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)
(२) विधि-निषेध—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)
(३) निषेध-विधि—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)
(४) निषेध-निषेध—(साध्य और साधन दोनों निषेध रूप हों)

इन्हें हम क्रमश. निम्न नामोंसे व्यवहृत कर सकते है—

(१) विधिसाधक विधिरूप[1]	अविरुद्धोपलब्धि[2]
(२) विधिसाधक निषेधरूप	विरुद्धानुपलब्धि
(३) निषेधसाधक विधिरूप	विरुद्धोपलब्धि
(४) प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप	अविरुद्धानुलब्धि[3]

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

(१) अग्नि है, क्योकि धूम है।
(२) इस प्राणीमें व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नही है।
(३) यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योकि उष्णता है।
(४) यहाँ धूम नही है, क्योंकि अग्नि का अभाव है।

---

१. धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५–९९।
२. माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।५७–५८।
३. तुलना कीजिए—
 १. पर्वतोऽयमग्निमान् धूमत्वान्यथानुपपत्तेः—धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५।
 २. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।
 ३. नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।
 ४. नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।
 —माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।८७, ७६, ८२।

(ग) भगवतीसूत्रमें अनुमानका निर्देश

भगवतीसूत्रमें[1] भगवान् महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम (इन्द्रभूति) गणधरके संवादमें प्रमाणके पूर्वोक्त चार भेदोंका उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है।

(घ) अनुयोगसूत्रमें अनुमान-निरूपण

अनुमानकी कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगसूत्रमें उपलब्ध होती है। इसमें अनुमानके भेदोंका निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है।

१. अनुमान-भेद :

इसमें[2] अनुमानके तीन भेद बताए हैं। यथा—

(१) पुव्ववं (पूर्ववत्)
(२) सेसवं (शेषवत्)
(३) दिट्ठसाहम्मवं (दृष्टसाधर्म्यवत्)

१. पुव्ववं[3]—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तरमें किंचित् परिवर्तन होनेपर भी उसे प्रत्यभिज्ञाद्वारा पूर्वलिंगदर्शनसे अवगत करना 'पुव्ववं' अनुमान है। जैसे बचपनमें देखे गये बच्चेको युवावस्थामें किंचित् परिवर्तनके साथ देखने पर भी पूर्व चिन्हों द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है। यह 'पुव्ववं' अनुमान क्षेत्र, वर्ण, लाछन, मस्सा और तिल प्रभृति चिन्होंसे सम्पादित किया जाता है।

२. सेसवं[4]—इसके हेतुभेदसे पाँच भेद हैं—

(१) कार्यानुमान
(२) कारणानुमान
(३) गुणानुमान

---

१. गोयमा णो तिणट्ठे समट्ठे।. से किं तं पमाणं ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं।
—भगवती० ५,३,१९१-९२।

२, ३, ४. अणुमाणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—१. पुव्वव, २. सेसवं, ३. दिट्ठसाहम्मवं। से किं पुव्ववं ? पुव्ववं—

माया पुत्तं जहा नट्ठं जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाणेज्जा पुव्वलिंगेण केणई॥

तं जहा—खेतेण वा, वण्णेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलएण वा। से तं पुव्ववं। से किं तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा—१. कज्जेणं, २. कारणेणं, ३. गुणेणं, ४. अवयवेणं, ५ आसएणं।
—मुनि श्रीकन्हैयालाल, अनुयोगद्वारसूत्र, मूलसुत्ताणि, पृष्ठ ५३९।

(४) अवयवानुमान
(५) आश्रयी-अनुमान

(१) कार्यानुमान—कार्यसे कारणको अवगत करना कार्यानुमान है। जैसे—शब्दसे शंखको, ताडनसे भेरीको, ढाडनेसे वृषभको, केकारवसे मयूरको, हिनहिनाने (ह्रेषित) से अश्वको, गुलगुलायित (चिंघाडने) से हाथीको और घणाघणायित (घनघनाने) से रथको अनुमित करना।[1]

(२) कारणानुमान—कारणसे कार्यका अनुमान करना कारणानुमान है। जैसे—तन्तुसे पटका, वीरणसे कटका, मृत्पिण्डसे घड़ेका अनुमान करना। तात्पर्य यह कि जिन कारणोंसे कार्योंकी उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्योंका अवगम प्राप्त करना 'कारण' नामका 'सेसवं' अनुमान है।[2]

(३) गुणानुमान—गुणसे गुणीका अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, स्पर्शसे वस्त्रका और निकषसे सुवर्णका अनुमान करना।[3]

(४) अवयवानुमान—अवयवसे अवयवीका अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींगसे महिषका, शिखासे कुक्कुटका, शुण्डादण्डसे हाथीका, दाढसे वराहका, पिच्छसे मयूरका, लांगूलसे वानरका, खुरासे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरीगायका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गौ आदिका, बहुपादसे कनगोजर (पटार) का, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूडीसहित बाहुसे महिलाका, बद्धपरिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोण पाकका और एक गाथासे कविका अनुमान करना।[4]

---

१. कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किंकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं।
—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५३९।

२. कारणेणं—तन्तवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिंडकारणं, से तं कारणेणं।
—वही, पृष्ठ ५४०।

३. गुणेणं—सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं।
—वही, पृष्ठ ५४०।

४. अवयवेणं—महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसाणेणं, वराहं दाढाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चमरिं वालग्गेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउप्पयं गवमादि, बहुपयं गोमि आदि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा-परिअरबंधेण भडं जाणिज्जा महिलियं निवसणेणं, सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए, से तं अवयवेणं।
—वही, पृष्ठ ५४० :

(५) आश्रयी-अनुमान—आश्रयीसे आश्रयका अनुमान करना आश्रयी-अनुमान है। यथा—धूमसे अग्निका, बलाकासे जलका, विशिष्ट मेघोंसे वृष्टिका और शील-समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान करना।

शेषवत्के इन पाँचों भेदोंमें अविनाभावी एकसे शेष (अवशेष) का अनुमान होनेसे उन्हें शेषवत् कहा है।

३. दिट्ठसाहम्मवं—इस अनुमानके दो भेद हैं। यथा—

(१) सामन्नदिट्ठ (सामान्य-दृष्ट)

(२) विसेसदिट्ठ (विशेषदृष्ट)

(१) किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओंका साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओंको एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्यका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा—जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुतसे मनुष्य हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य हैं वैसा एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुतसे करिशावक हैं, जैसे बहुतसे करिशावक हैं वैसा एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है वैसे अनेक कार्षापण हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसा एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शनद्वारा ज्ञातसे अज्ञातका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमानका प्रयोजन है।

(२) जो अनेक वस्तुओंमेंसे किसी एकको पृथक् करके उसके वैशिष्ट्यका प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुतसे पुरुषोंके बीचमेंसे पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुतसे कार्षापणोंके मध्यमें पूर्वदृष्ट कार्षापणको देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकारका ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है।

२. कालभेदसे अनुमानका त्रैविध्य[3] :

कालकी दृष्टिसे भी अनुयोग-द्वारमें अनुमानके तीन प्रकारोंका प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१. अतीतकालग्रहण, २. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३ अनागतकालग्रहण।

---

१. आसयणं—अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्ठिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं। से तं आसयणं। से तं सेसवं।
—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५४०-४१

२. से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ? दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं। जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च। —वही, पृष्ठ ५४१-४२

३. तस्स समासओ तिविहं गहणं भवई। तं जहा—१. अतीतकालगहणं, २. पडुप्पण्णकालगहणं, ३. अणागयकालगहणं। ...। —वही, पृष्ठ ५४१-५४२।

१. अतीतकालग्रहण—उत्तृण वन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीर्घिका-तडाग आदि देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि हुई है, यह अतीतकाल-ग्रहण है।

२. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्यामें प्रचुर भिक्षा मिलती देख अनुमान करना कि सुभिक्ष है, यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण है।

३. अनागतकालग्रहण—बादलकी निर्मलता, कृष्ण पहाड, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध सन्ध्या, वारुण या माहेन्द्रसम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात इनको देख कर अनुमान करना कि सुवृष्टि होगी, यह अनागतकालग्रहण अनुमान है।

उक्त लक्षणोंका विपर्यय देखने पर तीनों कालोंके ग्रहणमें विपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् सूखी जमीन, शुष्क तालाब आदि देखने पर वृष्टिके अभाव-का, भिक्षा कम मिलने पर वर्तमान दुर्भिक्षका और प्रसन्न दिशाओ आदिके होने पर अनागत कुवृष्टिका अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वारमे सोदाहरण अभि-हित है। उल्लेखनीय है कि कालभेदसे तीन प्रकारके अनुमानोका निर्देश चरक-सूत्रस्थान (अ० ११।२१,२२) मे भी मिलता है।

न्यायसूत्र[1], उपायहृदय[2] और साख्यकारिका[3]मे भी पूर्ववत् आदि अनुमानके तीन भेदोका प्रतिपादन है। उनमे प्रथमके दो वही है जो ऊपर अनुयोगद्वारमे निर्दिष्ट हैं। किन्तु तीसरे भेदका नाम अनुयोगकी तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न हो कर सामान्यतोदृष्ट है। अनुयोगद्वारगत पूर्ववत् जैसा उदाहरण उपायहृदय (पृ० १३) में भी आया है।

इन अनुमानभेद-प्रभेदो और उनके उदाहरणोके विवेचनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतमके न्यायसूत्रमे जिन तीन अनुमानभेदोंका निर्देश है वे उस समयकी अनुमान-चर्चामे वर्तमान थे। अनुयोगद्वारके अनुमानोकी व्याख्या अभिधामूलक है। पूर्ववत्का शाब्दिक अर्थ है पूर्वके समान किसी वस्तु-को वर्तमानमे देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना। स्मरणीय है कि दृष्टव्य वस्तु पूर्वोत्तरकालमें मूलत. एक ही है और जिसे देखा गया है उसके सामान्य धर्म पूर्वकालमें भी विद्यमान रहते है तथा उत्तरकालमें भी वे पाये जाते है। अतः पूर्वदृष्टके आधारपर उत्तरकालमे देखी वस्तुकी जानकारी प्राप्त करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रक्रियामें पूर्वांश अज्ञात है और उत्तरांश ज्ञात। अतः ज्ञातसे अज्ञात (अतीत) अंशकी जानकारी (प्रत्यभिज्ञा)की जाती है। जैसा कि अनुयोग

१. अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५।

२. उपायहृ० पृ० १३।

३. ईश्वरकृष्ण, सां० का० ५, ६।

और उपायहृदयमें दिये गये उदाहरणसे प्रकट है। शेषवत्में कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी एवं आश्रय-आश्रयीमेंसे अविनाभावी एक अंशको ज्ञातकर शेष (अवशिष्ट) अंशको जाना जाता है। शेषवत् शब्दका अभिधेयार्थ भी यही है। साधर्म्यको देखकर तत्तुल्यका ज्ञान प्राप्त करना दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है। यह भी वाच्यार्थमूलक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण सादृश्यप्रत्यभिज्ञानके तुल्य हैं। पर शब्दार्थके अनुसार यह अनुमान सामान्यदर्शनपर आश्रित है। दूसरे, प्राचीन कालमें प्रत्यभिज्ञानको अनुमान ही माना जाता था। उसे पृथक् माननेकी परम्परा दार्शनिकोंमें बहुत पीछे आयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोगसूत्रमें उक्त अनुमानोंकी विवेचना पारिभाषिक न होकर अभिधामूलक है।

पर न्यायसूत्रके व्याख्याकार वात्स्यायनने उक्त तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या वाच्यार्थके आधारपर नहीं की। उन्होंने उनका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावलीमें ग्रथित किया है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पारिभाषिक शब्दोंमें प्रतिपादित स्वरूपकी अपेक्षा अवयवार्थ द्वारा विवेचित स्वरूप अधिक मौलिक एवं प्राचीन होता है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि अभिधाके अनन्तर ही लक्षणा या व्यंजना या रूढ शब्दावली द्वारा स्वरूप-निर्धारण किया जाता है। दूसरे, वात्स्यायनकी त्रिविध अनुमान-व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्रकी अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विकसित है। अनुयोगद्वारसूत्रमें जिस तथ्यको अनेक उदाहरणों द्वारा उपस्थित किया है उसे वात्स्यायनने संक्षेपमें एक-दो पंक्तियोंमें ही निबद्ध किया है। अतः भाषाविज्ञान और विकास-सिद्धान्तकी दृष्टिसे अनुयोगद्वारका अनुमान-निरूपण वात्स्यायनके अनुमान-व्याख्यानसे प्राचीन प्रतीत होता है।

(ङ) अवयव-चर्चा :

अनुमानके अवयवोंके विषयमें आगमोंमें तो कोई कथन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके आधारसे रचित तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वार्थसूत्रकारने[1] अवश्य अवयवोंका नामोल्लेख किये बिना पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और दृष्टान्त इन तीनके द्वारा मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आरम्भमें जैन परम्परामें अनुमानके उक्त तीन अवयव मान्य रहे हैं। समन्तभद्र[2], पूज्यपाद[3] और सिद्धसेनने[4] भी इन्हीं तीन अवयवोंका निर्देश किया है। भद्रबाहुने[5] दशवैकालिक

---

१. त० सू० १०।५, ६, ७।
२. आप्तमी० ५, १७, १८ तथा युक्त्यनु० ५३।
३. स० सि० १०।५, ६, ७।
४. न्यायाव० १३, १४, १७, १८, १९।
५. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

निर्युक्तिमें अनुमानवाक्यके दो, तीन, पाँच, दस और दस इस प्रकार पाँच तरहसे अवयवोंकी चर्चा की है। प्रतीत होता है कि अवयवोंकी यह विभिन्न संख्या विभिन्न प्रतिपाद्योंकी[1] अपेक्षा बतलायी है।

ध्यातव्य है कि वात्स्यायन द्वारा समालोचित तथा युक्तिदीपिकाकार द्वारा विवेचित जिज्ञासादि दशावयव भद्रबाहुके दशावयवोंसे भिन्न है।

उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने मात्र उदाहरणसे भी साध्य-सिद्धि होनेकी बात कही है जो किसी प्राचीन परम्पराका प्रदर्शक है।[2]

इस प्रकार जैनागमोंमें हमें अनुमान-मीमांसाके पुष्कल बीज उपलब्ध होते हैं। यह सही है कि उनका प्रतिपादन केवल निःश्रेयसाधिगम और उसमें उपयोगी तत्त्वोंके ज्ञान एवं व्यवस्थाके लिए ही किया गया है। यही कारण है कि उनमें न्यायदर्शनकी तरह वाद, जल्प और वितण्डापूर्वक प्रवृत्त कथाओं, जातियों, निग्रहस्थानों, छलों तथा हेत्वाभासोंका कोई उल्लेख नहीं है।

(च) अनुमानका मूल-रूप

आगमोत्तर कालमें जब ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसाका विकास आरम्भ हुआ तो उनके विकासके साथ अनुमानका भी विकास होता गया। आगम-वर्णित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहने और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो भेदोंमें विभक्त करने वाले सर्वप्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ[3] हैं। उन्होंने[4] शास्त्र और लोकमें व्यवहृत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार ज्ञानोंको भी एक सूत्र द्वारा परोक्ष-प्रमाणके अन्तर्गत समाविष्ट करके प्रमाणशास्त्रके विकास-का सूत्रपात किया तथा उन्हें परोक्ष प्रमाणके आद्य प्रकार मतिज्ञानका पर्याय प्रतिपादन किया। इन पर्यायोंमें अभिनिबोधका जिस क्रमसे और जिस स्थान पर निर्देश हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सूत्रकारने[5] उसे अनुमानके अर्थमें प्रयुक्त किया है। स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्वको प्रमाण और उत्तर-उत्तरको प्रमाण-फल

---

१. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः।
—प्र० प० पृष्ठ ७२ में उद्धृत कुमारनन्दिका वाक्य।

२. श्रीदलसुखभाई मालवणिया, आगमयुगका जैन दर्शन, प्रमाणखण्ड, पृ० १५७।

३. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्; तत्प्रमाणे; आद्ये परोक्षम्; प्रत्यक्षमन्यत्।
—तत्त्वा० सू० १।९, १०, ११, १२।

४. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
—वही, १।१३।

५. गृद्धपिच्छ, त० सू० १।१३।

बतलाना उन्हें अभीष्ट है। मति (अनुभव-धारणा) पूर्वक स्मृति, स्मृतिपूर्वक संज्ञा, संज्ञा-पूर्वक चिन्ता और चिन्तापूर्वक अभिनिबोध ज्ञान होता है, ऐसा सूत्रसे ध्वनित है। यह चिन्तापूर्वक होनेवाला अभिनिबोध अनुमानके अतिरिक्त अन्य नहीं है। अतएव जैन परम्परामें अनुमानका मूलरूप 'अभिनिबोध' और पूर्वोक्त 'हेतुवाद' में उसी प्रकार समाहित है जिस प्रकार वह वैदिक परम्परामें 'वाको-वाक्यम्' और 'आन्वीक्षिकी' में निविष्ट है।

उपर्युक्त मीमांसासे दो तथ्य प्रकट होते हैं। एक तो यह कि जैन परम्परामें ईस्वी पूर्व शताब्दियोंसे ही अनुमानके प्रयोग, स्वरूप और भेद-प्रभेदोंकी समीक्षा की जाने लगी थी तथा उसका व्यवहार हेतुजन्य ज्ञानके अर्थमें होने लगा था। दूसरा यह कि अनुमानका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था। स्मृति, संज्ञा और चिन्ता, जिन्हें परवर्ती जैन तार्किकोंने परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रमाणोंका रूप प्रदान किया है, अनुमान (अभिनिबोध) में ही सम्मिलित थे। वादिराजने[1] प्रमाणनिर्णयमें सम्भवतः ऐसी ही परम्पराका निर्देश किया है जो उन्हें अनुमानके अन्तर्गत स्वीकार करती थी। अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव जैसे परोक्ष ज्ञानोका भी इसीमें समावेश किया गया है।[2]

(छ) अनुमानका तार्किक विकास

अनुमानका तार्किक विकास स्वामी समन्तभद्रसे आरम्भ होता है। आप्तमी-मासा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें उन्होने अनुमानके अनेकों प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उसके उपादानो—साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदिका निर्देश है। सिद्धसेनका न्यायावतार न्याय (अनुमान) का अवतार ही है। इसमें अनुमानका स्वरूप, उसके स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेद, उनके लक्षण, पक्ष-का स्वरूप, पक्षप्रयोगपर बल, हेतुके तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्विविध प्रयोगोंका निर्देश, साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तद्वय, अन्तर्व्याप्तिके द्वारा ही साध्यसिद्धि होने पर भार, हेतुका अन्यथानुपपन्नत्वलक्षण, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास जैसे अनुमानोपकरणोंका प्रतिपादन किया गया है। अकलंकके न्याय-विवेचनने तो उन्हें 'अकलंक न्याय' का संस्थापक एवं प्रवर्त्तक ही बना दिया है। उनके विशाल न्याय-प्रकरणोंमें न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय जैन

---

१. अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। —।
—वादिराज, प्र० नि० पृष्ठ ३३; माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला।

२. अकलंकदेव, त० वा० १।२०, पृष्ठ ७८; भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

प्रमाणशास्त्रके मूर्धन्य ग्रन्थोंमें परिगणित है। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्त-जयपताका आदि ग्रन्थोंमें अनुमान-चर्चा निहित है। विद्यानन्दने अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय-प्रबन्धोंको रचकर जैन न्यायवाङ्मयको समृद्ध किया है। माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख, प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, वादिराजका न्यायविनिश्चयविवरण, लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, धर्मभूषणकी न्यायदीपिका और यशोविजयकी जैन तर्कभाषा जैन अनुमानके विवेचक प्रमाणग्रन्थ हैं।

●

तृतीय परिच्छेद

संक्षिप्त अनुमान-विवेचन

अनुमानका स्वरूप

व्याकरणके अनुसार 'अनुमान' शब्दकी निष्पत्ति अनु + √मा + ल्युट् से होती है। अनुका अर्थ है पश्चात् और मानका अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमानका शाब्दिक अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान। अर्थात् एक ज्ञानके बाद होने वाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है। यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है? मनीषियोंका अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमानकी उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है। गौतमने इसी कारण अनुमानको 'तत्पूर्वकम्'[1]—प्रत्यक्षपूर्वकम्' कहा है। वात्स्यायनका[2] भी अभिमत है कि प्रत्यक्षके बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं। अतः अनुमानके स्वरूप-लाभमें प्रत्यक्षका सहकार पूर्वकारणके रूपमें अपेक्षित होता है। अतएव तर्कशास्त्री ज्ञात—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थसे अज्ञात—परोक्ष वस्तुकी जानकारी अनुमान द्वारा करते है।[3]

कभी-कभी अनुमानका आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ शास्त्रों द्वारा आत्माकी सत्ताका ज्ञान होने पर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत् है'। इसी कारण वात्स्यायनने[4] 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' अनुमानको प्रत्यक्ष या आगमपर आश्रित कहा है। अनुमानका पर्यायशब्द अन्वीक्षा[5] भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूमका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद अग्निका ज्ञान करना।

---

१. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्।
—न्यायसू० १।१।५।

२. अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम्। यथा धूमेनाग्निरिति।
—न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २२।

३. यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्।
—वही, २।१।४७, पृष्ठ १२०।

४. वही, १।१।१। पृष्ठ ७।

५. वही, १।१।१, पृष्ठ ७।

उपर्युक्त उदाहरणमें धूमद्वारा वह्निका ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम वह्निका साधन है। धूमको अग्निका साधन या हेतु[1] माननेका भी कारण यह है कि धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध—अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता। तात्पर्य यह कि एक अविनाभावी वस्तुके ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तुका निश्चय करना अनुमान है।[2]

अनुमानके अंग :

अनुमानके उपर्युक्त स्वरूपका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूमसे अग्निका ज्ञान करनेके लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१. पर्वतमें धूमका रहना और २. धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथमको पक्षधर्मता और द्वितीयको व्याप्ति कहा गया है। यही दो अनुमानके आधार अथवा अंग हैं[3]। जिस वस्तुसे जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूपसे पाया जाना पक्ष-धर्मता है। जैसे धूमसे पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करना है तो धूमका पर्वतमें अनि-वार्य रूपसे पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्यका पक्षमें रहना पक्षधर्मता है।[4] तथा साधनरूप वस्तुका साध्यरूप वस्तुके साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्निके होने पर ही पाया जाता है—उसके अभावमें नहीं, अतः धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों अनुमानके आधार हैं। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए बिना अनुमानका उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ - पर्वतमें धूमकी वृत्तिताका ज्ञान न होने पर वहाँ उससे अग्निका अनु-मान नहीं किया जा सकता। अतः पक्षधर्मताका ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्तिका ज्ञान भी अनुमानके लिए परमावश्यक है। यतः पर्वतमें धूमदर्शनके अनन्तर भी तब तक अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूमका अग्निके साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए। इस अनिवार्य सम्बन्धका नाम ही

१. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।

—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।१५।

२. व्याप्यस्य ज्ञानेन व्यापकस्य निश्चयः, यथा वह्निर्धूमस्य व्यापक इति धूमस्तस्य व्याप्य इत्येवं तयोर्भूयः सहचारं पाकस्थानादौ दृष्ट्वा पश्चात्पर्वतादौ उद्धूयमानशिखस्य धूमस्य दर्शने तत्र वह्निरस्तीति निश्चीयते।

—वाचस्पत्यम्, अनुमानशब्द, प्रथम जिल्द पृष्ठ १८१, चौखम्बा, वाराणसी, सन् १९६२ ई०।

३. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता च।

—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरू० पृष्ठ ८८, ८९।

४. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।

—अन्नम्भट्ट, तर्कसं० अनु० वि०, पृष्ठ ५७।

नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।[1] इसके अभावमें अनुमानकी उत्पत्तिमें धूमज्ञानका कुछ भी महत्त्व नहीं है। किन्तु व्याप्तिज्ञानके होने पर अनुमानके लिए उक्त धूमज्ञान महत्त्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्निज्ञानको उत्पन्न कर देता है। अतः अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनोंके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकोंने[2] व्याप्तिज्ञानको ही अनुमानके लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मताके ज्ञानको नहीं, क्योंकि अपक्षधर्म कृत्तिकोदय आदि हेतुओंसे भी अनुमान होता है।

(क) पक्षधर्मता :

जिस पक्षधर्मताका अनुमानके आवश्यक अंगके रूपमें ऊपर निर्देश किया गया है उसका व्यवहार न्यायशास्त्रमें कबसे आरम्भ हुआ, इसका यहाँ ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणादके वैशेषिकसूत्र और अक्षपादके न्यायसूत्रमें न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्रमें[3] साध्य और प्रतिज्ञा शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकारने[4] प्रज्ञापनीय धर्मसे विशिष्ट धर्मी अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्षका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्षशब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्यमें[5] यद्यपि न्यायभाष्यकारकी तरह धर्मी और न्यायसूत्रकी तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंगको त्रिरूप बतलाकर उन तीनों रूपोंका प्रतिपादन काश्यपके नामसे दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।[6] किन्तु

---

१. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।
—तर्कसं०, पृ० ५४। तथा केशवमिश्र, तर्कभा० पृष्ठ ७२।

२. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी॥
—वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८३-८४।

३. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।
—अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३३।

४. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः, अनित्यः शब्द इति।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३३ तथा १।१।३४।

५. अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा। प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेश-विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा।...।
—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ ११४।

६. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्॥
—वही, पृष्ठ १००।

उन तीन रूपोंमें भी पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका प्रयोग नहीं है।[1] हाँ, 'अनुमेय सम्बद्धलिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मका बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[2] हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथमें उनका स्वरूप-विवेचन भी किया है। जो धर्मीके रूपमें प्रसिद्ध है वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा वचन पक्षधर्म (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकारका वचन सपक्षानुगम (सपक्षसत्त्व) वचन है। 'जो नित्य होता है वह अकृतक देखा गया है, यथा आकाश' यह व्यतिरेक (विपक्षासत्त्व) वचन है। इस प्रकार हेतुको त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपोंका भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप हैं—१ पक्षधर्मत्व, २ सपक्षसत्त्व और ३ विपक्षासत्त्व। ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मताके लिए ही आया है। प्रशस्तपादने जिस तथ्यको 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्दसे प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकारने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके मतसे हेतुके तीन रूपोंमें परिगणित प्रथम रूप 'अनमेयसम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेशके अनुसार 'पक्षधर्मत्व'। दोनोंमें केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं। उत्तरकालमें तो प्रायः सभी भारतीय तार्किकोंके द्वारा तीन रूपों अथवा पाँच रूपोंके अन्तर्गत पक्षधर्मत्वका बोधक पक्षधर्मत्व या पक्षधर्मता पद ही अभिप्रेत हुआ है। उद्योतकर[3], वाचस्पति[4], उदयन[5], गंगेश,[6] केशव[7] प्रभृति वैदिक नैयायिकों तथा धर्मकीर्ति,[8] धर्मोत्तर[9], अर्चट[10] आदि बौद्ध तार्किकोंने अपने ग्रन्थोंमें उसका प्रतिपादन किया

१. प्र० भा० पृष्ठ १००।

२. पक्षः प्रसिद्धो धर्मी ।। हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति।...तद्यथा। अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम्। कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम्। यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति सपक्षानुगमवचनम्। यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाऽऽकाशमिति व्यतिरेकवचनम्।

——शंकरस्वामी, न्यायप्र० पृष्ठ १-२।

३. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।३५, पृष्ठ १२६, १३१।

४. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१५, पृष्ठ १७१।

५. उदयन, किरणा० पृष्ठ २९०, २९४।

६. त० चि० जागदी० टी० पृ० १३, ७१।

७. केशव मिश्र, तर्कभा० अनु० निरू० पृष्ठ ८८, ८९।

८-९. धर्मकीर्ति, न्यायबि०, द्वि० परि० पृष्ठ २२।

१०. अर्चट, हेतुबि० टी० पृष्ठ २४।

है। पर जैन नैयायिकोंने[1] पक्षधर्मतापर उतना बल नहीं दिया, जितना व्याप्तिपर दिया है। सिद्धसेन[2], अकलंक[3], विद्यानन्द[4], वादीभसिंह[5] आदिने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है। उनका मन्तव्य है[6] कि 'कल सूर्यका उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है, 'कल शनिवार होगा, क्योंकि आज शुक्रवार है', 'ऊपर देशमें वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेशमें प्रवाह दृष्टिगोचर हो रहा है', 'अद्वैतवादीको भी प्रमाण इष्ट है, क्योंकि इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नहीं हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्षधर्मताके अभावमें भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलपर साध्यके अनुमापक हैं।

(ख) व्याप्ति :

अनुमानका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य अंग व्याप्ति है। इसके होनेपर ही साधन साध्यका गमक होता है, उसके अभावमें नहीं। अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है। देखना है कि इन दोनों शब्दोंका प्रयोग कबसे आरम्भ हुआ है।

अक्षपाद[7] के न्यायसूत्र और वात्स्यायन[8] के न्यायभाष्यमें न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव। न्यायभाष्यमें[9] मात्र इतना मिलता है कि लिंग और लिंगीमें सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतमके हेतुलक्षण-प्रदर्शक सूत्रों[10] से भी केवल यही ज्ञान होता है कि हेतु वह है जो उदाहरणके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे साध्यका साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतुको पक्षमें रहने के अतिरिक्त सपक्षमें विद्यमान और विपक्षसे व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतुलक्षणसूत्रोंसे ध्वनित होता है, हेतुको व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविना-

१. न्यायवि० २।१७६।
२. सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०।
३. न्यायवि० २।२२१।
४. प्रमाणपरी० पृष्ठ ७२।
५. वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८७।
६. अकलंक, लघीय० १।३।१४।
७. न्यायसू० १।१।५, ३४, ३५।
८. न्यायभा० १।१।५, ३४, ३५।
९. लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते।
—न्यायभा० १।१।५।
१०. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।
—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

भावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई संकेत नहीं मिलता। उद्योतकर[1] के न्यायवार्तिकमें अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त हैं। पर उद्योतकरने उन्हें परमतके रूपमें प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवार्तिककारको भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारकी तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्तिकी आलोचना (न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्तकी व्यवस्थामें उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूपमें किया है।[2] उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्रने[3] अविनाभावको हेतुके पाँच रूपोंमें समाप्त कहकर उसके द्वारा ही समस्त हेतुरूपोंका संग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने कथनको परम्परा-विरोधी समझकर अविनाभावका परित्याग कर दिया है और उद्योतकरके अभिप्रायानुसार पक्षधर्मत्वादि पाँच हेतुरूपोंको ही महत्त्व दिया है, अविनाभावको नहीं। जयन्त भट्टने[4] अविनाभावको स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंमें समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति और जयन्त भट्टके द्वारा जब स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्तिका प्रवेश न्यायपरम्परामें हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारोंने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएं आरम्भ कर दी। यही कारण है कि बौद्ध

---

१. (क) अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत्। अथापीदं स्यात् अविनाभावादग्निधूमयोरतो धूमदर्शनादग्निं प्रतिपद्यत इति। तन्न। विकल्पानुपपत्तेः। अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोऽर्थः? किं कार्यकारणभावः उतैकार्थसमवायः तत्सम्बन्धमात्रं वा ...।
—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५०, चौखम्भा, काशी, १९१६ ई०।
(ख) अथान्तरमवधारणमवगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः तथाप्यनुमेयमवधारितं व्याप्त्या न धर्मो, यत एव करणं ततोऽन्यत्रावधारणमिति। सम्भवव्याप्त्या चानुमेयं नियत...।
—वही, १।१।५, पृष्ठ ५५,५६।

२. (क) सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्यकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेन विशेष्यमाणो धर्मी गम्यते तत् सामान्यतोदृष्टं यथा बलाकया सलिलानुमानम्।
—न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४७।
(ख) प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।—वही, १।१।५, पृष्ठ ४९।

३. यद्यप्यविनाभावः पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिंगस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोबलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १७८, चौखम्भा, १९२५ ई०।

४. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते।
—न्यायकलिका पृष्ठ २।

तार्किकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैन तर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोगमें आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकरके बाद न्यायदर्शनमें समाविष्ट हो गये एवं उन्हें एक-दूसरेका पर्याय माना जाने लगा। जयन्त भट्टने[1] अविनाभावका स्पष्टीकरण करनेके लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्वको उसीका पर्याय बतलाया है। वाचस्पति मिश्र[2] कहते हैं कि हेतुका कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिये और स्वाभाविकका अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं। इस प्रकारका हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य। तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्तिशब्दोंपर जोर नहीं है। पर उदयन[3], केशव मिश्र[4], अन्नम्भट्ट[5], विश्वनाथ पंचानन[6] प्रभृति नैयायिकोंने व्याप्ति शब्दको अपनाकर उसीका विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मताके साथ उसे अनुमानका प्रमुख अंग बतलाया है। गंगेश और उनके अनुवर्ती वर्द्धमान उपाध्याय, पक्षधरमिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवगीश, जगदीश तर्कालिकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकोंने[7] व्याप्तिपर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन किया है। गङ्गेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानलक्षण[8] प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति[9] और पक्षधर्मता[10] दोनों अंगोंका नव्यपद्धतिसे विवेचन किया है।

प्रशस्तपाद-भाष्यमें[11] भी अविनाभावका प्रयोग उपलब्ध होता है। उन्होंने अविनाभूत लिंगको लिंगीका गमक बतलाया है। पर वह उन्हें त्रिलक्षणरूप ही अभिप्रेत है।[12] यही कारण है कि टिप्पणकारने[13] अविनाभावका अर्थ 'व्याप्ति' एवं

---

१. अविनाभावो व्याप्तिनियम. प्रतिबन्ध. साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः।
—न्यायकलि० पृष्ठ २।

२. तस्माद्यो वा स वाऽस्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते। तथा हि धूमादीनां वह्न्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः, न तु वह्न्यादीनां धूमादिभिः।...तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।

३. किरणा० पृष्ठ २९०, २९४, २९५-३०२।

४. तर्कभा० पृष्ठ ७२, ७८, ८२, ८३, ८८।

५. तर्कसं० पृष्ठ ५२-५७।

६. सि० मु० का० ६८, पृष्ठ ५१-५५।

७ इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभयसे यहाँ अप्रस्तुत हैं।

८. त० चि० अनु० खण्ड, पृ० १३।

९. वही, पृ० ७७-८२, ८६-८९, १७१-२०८, २०६-४३२।

१०. वही, अनु० ख० पृष्ठ ६२३-६३१।

११-१२. प्र० भा० पृ० १०३ तथा १००। १३. वही, ढुण्ढिराज शास्त्री, टिप्प० पृ० १०१।

'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभावके खण्डनसे सहमति प्रकट की है और 'वस्तुतस्त्वनौपाधिकसम्बन्ध एव व्याप्तिः'[1] इस उदयनोक्त[2] व्याप्तिलक्षणको ही मान्य किया है। इससे प्रतीत होता है कि अविनाभावको मान्यता वैशेषिकदर्शनकी भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है।

कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें[3] व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिसूत्रमें वे है और न शाबर-भाष्यमें।

बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें[4] भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नही हैं। पर उनके अर्थका बोधक नान्तरीयक (अनन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति[5], धर्मोत्तर[6], अर्चट[7] आदि बौद्ध नैयायिकोंने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दोंके साथ इन दोनोंका भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है।

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्तिका मूल स्थान क्या है ? अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिलसे पूर्व जैन तार्किक समन्तभद्रने[8], जिनका समय[9] विक्रमकी २री, ३री शती माना जाता है, अस्तित्वको नास्तित्वका और नास्तित्वको अस्तित्वका अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभावका व्यवहार किया है। एक दूसरे स्थल पर[10] भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभावका निर्देश मान्यताके रूपमे सर्वप्रथम समन्तभद्रने किया जाना पडता है। प्रशस्तपादकी तरह उन्होने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परामें हेतुलक्षणरूपमें ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपादने[11], जिनका अस्तित्व-समय ईसाकी पाँचवी शताब्दी है, अवि-

---

१ प्र० भा० टिप्प० पृष्ठ १०१।

२ किरणा० पृ० २९७।

३. मी० श्लोक अनु० खं० श्लो० ४, १२, ४३ तथा १६१।

४. न्या० प्र० पृष्ठ ४, ५।

५. प्रमाणवा० १।३, १।३२ तथा न्यायवि० पृ० ३०, ९३। हेतुवि० पृ० ५४।

६. न्यायवि० टी० पृष्ठ ३०।

७. हेतु वि० टी० पृष्ठ ७,८,१०,११ आदि।

८. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र पृष्ठ १९६।

९. अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
—आप्तमी० का १७,१८।

१०. धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया।
—वही, का० ७५।

११. स० सि० ५।१८, १०।४।

नाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है। सिद्धसेन[1], पात्रस्वामी[2], कुमारनन्दि[3] अकलंक[4] माणिक्यनन्दि[5] आदि जैन तर्कग्रन्थकारोंने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनोंका व्यवहार पर्यायशब्दोंके रूपमें किया है। जो (साधन) जिस (साध्य)के बिना उपपन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है।[6] असम्भव नहीं कि शाबरभाष्यगत[7] अर्थापत्त्युत्थापक अन्यथानुपपद्यमान और प्रभाकरकी बृहतीमें[8] उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमानको अभिन्न माननेवाले जैन तार्किकोंसे अपनाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रन्थोंमें अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त मिलते हैं और शान्तरक्षित[9] आदि प्राचीन तार्किकोंने उन्हें पात्रस्वामीका मत कह कर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अतः उनका उद्गम जैन तर्कग्रन्थोंसे बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि न्याय वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें आरम्भमें पक्षधर्मता (सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुगमें पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका आधार माना गया है। पर जैन तार्किकोंने आरम्भसे अन्त तक पक्षधर्मता (अन्य दोनों रूपों सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमानका अपरिहार्य अंग बतलाया है।

अनुमान-भेद :

प्रश्न है कि यह अनुमान कितने प्रकारका माना गया है ? अध्ययन करनेपर प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम कणादने[10] अनुमानके प्रकारोंका निर्देश किया है। उन्होंने उसको कण्ठत. संख्याका तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके प्रकारोंको

१. न्यायाव० १३, १८, २०, २२।
२. तत्त्वसं० पृ० ४०६ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि का०।
३. प्र० प० पृ० ७२ में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं' आदि कारि०।
४. न्या० वि० २।१८७, ३२३, ३२७, ३२६।
५. परी० मु० ३।११, १५, १६, ९४, ९५, ९६।
६. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं—। —न्यायवि० २।६९, तथा प्रमाणसं० २१।
७. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।
—शाबरभा० १।१।५, बृहती, पृष्ठ ११०।
८. केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम ? ···न हि अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या।
—बृहती पृ० ११०, १११।
९. तत्त्वसं० पृ० ४०५-४०८।
१०. वैशे सू० ९।२।१।

गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं— (१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) विरोधि और (५) समवायि। यतः हेतुके पाँच भेद हैं, अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र[1], उपायहृदय[2], चरक[3], सांख्यकारिका[4] और अनुयोगद्वारसूत्रमें[5] अनुमानके पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरकमें त्रित्वसंख्याका उल्लेख है, उनके नाम नहीं दिये। सांख्यकारिकामें भी त्रिविधत्व-का निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्टका नाम है।[6] किन्तु माठर[7] तथा युक्तिदीपिकाकार[8] ने तीनोंके नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वार-में प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरेका नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसा-धर्म्यवत् नाम है।

इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि तार्किकोंने उस प्राचीन कालमें कणादकी पंचविध अनुमान-परम्पराको नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानकी परम्पराको स्वीकार किया है। इस परम्पराका मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगसूत्र आदिमेंसे कोई एक? इस सम्बन्धमें निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमानकी कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमान-चर्चामें वर्तमान थी और जिसके स्वी-कारमें किसीको सम्भवतः विवाद नहीं था।

पर उत्तरकालमें यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नहीं रह सकी। प्रशस्तपादने[9] दो तरहसे अनुमान-भेद बतलाये हैं—१ दृष्ट और २ सामान्यतो-दृष्ट। अथवा १. स्वनिश्चितार्थानुमान और २ परार्थानुमान। मीमांसादर्शनमें शबरने[10] प्रशस्तपादके प्रथमोक्त अनुमानद्वैविध्यको ही कुछ परिवर्तनके साथ स्वीकार किया है—१ प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २ सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध।

---

१. न्यायसू० १।१।५।
२. उपायहृ० पृ० १३।
३. चरकसूत्रस्थान ११।२१, २२।
४. सां० का० का० ५।
५. मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० ५३९।
६. सां० का० का० ६।
७. माठरवृ० का० ५।
८. युक्तिदी० का० ५, पृष्ठ ४३, ४४।
९. प्रश० भा० पृ० १०४, १०६, ११३।
१०. शाबरभा० १।१।५, पृष्ठ ३६।

सांख्यदर्शनमें वाचस्पतिके[1] अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं। वीतानुमानको उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमानको शेषवत्‌रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है। ध्यातव्य है कि सांख्योंकी सप्तविध अनुमान-मान्यताका भी उल्लेख उद्योतकर[2], वाचस्पति[3] और प्रभाचन्द्रने[4] किया है। पर वह हमें सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं हो सकी। प्रभाचन्द्रने तो प्रत्येकका स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपादकी उक्त --१ स्वार्थ और २ परार्थभेदवाली परम्परा। उद्योतकरने[5] पूर्ववदादि अनुमानत्रैविध्यकी तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदोंका भी प्रदर्शन किया है। किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तकके नैयायिकोंने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ-परार्थके अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार नहीं किया। पर जयन्तभट्ट और उनके पश्चात्‌वर्ती केशव मिश्र[6] आदिने उक्त अनुमानद्वैविध्यका मान लिया है।

बौद्ध दर्शनमें दिङ्नागसे पूर्व उक्त द्वैविध्यकी परम्परा नहीं देखी जाती। परन्तु दिङ्नागने[7] उसका प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति[8] आदिने इसीका निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है।

जैन तार्किकोंने[10] इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिप्रतिपादित अनुमानत्रैविध्यको स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है।[11]

---

१. सां० त० कौ० का० ५, पृ० ३०-३२।
२. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५७।
३. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।
४. न्यायकु० च० १।१४, पृष्ठ ४६२।
५. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४६।
६. न्यायमं० पृष्ठ १३०, १३१।
७. तर्कभा० पृ० ७९।
८. प्रमाणसमु० २।१।
९. न्यायबि० पृ० २१, द्वि० परि०।
१०. सिद्धसेन, न्यायाव० का० १०। अकलंक, सि० वि० ६।२, पृष्ठ ३७३,। विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ७३। माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५०, ५१। देवसूरि, प्र० न० त० ३।९,१०,। हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८, पृष्ठ ३९ आदि।
११. अकलंक, न्यायविनि० ३४१,३४२,। स्याद्वादर० पृष्ठ ५२७। आदि।

इस प्रकार अनुमान-भेदोंके विषयमें भारतीय तार्किकोंकी विभिन्न मान्यताएँ तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होती हैं। तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेदसे अनुमानभेदका निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदिमें विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदिमें प्रतिपत्ताभेदसे अनुमान-भेदका प्रतिपादन ज्ञात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपादने[1] कहा है, अतः अनुमानके भेदोंकी संख्या पाँचसे अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदिकी दृष्टिमें चूँकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अत. अनुमेयके त्रैविध्यसे अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओंकी द्विविध प्रतिपत्तियोंकी दृष्टिसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं, जो बुद्धिको लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकारकी प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दोके द्वारा की जाती है। सम्भवतः इसीसे उत्तरकालमें अनुमानका स्वार्थ-परार्थद्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

अनुमानावयव :

अनुमानके तीन उपादान हैं,[2] जिनसे वह निष्पन्न होता है—१ साधन, २. साध्य और ३. धर्मी। अथवा[3] १. पक्ष और २. हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा गया है; अतः पक्षको कहनेसे धर्म और धर्मी दोनोंका ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूपसे उपादान है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी साध्यधर्मके आधाररूपसे, क्योंकि किसी आधार-विशेषमे साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्मकी सिद्धि करना अनुमानका ध्येय नही है, क्योंकि वह व्याप्ति-निश्चयकालमे ही अवगत हो जाता और न केवल धर्मीकी सिद्धि अनुमानके लिए अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्निवाला है' इस प्रकार पर्वतमें रहने वाली अग्निका ज्ञान करना अनुमानका लक्ष्य है। अत. धर्मी भी साध्यधर्मके आधार रूपसे अनुमानका अंग है। इस तरह साधन, साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनोके अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवारसे मंगलका अनुमान आदि। ऐसे अनुमानोंमें साधन और साध्य दो हो अंग है।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपाद्योंको अभिधेय-प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब वह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्यके नामसे अभिहित

---

१. प्रश० भा० पृ० १०४।

२. धर्मभूषण, न्यायदी० तृ० प्रकाश पृ० ७२।

३. वही, पृष्ठ ७२-७३।

होता है और उसके निष्पादक अंगोंको अवयव कहा गया है । परार्थानुमानवाक्यके कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्धमें तार्किकोंके विभिन्न मत हैं । न्यायसूत्रकारका[1] मत है कि परार्थानुमान वाक्यके पाँच अवयव हैं—१ प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन । भाष्यकारने[2] सूत्रकारके इस मतका न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने कालमें प्रचलित दशावयव-मान्यताका निरास भी किया है । वे दशावयव हैं—उक्त ५ तथा ६. जिज्ञासा, ७. संशय, ८. शक्यप्राप्ति, ९. प्रयोजन और १०. संशयव्युदास ।

यहाँ प्रश्न है कि ये दस अवयव किनके द्वारा माने गये हैं ? भाष्यकारने उन्हें 'दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते[3]' शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों'की मान्यता बतलाई है । पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है ।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकारको 'एके नैयायिकाः' पदसे प्राचीन सांख्य-विद्वान् युक्तिदीपिकाकार अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिकामें[4] उक्त दशावयवोंका न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतरूपमें उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है । युक्तिदीपिकाकार उन अवयवोंको बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं[5] कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पाँच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग । तात्पर्य यह कि अभिधेयका प्रतिपादन दूसरोंके लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा । पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषोंका निरास करते हुए युक्तिदीपिकामें कहा गया है[6] कि विद्वान् सबके अनुग्रहके लिए जिज्ञासादिका अभिधान करते हैं । यतः व्युत्पाद्य अनेक तरहके होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न । अतः इन सभीके लिए सन्तोंका प्रयास होता है । दूसरे, यदि प्रतिवादी प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो ? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवोंका वचन आवश्यक है । किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ ।

---

१. न्यायसू० १।१।३२ ।

२-३. न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७ ।

४-५. तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तोपसंहार-निगमनानि परप्रतिपादनांगमिति ।
—युक्तिदी० का० ६, पृष्ठ ४७ ।

६. अत्र ब्रूमः—न, उक्तत्वात् । उक्तमेतत् पुरस्तात् व्याख्यांगं जिज्ञासादयः । सर्वस्य चानुग्रहः कर्तव्य इत्येवमर्थं च शास्त्रव्याख्यानं विपश्चिद्भिः प्रत्याख्यते, न स्वार्थं तत्त्वबुभुत्सुपर्षदं वा ।
—वही० का० १, पृष्ठ ४९ ।

अन्तमें निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार[1] कहते हैं कि इसीसे हमने जो वीतानुमानके दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य[2] (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोगको न्याय-संगत मानते हैं।' इससे अवगत होता है कि दशावयवकी मान्यता युक्तिदीपिकाकारकी रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी सांख्य विद्वान्ने दशावयवोंको माना हो और युक्तिदीपिकाकारने उनका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहुने[3] भी दशावयवोंका उल्लेख किया है। जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपर्युक्त दशावयवोंसे कुछ भिन्न हैं।

प्रशस्तपादने[4] पाँच अवयव माने हैं। पर उनके अवयवनामों और न्याय-सूत्रकारके अवयवनामोंमें कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञाके स्थानमें तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतुके लिए अपदेश, दृष्टान्तके लिए निदर्शन, उपनयके स्थानमें अनु-सन्धान और निगमनकी जगह प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपादकी[5] एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकारने जहाँ प्रतिज्ञाका लक्षण 'साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा' यह किया है वहाँ प्रशस्तपादने 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' यह कहकर उसमें 'अविरोधी' पदके द्वारा प्रत्यक्ष-विरुद्ध आदि पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्या-भासों)का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकारने[6] भी प्रशस्तपादका अनुसरण करते हुए स्वकीय पक्षलक्षणमें 'अविरोधि' जैसा ही 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' विशेषण दिया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासोंका परिहार किया है।

न्यायप्रवेश[7] और माठरवृत्तिमें[8] पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार

---

१. 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः। तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते।'
—यु० दी० का० ६, पृष्ठ ५१।
'अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च। तत्र जिज्ञासादयो व्याख्यांगम्, प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनांगम्। तानुत्तरत्र वक्ष्यामः।'
— वही० का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

२. युक्तिदीपिकाकारने इसी बातको आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—१, १५, १६, ३५ और ५७ के प्रतीकों द्वारा समर्थित किया है।
—यु. दी. का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

३. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

४. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

५. वही, पृष्ठ ११४, ११५।

६. न्यायप्र० पृ० १।

७. वही, पृ० १, २।

८. माठरवृ० का० ५।

किये हैं। धर्मकीर्तिने[1] उक्त तीन अवयवोंमेंसे पक्षको निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायबिन्दु और प्रमाणवार्तिकमें उन्होंने केवल हेतुको ही अनुमानावयव माना है।[2]

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने[3] प्रकरणपंचिकामें, नारायण भट्टने[4] मानमेयोदयमें और पार्थसारथिने[5] न्यायरत्नाकरमें प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंके प्रयोगको प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्रका संकेत तत्त्वार्थसूत्रकारके अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोको माननेकी ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमांसा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) मे उक्त तीन अवयवोंसे साध्य-सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेनने[6] भी उक्त तीन अवयवोंका प्रतिपादन किया है। पर अकलंक[7] और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द[8], माणिक्यनन्दि[9], देवसूरि[10], हेमचन्द्र[11], धर्मभूषण[12], यशोविजय[13] आदिने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये है और दृष्टान्तादि अन्य अवयवोका निरास किया है। देवसूरिने[14] अत्यन्त व्युत्पन्नकी अपेक्षा मात्र हेतुके प्रयोगको भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते है कि बहुलतासे एकमात्र हेतुका प्रयोग न होनेसे उसे सूत्रमे ग्रथित नही किया। स्मरण रहे कि जैन न्यायमे उक्त दो अवयवोका प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे अभिहित है। किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योकी अपेक्षासे तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका भी प्रयोग स्वीकृत है।[15] देवसूरि[16], हेमचन्द्र[17] और यशोविजयने[18]

१. वादन्या० पृ० ६१। प्रमाणवा० १।१२८। न्यायबि० पृष्ठ ९१।
२. प्रमाणवा० १।१२८। न्यायबि० पृष्ठ ९१।
३. प्र० प० पृ० २२०।
४. मा० मे० पृ० ६४।
५. न्यायरत्ना० पृष्ठ ३६१ (मी० श्लोक अनु० परि० श्लोक ५३)।
६. न्यायाव० १३-१९।
७ न्या० वि० का० ३८१।
८. पत्रपरी० पृ० ६
९. परीक्षामु० ३।३७।
१०. प्र० न० त० ३।२८, २३।
११. प्र० मी० २।१।९।
१२. न्याय० दी० पृष्ठ ७६।
१३. जैनत० पृ० १६।
१४. प्र० न० त० ३।२३, पृ० ५४८।
१५. परी० मु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२। प्र० मी० २।१।१०।
१६. प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६५।
१७. प्र० मी० २।१।१०, पृष्ठ ५२। १८. जैनत० भा० पृष्ठ १६।

भद्रबाहुकथित पक्षादि पाँच शुद्धियोंके भी वाक्यमें समावेशका कथन किया और भद्रबाहुके दशावयवोंका समर्थन किया है।

अनुमान-दोष :

अनुमान-निरूपणके सन्दर्भमें भारतीय तार्किकोंने अनुमानके सम्भव दोषोंपर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी ज्ञानके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा गया है[1] कि प्रमाणसे अर्थ-संसिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे नहीं। और यह प्रकट है कि प्रामाण्यका कारण गुण है और अप्रामाण्यका कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्यके हेतु उसकी निर्दोषताका पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्क-ग्रन्थोंमें प्रमाण-निरूपणके परिप्रेक्ष्यमें प्रमाणाभास-निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्रमें[2] प्रमाणपरीक्षा प्रकरणमें अनुमानकी परीक्षा करते हुए उसमें दोषाशंका और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायनने[3] अननुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझनेकी चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमानमें क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकारके सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमानका गठन मुख्यतया दो अङ्गों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकारके हो सकते हैं और उन्हें क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान-प्रासादका वह प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है जिसपर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसीसे गौतमने[4] साध्यगत दोषोंका विचार न कर मात्र साधनगत दोषोंका विचार किया और उन्हें अवयवोंकी तरह सोलह पदार्थोंके अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थका स्थान प्रदान

---

१. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
—माणिक्यनन्दि परी० मु० मंगलश्लो० १।

२. न्यायसू० २।१।३८, ३९।

३. न्यायभा० २।१।३९।

४. न्यायसू० १।२।४-९।

किया है। इससे गौतमकी दृष्टिमें उनकी अनुमानमें प्रमुख प्रतिबन्धकत्ता प्रकट होती है। उन्होंने[1] उन साधनगत दोषोंको, जिन्हें हेत्वाभासके नामसे उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासोंकी पाँच संख्या सम्भवतः हेतुके पाँच रूपोंके अभावपर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतुके पाँच रूपोंका निर्देश न्यायसूत्रमें उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृतिने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकरने[2] हेतुका प्रयोजक समस्तरूपसम्पत्तिको और हेत्वाभासका प्रयोजक असमस्तरूपसम्पत्तिको बतला कर उन रूपोंका संकेत किया है। वाचस्पतिने[3] उनकी स्पष्ट परिगणना भी कर दी है। वे पाँच रूप हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनके अभावसे हेत्वाभास पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्टने[4] तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास होते हैं। न्यायसूत्रकारने एक-एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। वात्स्यायनने[5] हेत्वाभासका स्वरूप देते हुए लिखा है कि जो हेतुलक्षण (पंचरूप) रहित हैं परन्तु कतिपय रूपोंके रहनेके कारण हेतु-सादृश्यसे हेतुकी तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेवने[6] भी हेत्वाभासका यही लक्षण दिया है।

कणादने[7] अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने[8] उनका समर्थन किया है। विशेष यह कि उन्होंने[9] काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतुको त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपोंके अभावसे निष्पन्न होने वाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और

---

१. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।
 —न्यायसू० १।२।४।

२. समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।
 —न्यायवा० १।२।४, पृष्ठ १६३।

३. न्यायवा० ता० टी० १।२।४, पृष्ठ ३३०।

४. हेतोः पंचलक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामेकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः।
 —न्यायकलिका पृ० १४। न्यायमं० पृ० १०१।

५. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।
 —न्यायभा० १।२।४ की उत्थानिका, पृ० ६३।

६. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।

७. वै० सू० ३।१।१५।

८. प्रश० भा० पृ० १००-१०१।

९. प्रश० भा० पृ० १००।

सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासोंको बताया है। प्रशस्तपादका[1] एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शनके निरूपण-सन्दर्भमें बारह निदर्शनाभासोंका भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों)का भी कथन प्रशस्तपादने[2] किया है, जो बिलकुल नया है। सम्भव है न्यायसूत्रमें हेत्वाभासोंके अन्तर्गत जिस कालातीत (बाधितविषय—कालात्ययापदिष्ट)का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासोंका संग्रह न्यायसूत्रकारको अभीष्ट हो। सर्वदेवने[3] छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदयमें[4] आठ हेत्वाभासोंका निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्छल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्यसम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषोंका प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेशमें[5] पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकारके अनुमान-दोषोंका कथन है। पक्षाभासके नौ[6], हेत्वाभासके[7] तीन और दृष्टान्ताभासके[8] दस भेदोंका सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनैकान्तिक हेत्वाभासके छह भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारीका[9] भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकारने[10] दस दृष्टान्ताभासोंके अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभासको द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसी ही उनके दृष्टान्ताभासोंकी संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल[11] और उनके व्याख्याकार पार्थसारथिने[12] मीमांसक दृष्टिसे छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषोंका प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासोंमें प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रायः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकारकी तरह ही है। हाँ, शब्दविरोधके प्रतिज्ञातविरोध, लोक-

१. प्र० भा०, पृ० १२२, १२३।
२. वही, पृ० ११५।
३. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।
४. उ० हृ० पृ० १४।
५. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम्।
—न्या० प्र० पृ० २-७।
६, ७, ८. वही, २,३-७।
९. वही, पृ० ४।
१०. न्यायप्र० पृ० ७।
११. मी० श्लोक अनु० श्लोक० ५८-६१, १०८।
१२. न्यायरत्ना० मी० श्लोक० अनु० ५८-६१, १०८।

प्रसिद्धिविरोध और पूर्वसंजल्पविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद सर्वथा नये हैं, जो उनके मतानुरूप हैं। विशेष[1] यह कि इन विरोधोंको धर्म, धर्मी और उभयके सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। विविध हेत्वाभासोंके अवान्तर भेदोंका भी प्रदर्शन किया है और न्यायप्रवेशकी भाँति कुमारिलने[2] विरुद्धाव्यभिचारी भी माना है।

सांख्यदर्शनमें युक्तिदीपिका आदिमें तो अनुमानदोषोंका प्रतिपादन नहीं मिलता। किन्तु माठरने[3] असिद्धादि चउदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंका निरूपण किया है। निदर्शनाभासोंका प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपादके अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठरने प्रशस्तपादके बारह निदर्शनाभासोंमें दशको स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंको छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्पराके उपलब्ध न्यायग्रन्थोंमें सर्वप्रथम न्यायावतारमें अनुमान-दोषोंका स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमें पक्षादि तीनके वचनको परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकारके बतलाए हैं[4]—१. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो[5] भेद दिखाकर बाधितके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार[6] भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन[7] हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह[8] वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासोंका भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्य दृष्टान्ताभास तो प्रशस्तपादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे हो हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्यमें हैं[9] और न न्यायप्रवेशमें।[10] प्रशस्तपादभाष्यमे आश्रयासिद्ध,

---

१. मी० श्लो०, अनु० परि० श्लोक ७०, तथा व्याख्या।
२. वही, अनु० परि० श्लोक ९२ तथा व्याख्या।
३. माठरवृ० का० ५।
४. न्यायाव० का० १३, २१-२५।
५-६. वही, का० २१।
७. वही, का० २२, २३।
८, ९. वही, का० २४, २५।
९. प्रश० भा० पृ० १२३।
१०. न्यायप्र० पृ० ५-७।

अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयसिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेशमें अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुमें[1] उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्तिने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंका स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्तिने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासोंको अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासोंको और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंकने[2] पक्षाभासके उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदोंके अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासोंके सम्बन्धमें उनका मत है कि जैन न्यायमें हेतु न त्रिरूप है और न पाँच-रूप, किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभावमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिंचित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसीका विस्तार है। दृष्टान्तके विषयमें उनकी मान्यता है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और उसके साध्यविकलादि दोषोंका कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि[3], देवसूरि, हेमचन्द्र[4] आदि जैन तार्किकोंने प्रायः सिद्धसेन और अकलंकका ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों, अनुमानांगों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषोंपर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है।

●

---

१. न्या० बि० सू० परि० पृष्ठ ९४-१०२।
२. न्यायविनि० का० १७२, २९९, ३६५, ३६६, ३७०, ३८१।
३. परीक्षामु० ६।१२-५०।
४. प्रमाणन० ६।३८-८२।
५. प्रमाणमी० १।२।१४, २।१।१६-२७।

चतुर्थ परिच्छेद

भारतीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्र

यहाँ भारतीय अनुमानका पाश्चात्य तर्कशास्त्रके साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना प्रकृत विषयके अनुरूप एवं उपयोगी होगा।

विश्वमें घटित होनेवाली घटनाएँ प्रायः मिश्रित और अनेक स्थितियोंमें सम्पन्न होती हैं। इन अनेक स्थितियों या परिघटकों (Factors) मेंसे कुछ अनावश्यक और कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ रहती हैं। अतएव जब तक व्यर्थ या अनावश्यक परिस्थितियोंका परिहार न किया जाय तब तक हम घटनाके वास्तविक कारणको अवगत नहीं कर सकते और न कार्यकारण-शृङ्खलाकी निश्चित जानकारी ही प्राप्त की जा सकती है। मिल (Mill) ने भारतीय कार्य-कारणपरम्पराके अनुसार ही कॉज एण्ड इफैक्टस् (Cause and Effects) के अन्वेषणको पाँच विधियों द्वारा प्रदर्शित किया है—

(१) अन्वयविधि (Method of agreement).
(२) व्यतिरेकविधि (Method of Difference).
(३) संयुक्त अन्वय-व्यतिरेकविधि (Joint Method).
(४) सहभावी वैविध्यविधि (Method of Concomitant Variations).
(५) अवशेषविधि (Method of residues)

इन विधियोंमें दो प्रकारकी प्रक्रियाएँ उपयोगमें लायी जाती हैं—भावात्मक और अभावात्मक।

अन्वयविधि :

यदि किसी घटनाके दो-तीन उदाहरणोंमें एक ही सामान्य घटक (Common circumstance) पाया जाय तो वह परिघटक, जिसमें समस्त उदाहरणोंकी समानता व्याप्त है, उस घटनाका कार्य या कारण मालूम होता है। इस विधिमें कारण मालूम होने पर कार्य और कार्य मालूम होने पर कारण ज्ञात किया जाता है। यह विधि 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' वाली भारतीय प्रक्रियाके प्रायः समान है। भारतीय अन्वय-विधिमें साधनके सद्भावमें साध्यका सद्भाव दिखलाया जाता है और इस प्रक्रियामें कारणों द्वारा कार्योंका अथवा

कार्यों द्वारा कारणोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। मिल (Mill) ने निरीक्षण और प्रयोगात्मक दोनों ही विधियोंसे उदाहरणोंका संकलन कर कार्य-कारण-शृङ्खलाका विवेचन किया है।[1]

संयुक्त-अन्वयव्यतिरेकविधि :

यदि जाँच को जानेवाली घटनाओंके दो तीन उदाहरणोंमें कोई एक ही परिघटक सामान्य हो और ऐसे दो अन्य दो-तीन उदाहरणोंमें यह घटना या घटनाएँ घटित न हुई हों, पूर्व सामान्य परिघटकके अभाव या अनुपस्थितिके अतिरिक्त कुछ भी सामान्य न हो तो इस प्रकारके उदाहरणोंमें व्यतिरेक (Differing) परिघटक कारण या कार्यके कारणका अवश्य अङ्ग होगा। इस विधिमें भावात्मक (Positive) और अभावात्मक (Negative) दोनों प्रकारकी घटनाएँ उदाहरण के रूपमें ग्रहण की जा सकती हैं। भावात्मक उदाहरण अन्वयविधिके हैं और कारणकार्यको स्थापना निर्धारित करते हैं। अभावात्मक उदाहरण व्यतिरेकविधिके हैं, जो उक्त कारणकार्यकी स्थापनाको निश्चित रूप देते हैं। इस संयुक्त विधिको द्वयन्वयविधि भी कहा जाता है।[2]

इस संयुक्त अन्वय-व्यतिरेकविधिकी तुलना हम भारतीय अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिसे कर सकते हैं। प्राय. इस विधिमें वे ही परिणाम निकलते है जो परिणाम भारतीय अन्वय-व्यतिरेकव्याप्तिमें निकाले जाते हैं।

व्यतिरेकविधि :

अन्वय तथा अन्वय-व्यतिरेकविधियोंमें कार्यकारणकी सम्भावना ही निर्धारित की जा सकती है, पर उसके 'निश्चयीकरण' या सत्यताके लिए व्यतिरेक विधिकी आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दोंमें हम यो कह सकते हैं कि अन्वय तथा अन्वय-

---

1. If two or more instances of the phenomenon under investigation have only one circumstance in common, the circumstance in which alone all the instances agree is the cause (or effect) of the given phenomenon.
   —System of Logic; By John Stuart Mill, Longmans green and Co. London, 1898, Page, 255.
2. If an instance in which the phenomenon under investigation occurs and an instance in which it does not occur, have every circumstance in common save one, that one occuring only in the former; the circumstance in which alone the two instances differ is the effect or the cause, or an indispensable part of the cause, of the phenomenon,
   —वही, पृष्ठ २५६।

व्यतिरेकविधियाँ निरीक्षणको ही व्यवहारमें लानेके कारण केवल कारणकार्यको सूचित कर सकती हैं, पर प्रमाणीकरणके लिए व्यतिरेकविधिकी आवश्यकता है। यह प्रयोगविधि है। अतः प्रयोगात्मकरूपसे घटनाओंका विश्लेषण कर कार्य-कारणसम्बन्धका परिज्ञान किया जाता है। इसी कारण इस विधिको सर्वश्रेष्ठ विधि कहा गया है।

इस विधिकी परिभाषामें बताया है—"यदि किसी एक भावात्मक उदाहरण-में एक परिघटक उपस्थित हो और फिर किसी एक अभावात्मक उदाहरणमें वह परिघटक न हो तथा इस एक परिघटकके अतिरिक्त दोनों उदाहरण सभी प्रकार-से एक समान हों तो वह परिघटक, जिसमें भावात्मक और अभावात्मक उदाहरण भेद हैं, कार्य या कारण अथवा आवश्यक कारणांश होता है।[1]" स्पष्टीकरणके लिए यों माना जा सकता है कि दो पात्र है, जो एक ही समान शीशेसे निर्मित हैं, क्षेत्र और वजन भी दोनोंका समान है, दोनोंमें एक ही प्रकारकी विद्युत्घंटिकाएँ भी लगी है, पर दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि प्रथम पात्रमें वायु है और द्वितीय-में नहीं। अब हम देखते हैं कि उक्त अन्तरका परिणाम यह है कि प्रथम पात्रमें घण्टिकाकी ध्वनि सुनाई पड़ती है पर द्वितीयमें नहीं। इससे यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि वायु शब्द-संचारका विशेष कारणांश या आसन्न कारण है।

इस व्यतिरेकविधिकी तुलना भारतीय अनुमानके अङ्ग व्यतिरेकव्याप्तिसे की जा सकती है। वास्तवमें व्यतिरेकव्याप्ति ही, जिसे जैन तार्किकोंने अन्तर्व्याप्ति या अन्यथानुपपत्ति कहा है और जिसपर ही सर्वाधिक भार दिया है, अविनाभाव सम्बन्धकी प्रतिरूप है। मिल (Mill) ने अपने उक्त सिद्धान्तमें अविनाभाव सम्बन्धका ही विश्लेषण किया है।

सहचारी वैविध्यविधि :

कुछ ऐसे स्थायी कारण हैं जिनका अभावात्मक उदाहरण प्राप्त नहीं होता,

---

1. If two or more instances in which the phenomenon occurs have only one circumstance in common, while two or more instances in which it does not occur have nothing in common save the absence of that circumstance, the circumstance in which alone the two sets of instances differ is the effect or the cause, or an indispensable part of the cause of the phenomenon.

—System of logic, Longmans green and co. 1898, page 259.

पर ये स्थायी कारण भिन्न-भिन्न परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। अतः इसमें सहचारी वैविध्यविधिका प्रयोग किया जाता है। मिल (Mill) ने इसकी परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—"यदि किसी एक घटनामें परिवर्तन होनेसे दूसरी घटनामें विशेष प्रकारसे परिवर्तन हो तो उन घटनाओंमें कार्यकारणका सम्बन्ध होता है।[1]" घटनाओंके अनुपाती क्रममें घटने-बढ़नेका प्रकार चार तरहका हो सकता है—

(१) दोनों कारण और कार्य एक-दूसरेके अनुपातसे बढ़ें; यथा जितना गुड़ उतनी मिठास।

(२) दोनों कारण और कार्य एक-दूसरेके अनुपातसे घटें; यथा-गुड़के घटनेसे मिठासका घटना।

(३) कारण तो बढ़े, पर कार्य घटे; यथा—जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ते हैं वैसे-वैसे वायुका दबाव कम होता जाता है।

(४) कारण घटे तो कार्य बढ़े; यथा—किसी कामको करनेके लिए मजदूरोंकी संख्या जितनी घटती जाती है, कार्य करनेकी अवधि उतनी बढ़ती जाती है।

यों तो सहचारी वैविध्यविधि कहीं अन्वयव्याप्तिका रूप ग्रहण करती है, तो कहीं व्यतिरेकव्याप्तिका। पर यह विधि शुद्ध अन्वयविधि या शुद्ध व्यतिरेकविधिसे भिन्न है; क्योंकि इसके परिणाम अधिक स्वस्थ और निर्णयात्मक होते हैं।

अवशेष विधि (Method of residues)

इस विधिमें पूर्व ज्ञानकी विशेष आवश्यकता होती है। जब हमें एक मिश्रित घटनाके कारणका अन्वेषण करना होता है और बहुतसे कार्यफलके कारणोंको अवगत कर लेते हैं तो अवशेष कार्यफलके कारणको जाननेके लिए इस विधिकी आवश्यकता होती है। इसकी परिभाषमें बताया है—"यदि पूर्व आगमनके द्वारा यह निर्धारित हो कि किसी घटनाके कार्यफलका एक भाग कुछ पूर्ववर्ती परिघटकोंके द्वारा उत्पन्न होता है तो उस कार्यफलका शेष भाग पूर्ववर्ती परिघटकों-

---

1. Subduct from any phenomenon such part as is known by previous induction to be the effect of certain antecedents and the residue of the phenomenon is the effect of the remaining antecedents.

—System of Logic, by Mill, Longmans green and Co. 1898, page 260,

के द्वारा उत्पन्न होगा[1]।" उदाहरणार्थ यों समझा जा सकता है कि गाड़ी और ऊखका वजन तीस मन है और गाड़ीका वजन दस मन है तो हम अवशेषविधि द्वारा ऊखका वजन निकाल सकते हैं। अर्थात् तीस मन वजनमेंसे दश मन गाड़ीका वजन निकाल देनेपर ऊखका वजन बीस मन रह जायगा।

तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कारणसंयोग मालूम होने पर और एक ज्ञात कारणांशसे दूसरे अज्ञात कारणांशको अवगत कर लेना अवशेषविधिका कार्य है।

यह अवशेषविधि भारतीय अन्वय-व्यतिरेकविधिसे विशेष भिन्न नहीं है। जिस श्रेणीके कार्यकारणभावको अन्वय-व्यतिरेकविधि द्वारा अवगत किया जाता है प्रायः उसी श्रेणीके कार्यकारणभावको उक्त अवशेषविधि द्वारा ज्ञात किया जाता है।

अतएव भारतीय अनुमानप्रणाली और पाश्चात्य तर्कप्रणाली कार्यकारण-सम्बन्धकी दृष्टिसे समान हैं। पर यह स्मरणीय है कि भारतीय अनुमान पाश्चात्य तर्ककी अपेक्षा अधिक व्यापक है। इसमें ऐसे सम्बन्ध भी सम्मिलित हैं, जिनका ग्रहण पाश्चात्य तर्कशास्त्रमें न तो तादात्म्यसम्बन्ध द्वारा होता है और न कार्य-कारणसम्बन्ध द्वारा ही। यथा—'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है' में उक्त दोनो प्रकारके सम्बन्धोंमेंसे कोई भी सम्बन्ध नही है फिर भी यह अनुमान समीचीन है; क्योंकि इसमे हेतुका साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) विद्यमान है। अतएव भारतीय अनुमानका क्षेत्र पाश्चात्य तर्ककी अपेक्षा अधिक है। अतः अनुमानमे तो पाश्चात्य तर्कका अन्तर्भाव सम्भव है पर पाश्चात्य तर्कमें अनुमानका नहीं।

●

---

1. whatever phenomenon varies in any manner whenever another phenomenon varies in Some particular manner, is either causes or an effect of what phenomenon, or is connected with it through some fact of causation.
—System of Logic, by mill, Longmans, green and Co. 1898, 263.

अध्याय : २ :

प्रथम परिच्छेद

जैन प्रमाणवाद और उसमें अनुमान का स्थान

अनुमानका विस्तृत विचार करनेसे पूर्व यह आवश्यक है कि प्रमाणके प्रयोजन, स्वरूप, भेद एवं परोक्ष-प्रमाणपर भी विमर्श किया जाय, क्योंकि प्रमाणकी चर्चाके बिना अनुमानके स्वरूप आदिका स्पष्टीकरण सम्भव नही है। अतएव यहाँ प्रथमत. प्रमाणपर विचार किया जाता है।

(क) तत्त्व :

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं। जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है तथा तत्त्व, अर्थ और वस्तु ये तीनों अस्तित्व स्वभावसे बाहर नही हैं। इसलिए सत्का जो अर्थ है वही तत्त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोंका है वही सत्का है। निष्कर्ष यह कि ये चारों शब्द एकार्थक हैं। तत्त्व दो समूहोंमें विभक्त है—१. उपायतत्त्व और २. उपेयतत्त्व। उपायतत्त्व दो प्रकारका है[1]—१. ज्ञापक और २. कारक। ज्ञापक भी दो तरहका है—१. प्रमाण और २. प्रमाणाभास।

प्रमाण और प्रमाणाभासमें यह अन्तर है कि प्रमाण द्वारा यथार्थ जानकारी

---

१. 'उपायतत्त्वं ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम्। तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानं कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि।'

—अष्टस० टिप्प० पृ० २५६।

होती है, पर प्रमाणाभाससे नहीं। यही कारण है कि जब प्रमाणका विचार किया जाता है तो प्रमाणाभासकी भी मीमांसा की जाती है।[1]

कारकतत्त्व वह है जो कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापृत होता है। अर्थात् कार्यके उत्पादक कारणोंका नाम कारक है। प्रत्येक कार्यकी निष्पत्ति दो कारणोंसे होती है—१. उपादान और २. निमित्त (सहकारी)। उपादान वह है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह है जो उसमें सहायक होता है। उदाहरणार्थ घड़ेकी उत्पत्तिमें मृत्पिण्ड उपादान है और दण्ड, चक्र, चीवर, कुम्भकार प्रभृति निमित्त हैं। न्यायदर्शनमें इन दो कारणोंके अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी स्वीकृत है। वह है असमवायि। पर समवायिकारणगतरूपादि और संयोगरूप होनेसे उसे अन्य सभी दर्शनोंने उक्त दोनों कारणोंसे भिन्न नहीं माना।

उपेयतत्त्वके भी दो भेद हैं—१ ज्ञाप्य (ज्ञेय) और २. कार्य। जो ज्ञानका विषय होता है उसे ज्ञाप्य कहा जाता है और जो कारणों द्वारा निष्पाद्य या निष्पन्न है उसे कार्य :

(ख) प्रमाणका प्रयोजन :

प्रस्तुतमें हमारा प्रयोजन ज्ञापक-उपायतत्त्व-प्रमाणसे है।

जहाँ तक प्रमाणके विचारका प्रश्न है, इस तथ्यको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि विश्वके प्राणियोंकी, चाहे वे पशु-पक्षी हों, कीड़े-मकोड़े हों या मनुष्य, इष्टानिष्ट वस्तुओंके ज्ञानके लिए उसी प्रकार प्रवृत्ति (जिज्ञासा) पायी जाती है जिस प्रकार खाने-पीने और भोगनेकी वस्तुओंको प्राप्त करनेकी। इससे स्पष्ट है कि प्राणियोंमें जाननेकी प्रवृत्ति (जिज्ञासा) स्वाभाविक है। मनुष्य इतर प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और विचारशील है। अतः उसके लिए आवश्यक है कि उसे इष्टानिष्ट अथवा ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान अभ्रान्त हो। प्रमाणकी जिज्ञासा मनुष्यमें सम्भवतः इसीसे जागृत हुई होगी। यही कारण है कि प्रमाणकी मीमांसा न केवल अध्यात्मप्रधान भारतके मनीषियों द्वारा ही की गयी है, अपितु विश्वके सभी विचारकों एवं दार्शनिकोंने भी की है। आचार्य माणिक्यनन्दि[2] प्रमाणका प्रयोजन बतलाते हुए स्पष्ट लिखते हैं कि प्रमाणसे पदार्थोंका

---

१. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥
—माणिक्यनन्दि, परी० मु०, प्रतिज्ञाश्लोक १।

२. वही, प्रतिज्ञाश्लोक १।

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् प्राप्ति होती है, पर प्रमाणाभाससे नहीं। आचार्य विद्यानन्दने[1] भी इसी तथ्यको व्यक्त किया है।

(ग) अन्य तार्किकों द्वारा अभिहित प्रमाणका स्वरूप :

'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा वस्तु प्रमित हो, अर्थात् सही रूपमें जानी जाए। प्रश्न है कि सही जानकारी किसके द्वारा होती है ? इस प्रश्नपर प्रायः सभी प्रमाणशास्त्रियोंने विचार किया है। कणादने[2] बतलाया है कि प्रमाण (विद्या) वह है जो निर्दोष ज्ञान है। गौतम के न्यायसूत्रमें प्रमाणका लक्षण उपलब्ध नहीं होता, पर उनके भाष्यकार वात्स्यायनने[3] अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) को प्रमाण सूचित किया है। उद्योतकर[4], जयन्तभट्ट[5] आदि नैयायिकोंने वात्स्यायनके द्वारा सूचित उपलब्धि-साधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाणलक्षण स्वीकृत किया है।

यद्यपि उदयनने[6] यथार्थानुभवको प्रमा कहा है। पर वह उन्हें ईश्वर-प्रमाका ही लक्षण अभिप्रेत है। ज्ञात होता है कि अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले मीमांसक प्रभाकरका यह उनपर प्रभाव है, क्योंकि उदयनके पूर्व न्यायपरम्परामें प्रमाणसामान्यके लक्षणमें 'अनुभव' पदका प्रवेश उपलब्ध नहीं होता। उनके पश्चात् तो विश्वनाथ[7], केशव मिश्र[8], अन्नम्भट्ट[9] प्रभृति नैयायिकोंने अनुभवघटित ही प्रमाणका लक्षण किया है।

---

१. प्रमाणा दिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसंगतः।
—विद्यानन्द प्र० प० पृ० ६३।

२ 'अदुष्टं विद्या'। —वैशे० सू० ९।२।१२।

३. न्यायभा० १।१।३, पृ० १६।

४. न्यायवा० १।१।३, पृ० ५।

५. प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते।
—न्यायमं० पृष्ठ २५।

६. यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेष्यते।
—उदयन, न्यायकुसु० ४।१।

७. " बुद्धिस्तु द्विविधा मता। अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा॥
—विश्वनाथ, सिद्धान्तमु० का० ५१।

८. का पुनः प्रमा, यस्याः करणं प्रमाणम् ? उच्यते—यथार्थानुभवः प्रमा।
—केशवमिश्र, तर्कभा० पृ० १४।

९. अन्नम्भट्ट, तर्कसं० पृष्ठ ३२।

मीमांसक-मनीषी कुमारिल भट्टने प्रमाणका लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जो अपूर्वार्थविषयक, निश्चित, बाधाओंसे रहित, निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न और लोकसम्मत है वह प्रमाण है। इस प्रकार उन्होंने प्रमाणलक्षणमें पाँच विशेषणोंका निवेश किया है। यथा—

> तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
> अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्[1] ॥

पिछले सभी भाट्ट मीमांसकोंने इसी लक्षणको मान्यता दी है। दूसरे दार्शनिकोंकी[2] आलोचनाका विषय भी यही लक्षण रहा है।

मीमांसकपरम्पराके दूसरे सम्प्रदायके प्रभाकरने[3] अनुभूतिको प्रमाण कहा है और शालिकानाथ आदिने उसका समर्थन किया है।

सांख्यदर्शनमें ईश्वरकृष्ण[4] आदि विद्वानों द्वारा इन्द्रियवृत्तिको प्रमाण बतलाया गया है।

बौद्ध-दर्शनमें अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाण माना गया है।[5] दिङ्नागने[6] विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल कहकर उन्हें ही प्रमाण कहा है, क्योंकि इस दर्शनमें प्रमाण और फलको अभिन्न स्वीकार किया गया है।

---

१. यह श्लोक ग्रन्थकारोंने कुमारिलकर्तृक माना है। पर वह उनके वर्तमान मीमांसा-श्लोकवार्तिकमें उपलब्ध नहीं है। हो सकता है वह प्रतिलिपिकारों द्वारा छूट गया हो या उनके किसी अन्य ग्रन्थका हो, जो आज अनुपलब्ध है। —ले०।

२ विद्यानन्द, त० श्लोक० १।१०।७९।

३. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम्।
—प्रभाकर, बृहती १।१।५।

४. (क) रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
—सांख्यका० २८।

(ख) बुद्धिरहंकारो मनः चक्षुः इत्येतानि चत्वारि युगपद् रूपं पश्यन्ति, अयं स्थाणुः अयं पुरुषः इति "एवमेषा युगपच्चतुष्टयस्य वृत्तिः"'क्रमशश्च'''''।
—माठर वृ० ४७।

(ग) इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वा आदौ बुद्धेः अर्थाकारा वृत्तिः जायते।
—सांख्यप्र० भा० पृ० ४७। योगद० व्यासभाष्य पृ० २७ एवं योगवा० पृ० ३०।

५. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। —प्र० स० का० ३, पृष्ठ ११।

६. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः। विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥
—वही, १।१०।

धर्मकीर्ति[1] ने 'अविसंवादि' पद और जोड़कर दिङ्नागके प्रमाणलक्षणको प्रायः परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने[2] सारूप्य—तदाकारता और योग्यताको प्रमाणका लक्षण बतलाया है, जो एक प्रकारसे दिङ्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाण-सामान्यलक्षणका ही फलितार्थ है। इस तरह बौद्ध-दर्शनमें स्वसंवेदी अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है।

(घ) जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श :

जैन परम्परामें प्रमाणका क्या लक्षण है? आरम्भमें उसका क्या रूप रहा और उत्तरकालमें उसका किस तरह विकास हुआ? इत्यादि प्रश्नोंपर यहाँ विचार प्रस्तुत है।

१. समन्तभद्र और सिद्धसेन :

सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्रने प्रमाणका लक्षण निबद्ध किया है, जो इस प्रकार है—

स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।[3]

जो ज्ञान अपना और परका अवभास कराये वह प्रमाण है। जो केवल अपना या केवल परका अवभास कराता है वह ज्ञान प्रमाणकोटिमें सम्मिलित नहीं है। प्रमाणकोटिमें वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपनेको जाननेके साथ परको और परको जाननेके साथ अपनेको भी अवभासित करता है। और तभी उसमें सम्पूर्णता आती है।

सिद्धसेनने समन्तभद्रके उक्त लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है। वह है 'बाधविवर्जितम्'[4]।

यद्यपि 'स्वरूपस्य स्वतो गतेः'[5], 'स्वरूपाधिगतेः परम्'[6] आदि प्रतिपादनों द्वारा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध प्रमाणको स्वसंवेदी स्वीकार करते हैं तथा 'अज्ञातार्थ-

१. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अर्थक्रियास्थितिः।
   अविसंवादन,............................... ॥
   —धर्मकीर्ति प्रमाणवा० २-१, पृष्ठ २९।
२. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्य योग्यतापि वा।
   —शान्तरक्षित, तत्त्वसं० का० १३४४।
३. स्वय० स्तो० का० ६३।
४. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्।
   —न्यायाव०, का० १।
५. धर्मकीर्त्ति, प्रमाणवा० ३।४।
६. वही, ३।५।

ज्ञापकं प्रमाणम्[1]', 'अज्ञातार्थप्रकाशो वा[2]', 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रिया-स्थितिः[3]' आदि कथनों द्वारा सौत्रान्तिक (बहिरर्थाद्वैतवादी) बौद्ध उसे केवल परसंवेदी मानते हैं। पर किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ प्रकाशक नहीं माना। जैन तार्किकोंने ही प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ ज्ञापक स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान चमचमाता हीरा अथवा ज्योतिपुञ्ज दीपक है जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य बाह्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। और यह स्वपरप्रकाशक यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है। प्रमाणकी व्युत्पत्ति द्वारा हम देख चुके हैं कि 'प्रमीयतेऽनेन प्रमाणम्'—जिसके द्वारा प्रमा—अज्ञाननिवृत्ति हो वह प्रमाण है। नैयायिक यह प्रमा सन्निकर्ष-से मानते हैं। अतः उनके अनुसार सन्निकर्ष प्रमाण है। वैशेषिकोंका भी यही मत है। सांख्य इन्द्रियवृत्तिसे; मीमांसक इन्द्रियसे, बौद्ध सारूप्य एवं योग्यतासे प्रमिति स्वीकार करते हैं, अतः उनके यहाँ क्रमशः इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय और सारूप्य एवं योग्यताको प्रमाण माना गया है। समन्तभद्रने स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादन करके उक्त मतोंको अस्वीकार किया है।

पूज्यपाद :

पूज्यपादने[4] समन्तभद्रका अनुसरण तो किया ही। साथमें सन्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाण सम्बन्धी मान्यताओंकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष सम्भव न होनेसे उनका ज्ञान असम्भव है। फलतः सर्वज्ञताका अभाव हो जाएगा। दूसरे, इन्द्रियाँ अल्प—केवल मात्र स्थूल, और वर्तमान एवं आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय (सूक्ष्म, व्यवहितादिरूप) अपरि-मित हैं। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियोंसे समस्त ज्ञेयों (अतीत-अनागतों) का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। तीसरे, चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है। चक्षु स्पृष्टका ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थितका ग्रहण करनेसे अप्राप्यकारी है।[5] यदि चक्षु अप्रा-

---

१. दिङ्नाग, प्र० समु० (स्वोपज्ञ०) १।
२. प्रमाणवा० २।५।
३. वही, २।१।
४. पूज्यपाद, सर्वा० सि० १।१०।
५. (क) अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात्। यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमञ्जनं गृह्णीयात् न तु गृह्णात्यतो मनोवदप्राप्यकारीति।
—स० सि० १।१९, पृष्ठ ११६।
(ख) अकलंक, त० वा० १।१९, पृ० ६७, ६८,।
(ग) डा० महेन्द्रकुमार जैन, जैन दर्शन पृष्ठ २७०।

प्यकारी न हो—प्राप्यकारी हो तो उसे स्वयंमें लगे अंजनको देख लेना चाहिए। दूसरे, स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी तरह वह समीपवर्ती वृक्षकी शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ नहीं देख सकती। तीसरे, चक्षु अभ्रक, काँच और स्फटिक आदिसे आच्छादित पदार्थोंको भी देख लेती है, जब कि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उन्हें नहीं जान पातीं। चौथे, यह आवश्यक नहीं कि जो कारण हो वह पदार्थसे संयुक्त होकर ही अपना काम करे। चुम्बक दूरसे ही लोहेको खींच लेता है। पाँचवें, चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकटका व्यवहार नहीं हो सकता। इसी तरह संशय और विपर्यय ज्ञान भी नहीं हो सकते। इन सब कारणोंसे जैन दर्शनमें चक्षुको अप्राप्यकारी माना गया है।

पूज्यपादने[1] ज्ञानको प्रमाण माननेपर सन्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाणवादियों द्वारा उठायी गयी आपत्तिका भी परिहार किया है। आपत्तिकारका कहना है कि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार करनेपर फलका अभाव हो जाएगा, क्योंकि प्रमाणका फल 'अर्थज्ञान' है और उसे प्रमाण मान लेनेपर उसका कोई फल शेष नहीं रहता। सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण स्वीकार करनेपर तो स्पष्टतया उसका 'अर्थज्ञान' फल बन जाता है? इस आपत्तिका परिहार करते हुए पूज्यपाद कहते हैं कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर उसके फलको भी सन्निकर्षकी तरह दोमें रहनेवाला मानना पडेगा, फलत. घट, पट आदि अचेतन पदार्थोंमें भी ज्ञानके सद्भावका प्रसङ्ग आयेगा। यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानका समवाय चेतन आत्मामें है, घटादि अचेतन पदार्थों नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव न माननेसे अन्य अचेतनोंकी तरह उसमें भी ज्ञानका समवाय सम्भव नहीं है और आत्माको ज्ञस्वभाव स्वीकार करनेपर सिद्धान्त-विरोध आता है।

ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलके अभावका प्रसंग उपस्थित नहीं होता, क्योंकि पदार्थका ज्ञान होनेके उपरान्त प्रीति देखी जाती है।[2] यह प्रीति ही उसका फल है। अथवा उपेक्षा या अज्ञाननिवृत्ति प्रमाणका फल है। राग या द्वेषका न होना उपेक्षा है और अन्धकारतुल्य अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है।[3]

---

१. स० सि० १।१०, पृष्ठ ९७।

२. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति, नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्। रागद्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा। अन्धकारकल्पाज्ञाननाशो वा फलमित्युच्यते।
—वही, १-१०, पृष्ठ ९७, ९८।

३. (क) उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥
—समन्तभद्र आप्तमी० का० १०२,।
(ख) अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। —माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ५।१।

स्मरणीय है कि वात्स्यायन[1] और जयन्तभट्टने[2] भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है तथा उसका फल हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि बतलाया है। पर यह सत्य है कि न्यायदर्शनमें मुख्यतया उपलब्धिसाधनरूपमें सन्निकर्ष या कारक-साकल्यको ही प्रमाण माना गया है और ज्ञानको सभीने एक मतसे अस्वसंवेदी प्रतिपादन किया है।

अकलङ्क :

अकलंकने समन्तभद्रोपज्ञ उक्त प्रमाणलक्षण और पूज्यपादकी प्रमाणमीमांसा-को मान्य किया है। पर सिद्धसेन द्वारा प्रमाणलक्षणमें दिया गया 'बाधविवर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उसके स्थानपर उन्होंने एक दूसरा ही विशेषण दिया है जो न्यायदर्शनके प्रत्यक्षलक्षणमें[3] निहित है, पर प्रमाणसामान्यलक्षण-वादियों और जैन तार्किकोंके लिए वह नया है। वह विशेषण है—व्यवसाया-त्मक[4]। अकलंकका मत है कि चाहे प्रत्यक्ष हो और चाहे अन्य प्रमाण। प्रमाण-मात्रको व्यवसायात्मक होना चाहिए। कोई भी ज्ञान हो वह निर्विकल्पक, कल्पनापोढ या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह सम्भव ही नहीं कि अर्थका ज्ञान हो और विकल्प न उठे। ज्ञान तो विकल्पात्मक ही होता है। इस प्रकार इस विशेषण द्वारा अकलंकने जहाँ बौद्धदर्शनके निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी[5] मीमांसा की है वहाँ न्याय-दर्शनमें मान्य अव्यपदेश्य[6] (अविकल्पक) प्रत्यक्षज्ञानकी भी समीक्षा की है। अकलंकने समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणगत 'स्व' और 'पर' पदके स्थानमें क्रमशः 'आत्मा' और 'अर्थ' पदोंका समावेश किया है तथा 'अवभासक' पदकी जगह 'ग्राहक' पद रखा है। पर वास्तवमें अर्थकी दृष्टिसे इस परिवर्तनमें कोई अन्तर नहीं—मात्र शब्दोंका भेद है। अकलंकदेवने प्रमाणके अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न

---

१. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।
—न्यायभा० १।१।३।

२. प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते।
तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्धयः॥ —न्यायमं० पृष्ठ ६२।

३. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
—अक्षपाद, न्यायसू० १।१।४।

४. यद्यपि स्थानांगसूत्र (१८५) में 'व्यवसाय' पद आया है पर तर्कग्रन्थोंके लिए वह नया ही था।

५. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।
—दिङ्नाग, प्र० स० (प्र० परि०) का० ३।

६. इह हि द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति।
—वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी १।१।४, पृष्ठ १२५।

स्थलोंपर[1] दिये हैं। इन लक्षणोंमें मूल आधार तो अर्थार्थग्राहकत्व एवं व्यवसायात्मकत्व ही है, पर उनमें अर्थके विशेषणरूपसे कहीं उन्होंने 'अनधिगत', और कहीं 'अनिर्णीत' पदको दिया है। तथा कहीं ज्ञानके विशेषणरूपसे 'अविसंवादि'[2] पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्तिसे लिये गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पद पहलेसे निहित हैं।[3] 'अविसंवादि' पद तो धर्मकीर्तिसे पूर्व जैन चिन्तक पूज्यपादने भी सर्वार्थसिद्धि (१-१२) में दिया है।

विद्यानन्द :

विद्यानन्दने यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान'को[4] प्रमाण कहा है, जो आचार्य गृद्धपिच्छके[5] अनुसरणको व्यक्त करता है। पर पीछे उसे उन्होंने 'स्वार्थव्यवसायात्मक[6]' भी सिद्ध किया है। इस प्रकार उनके प्रमाणलक्षणमें अकलंककी तरह 'अनधिगत' विशेषण प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना अनिष्ट नहीं है। अकलंककी तरह उन्होंने भी स्मृत्यादिप्रमाणोंमें अपूर्वार्थताका स्पष्टतया समर्थन किया है।[7] वे उनकी प्रमाणता में अपूर्वार्थताको प्रयोजक बतलाते है। प्रमाणके सामान्यलक्षणमें जो उन्होंने 'अपू-

---

१,२. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।
—अष्टश० आ० मी० का० ३६, पृष्ठ २२। तथा देखिए 'अनिश्चित' और 'अनिर्णीत' पदों के लिए इसी ग्रन्थकी १००वीं का० की अ० श०।

३. (क) तत्रापूर्वार्थविज्ञान···।—कुमारिल।
(ख) प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्···।—धर्मकीर्ति, प्र० वा० २।१।

४. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।
—प्र० प० पृष्ठ ५१।

५. त० सू० १।९, १०।

६. किं पुनः सम्यग्ज्ञानम्? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।
—प्र० प० पृष्ठ ५३।

७. (क) 'सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बन्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रमाणयितव्यः, तस्य कथंचिदपूर्वार्थत्वात्।'
—प्र० प० पृष्ठ ७०।
(ख) स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं···न चासावप्रमाणमेव संवादकत्वात् कथंचिदपूर्वार्थग्राहित्वात्।
—प्र० प० पृष्ठ ६७।
(ग) गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै। तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः॥
—त० श्लोक० १।१३।१२, पृष्ठ १९५।

र्थि' या 'अनधिगत' विशेषणका निषेध नहीं किया उसका इतना ही तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि भी प्रत्यक्षादिसे अगृहीत देशकालादिविशिष्ट वस्तुको विषय करनेसे अपूर्वार्थ-ग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। विद्यानन्दने जिस अपूर्वार्थकी समीक्षा की है वह कुमारिलका अभिप्रेत सर्वथा अपूर्वार्थ है,[1] कथंचिद् अपूर्वार्थ नहीं। कथंचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें इष्ट है।

माणिक्यनन्दि :

विद्यानन्दके परवर्ती माणिक्यनन्दिने[2] अकलंक तथा विद्यानन्द द्वारा स्वीकृत और समर्थित समन्तभद्रोक्त लक्षणको ही अपनाया है। उन्होंने समन्तभद्रका 'स्व' पद ज्यों-का-त्यों रहने दिया और 'अर्थ' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोंको लेकर एवं अर्थके विशेषण रूपसे 'अपूर्व' पदको उसमें जोड़कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम्' प्रमाणलक्षण सृजित किया है। यद्यपि 'अपूर्वार्थ' विशेषण कुमारिल के प्रमाणलक्षणमें हम देख चुके हैं तथापि वह अकलंक और विद्यानन्द द्वारा 'कथंचिद् अपूर्वार्थ' के रूपमें जैन परम्परामें भी प्रतिष्ठित हो चुका था। माणिक्यनन्दि ने उसे ही अनुसृत किया है। माणिक्यनन्दिका यह प्रमाणलक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती अनेक जैन तार्किकोंने उसे ही कुछ आंशिक परिवर्तनके साथ अपने तर्कग्रन्थोंमें मूर्धन्य स्थान दिया है।

देवसूरि :

देवसूरिने[3] अपना प्रमाणलक्षण प्रायः माणिक्यनन्दिके प्रमाणलक्षणके आधारपर लिखा है।

हेमचन्द्र :

हेमचन्द्रने[4] उक्त लक्षणोंसे भिन्न प्रमाणलक्षण अंकित किया है। इसमें उन्होंने 'स्व' पदका समावेश नहीं किया। उसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं[5] कि

---

१. त० श्लोक० १।१०।७७, ७८, ७९।

२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।
—प० मु०, १।१।

३. स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति।
—प्र० न० त० १।२।

४. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।
—प्र० मी०, १।१।२।

५. स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्।...। न हि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम। ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्तः।
—प्र० मी०, १।१।३, पृ० ४।

'स्वनिर्णय' होता अवश्य है किन्तु वह प्रमाण-अप्रमाण सभी ज्ञानोंका सामान्य धर्म है। अतः उसे प्रमाण-लक्षणमें निविष्ट नहीं किया जा सकता। कोई ज्ञान ऐसा नहीं जो स्वसंवेदी न हो। अतएव हमने उसे प्रमाणका लक्षण नहीं कहा। वृद्धोंने जो उसे प्रमाणलक्षण माना है वह केवल परीक्षा अथवा स्वरूप प्रदर्शनके लिए ही। हेमचन्द्रने[1] प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' पदको भी अनावश्यक बतलाया है। गृहीष्यमाण अर्थके ग्राहक ज्ञानकी तरह गृहीत अर्थके ग्राही ज्ञानको भी प्रमाण माननेमें वे कोई बाधा नहीं देखते। यह ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर परम्पराके जैन तार्किकोंने प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' विशेषण स्वीकार नहीं किया।

धर्मभूषण :

अभिनव धर्मभूषणने[2] विद्यानन्दकी तरह सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाणका लक्षण प्रतिपादन किया है। पर उन्होंने उसका समर्थन एवं दोष-परिहार माणिक्यनन्दिके 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षणके आलोकमें ही किया है। तथ्य यह है कि वे समन्तभद्रके लक्षणको भी स्मरण रखते हैं।[3] इस तरह धर्मभूषणने प्रमाणके लक्षणको सविकल्पक, अग्रहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति, प्रभाकर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाण-लक्षणोंकी समालोचना की है।[4]

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन परम्परामें सम्यक्-ज्ञानको प्रमाण माना है और उसे स्वपरव्यवसायात्मक बतलाया गया है। कुछ ग्रन्थकार उसमें 'अपूर्व' विशेषणका भी निवेश करके उसे अग्रहीतग्राही प्रकट करते हैं। उनका मत है कि जितने भी प्रमाण हैं वे सब नये (अनिश्चित एवं समारोपित) विषयको ग्रहण करके अपनी विशेषता स्थापित करते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये वस्तुके उन अंशोंको ग्रहण करते हैं जो पूर्वज्ञानोंसे अग्रहीत रहते हैं। उदाहरणार्थ अनुभवके पश्चात् होने वाली स्मृति भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालोंमें व्याप्त वस्तुके अतीत अंशको विषय करती है जब कि अनुभव वर्तमान वस्त्वंशको। स्मरण रहे कि अंशके साथ अंशी अनुस्यूत रहता है। यही प्रत्यभिज्ञा आदिकी स्थिति है। अतः ये

१. गृहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।
—प्र० मी०, १।१।४, पृ० ४।

२. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।
—न्या० दी० पृष्ठ ९।

३. ज्ञानं तु स्वपरावभासकं प्रदीपादिवत्प्रतीतम्।
—वही, पृष्ठ १२, १।१३।

४. वही, पृष्ठ १८-२२।

ग्रन्थकार प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व', 'अनधिगत', 'अनिश्चित', 'अनिर्णीत' और 'अज्ञात' जैसा विशेषण आवश्यक समझते हैं। इस श्रेणीमें अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र और धर्मभूषण प्रभृति विद्वान हैं। पर कतिपय ग्रन्थ-लेखक उक्त पदको आवश्यक नहीं समझते। इनका मन्तव्य है कि प्रमाण गृहीत-ग्राही भी रहे तो उससे उसका प्रामाण्य समाप्त नहीं होता।[1] यह विचार देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति तार्किकोंका है। इतना तथ्य है कि प्रमाणको 'स्वार्थव्यवसाया-त्मक' सभीने स्वीकार किया है।

(घ) प्रमाण-भेद :

उक्त प्रमाण कितने प्रकारका है और उसके भेदोंका सर्वप्रथम प्रतिपादन करनेवाली परम्परा क्या है ? दार्शनिक ग्रन्थोंका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार भेदोंकी परिगणना करनेवाले न्यायसूत्रकार गौतमसे भी पूर्व प्रमाणके अनेक भेदोंकी मान्यता रही है, क्योंकि उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्ट रूपमें उल्लेख करके उनको अतिरिक्त प्रमाणताकी समीक्षा की है तथा शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें शेष तीनका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है।[2] प्रशस्तपादने प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंका ही समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदि प्रमाणोंका[3] इन्हीं दोमें समावेश किया है। तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्धदर्शनको भी इन्हींके अन्तर्गत सिद्ध किया है।[4]

प्रशस्तपादसे पूर्व कणादने प्रत्यक्ष और लैङ्गिकके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंकी कोई सम्भावना या गौतमकी तरह उनके समावेशादिकी चर्चा नहीं की। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणके उक्त दो भेदोंकी मान्यता प्राचीन है। चार्वाकके[5] मात्र अनुमान-समीक्षण और केवल एक प्रत्यक्षके समर्थनसे भी यही अवगत होता है। जो हो, इतना तथ्य है कि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोको वैशेषिकों[6] और

---

१. गृहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम्।
—प्र० मी०, १।१।४, पृष्ठ ४।

२. न चतुष्ट्वम्, ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्। शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमा-नेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः।
—न्या० सू० २।२।१, २।

३. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्।...।
—प्रश० भा० पृष्ठ १०६-१११।

४. वही, पृष्ठ १२७-१२९।

५. माधवाचार्य, सर्वद० सं० (चार्वाकदर्शन), पृष्ठ २।

६. तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम्।
—कणाद, वै० सू० १०।१।३।

बौद्धोंने[1]; प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनको सांख्योंने[2]; उपमान सहित चारको नैयायिकोंने[3] और अर्थापत्ति तथा अभाव सहित छह प्रमाणोंको जैमिनीयों (मीमांसकों)ने[4] स्वीकार किया है। आगे चलकर जैमिनीय दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हो गये—१ भाट्ट और २ प्राभाकर। भाट्टोंने तो छहो प्रमाणोको मान्य किया। पर प्राभाकरोंने अभावको छोड़ दिया तथा शेष पाँच प्रमाणोंको स्वीकार किया। इसीसे भाट्ट मीमांसक छह प्रमाणवादी और प्राभाकर पाँच प्रमाणवादीके रूपमें विश्रुत है। इस तरह विभिन्न दर्शनोंमें प्रमाणभेदको मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं।[5]

(क) जैन न्यायमें प्रमाणके भेद :

जैन न्यायमे प्रमाणके सम्भाव्य भेदोंपर विस्तृत ऊहापोह उपलब्ध है। श्वेताम्बर परम्पराके भगवतीसूत्रमे[6] चार प्रमाणोका उल्लेख है —१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान और ४ आगम। इसी प्रकार स्थानांगसूत्रमे[7] प्रमाणशब्दके स्थानमे हेतु शब्दका प्रयोग करके उसके उपर्युक्त प्रत्यक्षादि चार भेदोंका निर्देश किया गया है। प्राचीन कालमें हेतुशब्द प्रमाणके अर्थमे भी प्रयुक्त होता था। चरकमे[8] हेतुशब्दसे प्रमाणोका निर्देश हुआ है। इसके अतिरिक्त उपायहृदयमें[9] भी 'एवं चत्वारो

---

१. प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्॥
—दिङ्नाग, प्र० स० (प्र० परि०) का० २, पृ० ४।

२. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥
—ईश्वरकृष्ण, सांख्यका० ४।

३. प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।
—गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३।

४. शाबरभा० १।१।५।

५. जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः।
सांख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः॥
—अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्न० २।२ के टिप्पणमें उद्धृत पद्य, पृष्ठ ४३।

६. 'अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे।'
—स्था० सू० ३३८।

७. 'गोयमा—से किं त पमाणं ? पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ओवम्मे आगमे जहा अणुओगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं।
भ० सू० ५।३।१९१-१९२।

८. अथ हेतुर्नाम उपलब्धिकारणं तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति।
—चरक० विमानस्थान अ० ८, सू० ३३।

९. उपायहृदय पृ० १४।

हेतवः' कह कर प्रमाणोंको हेतु कहा है। स्थानांगसूत्रमें[1] एक दूसरी जगह व्यवसायके तीन भेदों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंका भी कथन किया है। सम्भव है सिद्धसेन[2] और हरिभद्रके[3] तीन प्रमाणोंकी मान्यताका आधार यही स्थानांग हो। श्री दलसुख मालवणियाका[4] मन्तव्य है कि उपर्युक्त चार प्रमाण नैयायिकादिसम्मत और तीन प्रमाण सांख्यादिस्वीकृत परम्परामूलक हों तो आश्चर्य नहीं। इस प्रकार भगवतीसूत्र और स्थानाङ्गमें चार और तीन प्रमाणोंका उल्लेख है, जो लोकानुसरणका सूचक है।

पर आगमोंमें मूलतः ज्ञान-मीमांसा ही प्रस्तुत है। षट्खण्डागममें[5] विस्तृत ज्ञान-मीमांसा दी गयी है। वहाँ तीन प्रकारके मिथ्याज्ञानों और पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंका निरूपण किया गया है तथा उन्हें वस्तुपरिच्छेदक बताया गया है। यद्यपि वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभास शब्द अथवा उस रूपमें विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। पर एक वर्गके ज्ञानोंको सम्यक् और दूसरे वर्गके ज्ञानोंको मिथ्या प्रतिपादित करनेसे अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये हैं वे सम्यक् परिच्छित्ति करानेसे प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या बताया गया है वे मिथ्या ज्ञान करानेसे अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट हैं। हमारे इस कथनकी संपुष्टि तत्त्वार्थसूत्रकारके निम्न प्रतिपादनसे भी होती है—

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।[6] तत्प्रमाणे।[7]

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान सम्यक्ज्ञान हैं और वे प्रमाण हैं।

आशय यह कि षट्खण्डागममें प्रमाण और प्रमाणाभासरूपसे ज्ञानोंका

---

१. 'तिविहे ववसाए पण्णत्ते—तं जहा पच्चक्खे पच्चतिते आणुगमिए।'
—स्था० सू० १८५।
२. न्यायाव० का० ८।
३. अने० ज० टी० पृ० १४२, २१५।
४. आगमयुगका जैनदर्शन पृ० १३६-१३८।
५. णाणाणुवादेण अत्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-णाणी आभिणिबोहिय-णाणी सुदणाणी ओहि-णाणी मणपज्जव-णाणी केवलणाणी चेदि। (ज्ञानकी अपेक्षा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये आठ ज्ञान हैं। इनमें आदिके तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और अन्तिम पांच ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं।)
—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्ख० १।१।११५।
६, ७. गृद्धपिच्छ, त० सू० १।९,१०।

विवेचन न होनेपर भी उस समयकी प्रतिपादनशैलीके[1] अनुसार जो उसमें पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान और तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान कहा गया है वह प्रमाण तथा प्रमाणाभासका अवबोधक है। राजप्रश्नीय, नन्दीसूत्र और भगवतीसूत्रमें भी ज्ञान-मीमांसा पायी जाती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान या प्रमाणके मति, श्रुत आदि पाँच भेदोंकी परम्परा आगममें उपलब्ध होती है।

पर इतर दर्शनोंके लिए वह अज्ञात एवं अलौकिक जैसी रही, क्योंकि अन्य दर्शनोंके प्रमाण-निरूपणके साथ उसका मेल नहीं खाता। अतः ऐसे प्रयत्नकी आवश्यकता थी कि आगमका समन्वय भी हो जाए और अन्य दर्शनोंके प्रमाण-निरूपणके साथ उसका मेल भी बैठ जाए। इस दिशामें सर्वप्रथम दार्शनिकरूपसे तत्त्वार्थसूत्रकारने समाधान प्रस्तुत किया।[2] उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञानमीमांसाको निबद्ध करते हुए स्पष्ट कहा[3] कि जो मति आदि पाँच ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण है और मूलमें वह दो भेदरूप है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। अर्थात् आगममें जिन पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहा गया है वे प्रमाण हैं तथा उनमें मति और श्रुत ये दो ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष तथा अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीन परसापेक्ष न होने एवं आत्ममात्रकी अपेक्षासे होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। आचार्य गृद्धपिच्छकी यह प्रमाणद्वययोजना इतनी विचारयुक्त तथा कौशल्यपूर्ण हुई कि प्रमाणोंका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समाविष्ट हो जाता है। उन्होंने अतिसंक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान)को[4] भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कहकर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रद्वारा उनका परोक्ष प्रमाणमें समावेश किया, क्योंकि ये सभी ज्ञान परसापेक्ष हैं। वैशेषिकों और बौद्धोंने भी प्रमाणद्वय स्वीकार किया है पर उनका प्रमाण-

---

१. वैशेषिकदर्शनके प्रवर्तक कणादने भी इसी शैलीसे बुद्धिके अविद्या और विद्या ये दो भेद बतलाकर अविद्याके संशय आदि चार तथा विद्याके प्रत्यक्षादि चार भेद कहे हैं तथा दूषित ज्ञान (मिथ्याज्ञान) को अविद्या और निर्दोष ज्ञान (सम्यग्ज्ञान)-को विद्याका लक्षण प्रतिपादन किया है।
—देखिए, वैशे० सू० ९।२।७,८,१० से १३ तथा १०।१।३।

२. यद्यपि स्थानांग (२, पृ० ४६, प) और भगवती (५, उ. ३, भाग २, पृष्ठ २११) में भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे पं० सुखलालजी संघवी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके बादका मानते हैं जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। देखिए—प्रमाणमी० टि० पृष्ठ २०।

३. 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।' 'तत्प्रमाणे, 'आद्ये परोक्षम्', प्रत्यक्षमन्यत्।'
—तत्त्वार्थ० १।९, १०,११,१२।

४. वही, १।१४।

द्वय प्रत्यक्ष और अनुमानरूप है और अनुमानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका समावेश सम्भव नहीं है। अतः आ० गृद्धपिच्छने उसे स्वीकार न कर प्रत्यक्ष और परोक्षरूप प्रमाणद्वयका व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया। उत्तरवर्ती जैन तार्किकों के लिए उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ। प्रायः सभीने अपनी कृतियोंमें उसीके अनुसार ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसा उपस्थित की है। पूज्यपादने[1] न्यायदर्शन आदि दर्शनोंमें पृथक् प्रमाणके रूपमें स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि प्रमाणोंको परसापेक्ष होनेसे परोक्षमें अन्तर्भाव किया और तत्त्वार्थ-सूत्रकारके प्रमाणद्वयका समर्थन किया है। अकलंकने[2] भी इस प्रमाणद्वयकी सम्पुष्टि की, साथ ही नये आलोकमें प्रत्यक्ष-परोक्षकी परिभाषाओं और उनके भेदोंका भी बहुत स्पष्टताके साथ प्रतिपादन किया है। परोक्षकी स्पष्ट संख्या हमें सर्वप्रथम उनके ग्रन्थोंमें ही उपलब्ध होती है[3] और प्रत्येकके लक्षण भी वहीं मिलते हैं। लगता है कि गृद्धपिच्छ और अकलंकने जो प्रमाण-निरूपणकी दिशा प्रदर्शित की उसीपर उत्तरवर्ती जैन तार्किक चले हैं। विद्यानन्द[4], माणिक्यनन्दि[5], हेमचन्द्र[6] और धर्मभूषण[7] प्रभृति तार्किकोंने उनका अनुगमन किया और उनके कथनको पल्लवित किया है।

स्मरणीय है कि आ० गृद्धपिच्छके इस प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणद्वय विभागसे कुछ भिन्न प्रमाणद्वयका प्रतिपादन भी हमें जैन दर्शनमें उपलब्ध होता है। वह प्रतिपादन है स्वामी समन्तभद्रका। स्वामी समन्तभद्रने[8] प्रमाण (केवलज्ञान)का

---

१. अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः।
   —पूज्यपाद, स० सि० १।११।

२. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः।
   परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥
   —अकलंक, लघीय० १।३।
   ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता।
   —लघीय० स्वो० वृ० १।३।

३. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।
   प्राङ् नामयोजनात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥
   —लघीय० १।११, तथा ३।६१।

४. विद्यानन्द, प्र० प०, पृ० ६३।

५. माणिक्यनन्दि, प० मु० २।१, २ तथा ३।१, २।

६. प्र० मी० १।१।९, १० तथा १।२।१,२।

७. न्या० दी० प्रत्यक्ष प्रकाश, पृ० २३ तथा परोक्षप्रकाश पृ० ५३।

८. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥
   —समन्तभद्र, आ० मी० का० १०१।

स्वरूप युगपत्सर्वभासी तत्त्वज्ञान बतलाकर ऐसे ज्ञानको अक्रमभावी और क्रमशः अल्पपरिच्छेदी ज्ञानको क्रमभावी कहकर प्रमाणको दो भागोंमें विभक्त किया है। समन्तभद्रके इन दो भेदोंमें जहाँ अक्रमभावि मात्र केवल है और क्रमभावि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान अभिमत हैं वहाँ गृद्धपिच्छके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणभेदोंमें प्रत्यक्ष तो अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान हैं तथा परोक्ष मति और श्रुत ये दो ज्ञान इष्ट हैं। प्रमाणभेदोंकी इन दोनों विचारधाराओंमें वस्तुभूत कोई अन्तर नहीं है। गृद्धपिच्छका निरूपण जहाँ ज्ञान-कारणोंकी सापेक्षता और निरपेक्षतापर आधृत है वहाँ समन्तभद्रका प्रतिपादन विषयाधिगमके क्रम और अक्रमपर निर्भर है। पदार्थों—ज्ञेयोंका क्रमसे होनेवाला ज्ञान क्रमभावि और युगपत् होने वाला अक्रमभावि प्रमाण है। पर इस विभागकी अपेक्षा गृद्धपिच्छका प्रमाणद्वय विभाग अधिक प्रसिद्ध और तार्किकों द्वारा अनुसृत हुआ है।

(च) परोक्ष-प्रमाणका दिग्दर्शन :

प्रमाणके प्रथम भेद प्रत्यक्षके स्वरूप और उसके भेद-प्रभेदोंकी यहाँ चर्चा न कर प्रकृत अनुमानसे सम्बद्ध उसके दूसरे भेद परोक्षकी परिभाषा और उसके भेदों पर संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है। पूज्यपादने परोक्षकी परिभाषा निम्न प्रकार प्रस्तुत की है—

पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरण-कर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते[1]।

'परोक्ष' पदमें स्थित 'पर' शब्दसे आत्मातिरिक्त इन्द्रियों, मन तथा प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तोंका ग्रहण विवक्षित है। उनकी सहायता तथा मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशम (ईषद् अभाव)की अपेक्षासे आत्मामें जो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान उत्पन्न होते है वे परोक्ष कहे जाते हैं। तात्पर्य यह कि पराधीन ज्ञानोंको परोक्ष[2] कहते हैं। इस परिभाषाके अनुसार इन्द्रियजन्य और मनोजन्य ज्ञान, जिन्हें इतरदर्शनोंमें[3] इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष कहा गया है, परोक्ष है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम ये ज्ञान भी परसापेक्ष[4] होनेसे परोक्षमें परिगणित हैं। परसापेक्ष

---

१. स० सि० १।११, पृ० १०१।

२. कुतोऽस्य परोक्षत्वम् ? परायत्तत्वात्। —वही, १।११, पृ० १०१।

३. तच्चतुर्विधम्। इन्द्रियज्ञानम्। स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तर-प्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। —धर्मकीर्ति, न्या० बि० प्र० परि० पृष्ठ १२,१३।

४. पंचविधस्याप्यस्य परोक्षस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः।
—धर्मभूषण, न्या० दी० पृ० ५३।

होने वाले यदि और भी ज्ञान हों तो वे सब परोक्षान्तर्गत ही हैं। इस प्रकार परोक्षका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक है।

इसके मुख्यतया पाँच भेद माने गये हैं[1]—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क ४ अनुमान और ५ आगम।

पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं।[2] यथा 'वह' इस प्रकारसे उल्लिखित होने वाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होने वाला जोड़रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान या संज्ञा है।[3] जैसे—'यह वही देवदत्त है' अथवा 'गौके समान गवय होता है' या 'गौसे भिन्न महिष होता है' आदि। उपमान प्रमाण इसीका एक भेद—सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होने वाला व्याप्तिका ज्ञान तर्क है।[4] इसीको ऊह अथवा चिन्ता भी कहा गया है। इसका उदाहरण है—इसके होने पर ही यह होता है और नहीं होने पर नहीं ही होता। जैसे—अग्निके होने पर ही धूम होता है और अग्निके अभावमें धूम नहीं होता। निश्चित साध्याविनाभावी साधनसे होने वाला साध्यका ज्ञान अनुमान कहलाता है।[5] यथा—धूमसे अग्निका ज्ञान करना। शब्द, संकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह आगम[6] है। जैसे—'मेरु आदिक हैं' शब्दोंको सुन कर सुमेरु पर्वत आदिका बोध होता है। ये सभी ज्ञान ज्ञानान्तरापेक्ष हैं।[7] स्मरणमें अनुभव; प्रत्यभिज्ञानमें अनुभव तथा स्मरण; तर्कमें अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान; अनुमानमें लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण और आगममें शब्द एवं संकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव ये और इस जातिके अन्य सापेक्ष ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।[8] इस प्रकार अनुमानको जैनदर्शनमें परोक्ष प्रमाणका एक भेद स्वीकार किया है।

●

---

१. प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।२।

२. वही, ३।३,४।

३. वही, ३।५,६।

४. वही, ३।७, ८, ९।

५. वही, ३।१०, ११।

६. वही, ३।९५, ९६, ९७।

७. अकलंक, लघीय० स्वो० वृ० का० १०।

८. 'अर्थापत्तिरनुमानात् प्रमाणान्तरं नवेति विवादिन्तया सर्वस्य परोक्षेऽन्तर्भावात्।'
—अकलंक, लघीय० स्वो० वृ० का० २१।

द्वितीय परिच्छेद

अनुमान-समीक्षा

प्रमाणसामान्यके अनुचिन्तन और परोक्ष-भेदोंके दिग्दर्शनके उपरान्त अब हम अनुमानके मूलरूप, उसकी आवश्यकता एवं महत्त्व, उसकी परिभाषा और क्षेत्र-विस्तारपर विचार प्रस्तुत करेंगे।

(क) अनुमानका मूलरूप : जैनागमके आलोकमें :

यह लिखा गया है कि आचार्य गृद्धपिच्छने आगममें वर्णित मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानोंको दो वर्गोंमें विभक्त किया है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। मति और श्रुत इन दोको उन्होंने परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाया है। गृद्धपिच्छने यह भी कहा है[1] कि मति (अवग्रहादिरूप अनुभव)[2], स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध ये पाच ज्ञान इन्द्रियों तथा मनकी सहायतासे[3] उत्पन्न होनेके कारण मतिज्ञानके पर्याय है।

इनमें आद्य चार ज्ञान तो अन्य दर्शनोंमें भी प्रसिद्ध हैं—भले ही उन्हें उन दर्शनोंमें प्रमाण या अप्रमाण माना गया हो।[4] परन्तु 'अभिनिबोध' संज्ञक ज्ञान उन दर्शनोंमें प्राप्त नहीं है तथा चार्वाकके अतिरिक्त शेष सभी दर्शनोंमें स्वीकृत और सबसे अधिक प्रसिद्ध अनुमान उक्त मति आदि पांच ज्ञानोके मध्यमें दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः विचारणीय है कि पुरातन जैन परम्परामें अनुमानको माना गया है या नहीं ? यदि माना गया है तो आ० गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रमें स्मृति आदि ज्ञानोंका निरूपण करते समय उसका निर्देश क्यों नहीं किया ? इन महत्त्व-पूर्ण प्रश्नोंपर चिन्तन एवं अन्वेषण करनेके उपरान्त जो तथ्य उपलब्ध हुए हैं उन्हें हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे है—

---

१. गृद्धपिच्छ, त० सू० १।१४।

२. अवग्रेहावायधारणाः।
—वही, १।१५।

३. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।
—वही, १।१४।

४. बौद्धादि दर्शनोंमें अनुभवको तो प्रमाण स्वीकार किया है, पर स्मृत्यादिको अप्रमाण माना है।

(१) प्राचीन जैन परम्परामें अनुमान प्रमाणको स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्रमें यद्यपि 'अनुमान' शब्द उपलब्ध नहीं होता, पर उसका निर्देश 'अभिनिबोध' शब्दके द्वारा किया गया है। यह 'अभिनिबोध' ही अनुमानका प्राचीन मूल रूप है और उसे परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत परिगणित किया गया है।

(२) 'अभिनिबोध' अनुमानका प्राचीन रूप है, इस कथनकी पुष्टि अकलंक, विद्यानन्द और श्रुतसागर प्रभृति व्याख्याकारोंकी व्याख्याओंसे होती है। अकलंकने लघीयस्त्रयमें एक कारिकाकी व्याख्याके प्रसंगमें 'अभिनिबोध'का व्याख्यान 'अनुमान' किया है—

'अविसंवादस्मृते. फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा स्मृति. संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः[1]।....'

यहाँ अकलंकने अभिनिबोधका अर्थ 'अनुमान' किया है।

विद्यानन्द तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें अभिनिबोधशब्दकी व्युत्पत्ति द्वारा उसका अनुमान अर्थ फलित करते हैं और आगममें 'अभिनिबोध' शब्द मतिज्ञानसामान्यके अर्थमें प्रयुक्त होनेसे उत्पन्न सिद्धान्त-विरोधका वे परिहार भी करते हैं। यथा—

> तत्साध्याभिमुखो बोधो नियतः साधनेन यः।
> कृतोऽनिन्द्रिययुक्तेनाभिनिबोधः स लक्षितः ॥[2]

इस वार्तिककी व्याख्यामें उन्होंने लिखा है कि साध्याविनाभावी साधनसे जो शक्य, अभिप्रेत और असिद्धरूप साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। और यह अनुमान ही अभिनिबोधका लक्षण (स्वरूप) है, क्योंकि साध्यकोटिमें प्रविष्ट और नियमित अर्थके मनसहित साधन द्वारा होने वाले अभिबोध (ज्ञान) को अभिनिबोध कहा जाता है। यद्यपि आगममें[3] अभिनिबोध शब्द मतिज्ञानसामान्यके अर्थमें आया है, स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञानविशेषके अर्थमें नहीं, तथापि प्रकरण-विशेष और शब्दान्तरके संनिधान आदिसे सामान्यशब्दकी प्रवृत्ति विशेषमें भी देखी जाती है। जैसे 'गो' शब्द श्यामा, कृष्णा आदि गोविशेषके अर्थमें प्रयुक्त होता हुआ देखा जाता है। तात्पर्य यह कि अभिनिबोध शब्द मतिज्ञानसामान्य-वाची होते हुए भी प्रकरणवश स्वार्थानुमानरूप मतिज्ञानविशेषका बोधक है।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थमें आगे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

---

१. लघीय० स्वो० वृ० का० १०।
२. त० श्लो० १।१३।१२२, पृष्ठ १९७, १९८।
३. षट्खं० ५।५।४१५, तथा १।९-१।१४ और ५।५।२१ आदि।

यः साध्याभिमुखो बोधः साधनेनानिन्द्रियसहकारिणा नियमितः सोऽभिनि-बोधः स्वार्थानुमानमिति ।

मन सहकृत साधन द्वारा जो साध्याभिमुख एवं नियमित बोध होता है वह अभिनिबोध है और वह स्वार्थानुमान है ।

यहाँ विद्यानन्द द्वारा एक महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान भी प्रस्तुत किया गया है[1] ।

शंकाकार शंका करता है कि इन्द्रिय और मन दोनोंसे होनेवाला नियमित और स्वविषयाभिमुख बोध ही अभिनिबोध प्रसिद्ध है न कि केवल मन सहकृत लिंगसे होनेवाला लिंगीका नियमित बोध । अन्यथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क ये अभिनिबोध नहीं हो सकेंगे । ऐसी स्थितिमें अपरिहार्य सिद्धान्तविरोध आता है ?

इसका समाधान उपस्थित करते हुए विद्यानन्द कहते हैं कि हम अभिनिबोध-का यह व्याख्यान नहीं कर रहे कि लिंगजन्य ही बोध अभिनिबोध है, अपितु यह कह रहे हैं कि शब्दयोजनासे रहित लिंगजन्य बोध अभिनिबोध ही है । इस प्रकार-के कथनसे लिंगजन्य बोधको अलग प्रमाण नहीं मानना पड़ेगा और सिद्धान्तका संग्रह भी हो जाएगा । इन्द्रिय और मन दोनोंसे हो होने वाला स्वविषयाभिमुख एवं नियमित बोध अभिनिबोध है, ऐसा सिद्धान्त नहीं है, अन्यथा स्मृति आदि अभिनिबोध नहीं माने जा सकेंगे, क्योंकि वे मनसे ही उत्पन्न होते हैं ।[1] अतः मन-से भी उत्पन्न होने वाला बोध अभिनिबोध सिद्धान्तसम्मत है ।

विद्यानन्दके इस विस्तृत एवं विशद विवेचनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें मति-ज्ञानके पर्यायनामोंमें पठित अभिनिबोधसे स्वार्थानुमानका ग्रहण अभिप्रेत है । विद्यानन्द बलपूर्वक यह भी कहते हैं कि यदि लिंगज बोध—स्वार्थानुमानको अभि-निबोध नहीं माना जाएगा तो उसका स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्कमें अन्तर्भाव न होनेसे उसे अलग प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा । अतः हमने लिंगज बोधको अभि-

---

१. इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां नियमितः कुतः स्वविषयाभिमुखो बोधोऽभिनिबोधः प्रसिद्धो न पुनर-निन्द्रियसहकारिणा लिंगेन लिंगिनियमितः केवल एव······ ।

सत्यं स्वार्थानुमानं तु विना यच्छब्दयोजनात् ।
तन्मानान्तरतां मागादिति व्याख्यायते तथा ॥

न हि लिंगज एव बोधोऽभिनिबोध इति व्याचक्ष्महे । किं तर्हि । लिंगजो बोधः शब्दयो-जनरहितोऽभिनिबोध एवेति तस्य प्रमाणान्तरत्वनिवृत्तिः कृता भवति सिद्धान्तश्च संगृ-हीतः स्यात् ।

—त० श्लो० भा० १।१३।१८७,१८८, पृ० २१६ ।

१. अकलंकदेव भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और अभिनिबोध इन चारों ज्ञानोंको मनोजन्य

निबोधका व्याख्यान किया है। इससे प्रमाणान्तर नहीं मानना पड़ेगा और इसमें सिद्धान्तका कोई विरोध भी नहीं है।

विद्यानन्दने यही प्रतिपादन अतिसंक्षेपमें प्रमाणपरीक्षामें भी किया है।[1] इतना विशेष है कि वहाँ परार्थ अनुमानको श्रोत्रमतिज्ञान-पूर्वक होनेके कारण श्रुतज्ञान (अक्षर और अनक्षर दोनों) बतलाया है। तथा वचनात्मक परार्थ अनुमानकी मीमांसा करते हुए उसे उपचारसे परार्थ अनुमान कहा है।

श्रुतसागरसूरिने[2] भी अभिनिबोधका अर्थ अनुमान किया है।

इन व्याख्याकारोंके अनुसार स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें अभिनिबोध शब्द स्वार्थानुमानका बोधक है।

(३) धवलाकार वीरसेनने अभिनिबोधकी दो विभिन्न स्थानोंपर व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। हम दोनों स्थानोंकी व्याख्याएँ यहाँ दे रहे हैं।

अहिमुह-णियमिय-अत्थावबोहो आभिणिबोहो। थूलवट्टमाण-अणंतरिद-अत्था अहिमुहा। चक्खिंदिए रूवं णियमिदं, सोदिंदिए सद्दो, घाणिंदिए गंधो, जिब्भिंदिए रसो, फासिंदिए फासो, णोइंदिए दिट्ठ-सुदाणुभूदत्था णियमिदा। अहिमुहणियमिदट्ठेसु जो बोधो सो अहिणिबोधो।[3]

अभिमुख और नियमित अर्थके अवबोधको अभिनिबोध कहते हैं। स्थूल, वर्तमान और अनन्तरित अर्थात् व्यवधानरहित अर्थोंको अभिमुख कहते हैं। चक्षुरिन्द्रियमें रूप नियमित है, श्रोत्रेन्द्रियमें शब्द, घ्राणेन्द्रियमें गन्ध, जिह्वेन्द्रियमें रस स्पर्शनेन्द्रियमें स्पर्श और नोइन्द्रिय अर्थात् मनमें दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थ

प्रतिपादन करते है—

(क) अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।

—लघीय० स्वो० वृ० का० ६१,।

(ख) मनोमतेरपि स्मृतिप्रत्यभिज्ञानचिन्ताऽभिनिबोधात्मिकायाः कारणमतिपरिच्छिन्नार्थविषयत्वात्।

—वही०, का० ६६।

१. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम्, साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति संज्ञाप्रतिपादनात् परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य न तथात्वोपपत्तेः।

—प्र० प० पृ० ७६।

२. धूमादिदर्शनादग्न्यादिप्रतीतिरनुमानमभिनिबोध अभिधीयते।

—तत्त्वा० वृ० १।१३, पृ० ६१।

३. ष० टी०, १।१।१।१४।

नियमित हैं। इस प्रकारके अभिमुख और नियमित पदार्थोंमें जो बोध होता है वह अभिनिबोध है।

दूसरे स्थानपर अभिनिबोधकी व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—

तत्थ अहिमुह-णियमिदत्थस्स बोहणमाभिणिबोहियं णाम णाणं। को अहि-मुहत्थो ? इंदिय-णोइंदियाणं गहणपाओग्गो। कुदो तस्स णियमो ? अण्णत्थ अप्पवुत्तीदो। अत्थिंदियालोगुवजोगेहिंतो चेव माणुसेसु रूवणाणुप्पत्ती। अत्थिं-दियउवजोगेहिंतो चेव रस-गंध-सद्द-फासणाणुप्पत्ती। दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठ-मणेहिंतो णोइंदियणाणुप्पत्ती। एसो एत्थ णियमो। एदेण णियमेण अभिमुहत्थेसु अमु-प्पज्जदि णाणं तमाभिणिबोहियणाणं णाम।[1]

इसका तात्पर्य यह है कि अभिमुख और नियमित अर्थका जो ज्ञान होता है उसे आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। अभिमुखका अर्थ है इन्द्रिय और नोइन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य अर्थ और नियमितका आशय है अभिमुखको छोड़ कर अन्यत्र इन्द्रिय और नोइन्द्रियकी प्रवृत्ति न होना। अर्थात् अर्थ, इन्द्रिय, आलोक और उपयोगके द्वारा मनुष्योंको रूपज्ञान होता है। अर्थ, इन्द्रिय और उप-योगके द्वारा रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शज्ञानकी उत्पत्ति होती है। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थ तथा मनके द्वारा नोइन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है, यह यहाँ नियम है—नियमितका अर्थ है। इस नियमके अनुसार अभिमुख अर्थोंका जो ज्ञान होता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है।

अभिनिबोधकी इन दोनों व्याख्याओंमें यद्यपि स्वार्थानुमान अर्थ परिलक्षित नहीं होता तथापि यह स्पष्ट है कि दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थका मन द्वारा जो ज्ञान होता है वह भी अभिनिबोध है। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान (स्वार्थ) ये चारों ज्ञान यतः दृष्ट, श्रुत और अनुभूत अर्थमें ही मन द्वारा होते हैं, अत: इन सब ज्ञानोंको अभिनिबोध कहा जा सकता है। अकलंकदेवने[2] इन ज्ञानोंको मनोमतिज्ञान अथवा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा है। तथ्य यह है कि उन्होंने ज्ञानविशेषके अर्थमें अभिनिबोधको दिया है। और इसीसे उन्होंने स्मृति, प्रत्य-भिज्ञान, तर्क इनके स्वतन्त्र निर्देशके साथ अभिनिबोधका भी स्वतन्त्र उल्लेख करके उन सभीको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अथवा मनोमति प्रतिपादित किया है। उनका अभिप्रेत वह ज्ञानविशेष स्वार्थानुमान ही सम्भव है। वीरसेन द्वारा अभिनिबोधका मतिज्ञानसामान्य अर्थ किया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि वे जिस षट्खण्डागमके व्याख्याकार हैं उसमें सर्वत्र अभिनिबोध (आभिनिबोधिक) शब्द मतिज्ञान

१. ष० टी०, ५।५।२१, पृ० २०६, २१०।
२. लघी० स्वो० वृ० का० ६१ तथा ६६।

सामान्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। निष्कर्ष यह कि अकलंक, विद्यानन्द और श्रुतसागरकी व्याख्याओंके आधारपर मतिज्ञानविशेष—अभिनिबोधविशेष (स्वार्थानुमान) भी अभिनिबोध सामान्यका अर्थ लिया जा सकता है। जैसे गोशब्दसे श्यामा आदि गोविशेष अर्थ ग्रहण किया जाता है।

(४) वीरसेनने इसी धवला-टीकामें श्रुतज्ञानका भी व्याख्यान दो स्थलोंपर किया है। वह भी द्रष्टव्य है—

(क) तत्थ सुदणाणं णाम इंदिएहि गहिदत्थादो तदो पुधभूदत्थग्गहणं, जहा—सद्दादो घडादीणमुवलंभो, धूमादो अग्गिस्सुवलंभो वा।[1]

इन्द्रियोंसे ग्रहण किये गये पदार्थसे, उससे पृथक्भूत पदार्थका ग्रहण करना श्रुतज्ञान है।[2] जैसे—शब्दसे घट आदि पदार्थोंका जानना, अथवा धूमसे अग्निका ग्रहण करना।

(ख) मदिणाणेण गहिदत्थादो अण्णत्थादि अण्णेसु अत्थेसु णाणं तं सुदणाणं णाम। धूमादो उप्पज्जमाणअग्गिणाणं, णदीपूरजणिदउवरिविट्ठि-विण्णाणं, देसंतरसंपत्तीए अणिद-दिणयरगमणविसयविण्णाणं, सद्दादो सद्दत्थुप्पण्णणाणं च सुदणाणमिदि भणिदं होदि।[3]

अर्थात् मतिज्ञानके द्वारा ग्रहण किये गये अर्थके निमित्तसे जो अन्य अर्थोंका ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। धूमके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अग्निका ज्ञान, नदीपूरके निमित्तसे उत्पन्न हुआ ऊपरी भागमे वृष्टिका ज्ञान, देशान्तरकी प्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ सूर्यका गमनविषयक विज्ञान और शब्दके निमित्तसे उत्पन्न हुआ शब्दार्थका ज्ञान श्रुतज्ञान है।

श्रुतज्ञानकी इन दोनों व्याख्याओंमें जो उसके उदाहरण दिये गये हैं वे ही सब अनुमानका स्वरूप समझानेके लिए भी दिये जाते हैं। धूमसे अग्निका ज्ञान, नदीपूरसे ऊपरी भागमें वर्षाका ज्ञान, देशान्तर-प्राप्तिसे सूर्यमें गतिका ज्ञान अनुमानसे किया जाता है, यह प्रसिद्ध है। अतएव श्रुतज्ञानकी इन व्याख्याओंसे अनुमान श्रुतज्ञानके अन्तर्गत सिद्ध होता है। यही कारण है कि वीरसेनकी अभिनिबोध-सम्बन्धी व्याख्याओंमें अनुमान या स्वार्थानुमान अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

---

१. धवला १।९।१।१४, पृ० २१।
२. अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं॥
—आ० नेमिचन्द्र, गो० जी० ३१४।
३. धवला ५।५।२१, पृ० २१०।

(५) षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानके इकतालीस[1] पर्यायशब्द दिये गये हैं। उनमें एक 'हेतुवाद' है। इस 'हेतुवाद' का व्याख्यान वीरसेनने निम्न प्रकार किया है—

हेतुः साध्याविनाभावि लिंगं अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितः। स हेतु-र्द्विविधः साधनदूषणभेदेन। तत्र स्वपक्षसिद्धये प्रयुक्तः साधनहेतुः। प्रतिपक्ष-निर्लोठनाय प्रयुक्तो दूषणहेतुः। हिनोति गमयति परिच्छिनत्यर्थमात्मानं चेति प्रमाणपंचकं वा हेतुः। स उच्यते कथ्यते अनेनेति हेतुवादः श्रुतज्ञानम्।[2]

साध्यके अभावमें न होने वाले लिंगको हेतु कहते हैं। और वह अन्यथा-नुपपत्तिरूप एक लक्षणसे युक्त होता है। वह दो प्रकारका है—१. साधन-हेतु और २. दूषण हेतु। इनमें स्वपक्षकी सिद्धिके लिए प्रयुक्त हेतुको साधन हेतु और प्रतिपक्षका खण्डन करनेके लिए प्रयुक्त हेतुको दूषणहेतु कहते हैं। अथवा हेतुशब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार जो अर्थ (वस्तु)का और अपना ज्ञान कराता है उस प्रमाणपंचकको हेतु कहा जाता है। यहाँ प्रमाणपंचकसे वीरसेनको मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञान अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। उक्त प्रमाणपंचकरूप हेतु जिसके द्वारा अभि-हित हो वह हेतुवादरूप श्रुतज्ञान है।

वीरसेनके इस हेतुवाद-व्याख्यानसे असन्दिग्ध है कि यहाँ हेतुवादके अन्तर्गत वह हेतु विवक्षित है जो साध्याविनाभावि लिंगसे होने वाले साध्यज्ञान (अनुमान)में प्रयुक्त होता है और जिसके बलपर अनुमानको लिंगज या लैंगिक कहा जाता है। हेतुवादशब्दका प्रयोग अनुमानके अर्थमें हमें अन्य दर्शनोंमें भी मिलता है। निष्कर्ष यह कि वीरसेन अनुमानको श्रुतज्ञान मानते हैं, उसे मतिज्ञान माननेकी ओर उनका इङ्गित प्रतीत नहीं होता।

यहाँ हम उनका एक महत्त्वपूर्ण उद्धरण और दे देना आवश्यक समझते हैं। इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाएगा कि वीरसेन अनुमानको श्रुतज्ञानके अन्तर्गत स्वी-कार करते हैं। यथा—

"सुदणाणं दुविहं—सद्दलिंगजं असद्दलिंगजं चेदि। धूमलिंगादो जलणाव-गमो असद्दलिंगजो। अवरो सद्दलिंगजो। किंलक्खणं लिंगं? अण्णहाणुववत्ति-लक्खणं। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमित्येतैस्त्रिभिर्लक्षणैरुपलक्षितं वस्तु किं न लिंगमिति चेत्, न, व्यभिचारात्। तद्यथा—पक्वान्याम्रफलान्ये-

---

१. पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो...हेदुवादो णयवादो पवरवादो मग्गवादो सुदवादो पर-वादो लोइयवादो लोगुत्तरीयवादो...चेदि।
—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्ख०, ५।५।५०, पृ० २८०।

२. धवला ५.५.५०, पृ० २८०।

कलासाप्रभवस्यानुपपुष्पकलप्रकाशवत्, स श्यामः तत्पुत्रत्वादितरपुत्रवत्,....इत्यादीनि साधनानि त्रिलक्षणान्यपि न साध्य-सिद्धये भवन्ति । विश्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्....इत्यादीनि साधनानि अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धये प्रभवन्ति । अतः इदमन्तरेण इदमनुपपन्नमितीदमेव लक्षणं लिंगस्येति प्रत्येतव्यम् ।[1]

यहाँ श्रुतज्ञानके वर्णन-प्रसंगमें उसके दो भेद बतलाये हैं—(१) शब्द-लिंगज और (२) अशब्दलिंगज । अशब्दलिंगज श्रुतज्ञानका उदाहरण है—धूमके निमित्तसे अग्निका ज्ञान करना । आगे लिंगका लक्षण वही दिया है जो अनुमान-निरूपणमें कहा जाता है । इससे वीरसेनका स्पष्ट मत है कि अनुमान अशब्द-लिंगज श्रुतज्ञान है ।

६. वीरसेनका यह मत षट्खण्डागमपर आधृत है । षट्खण्डागममें आचार्य भूतबली-पुष्पदन्तने ज्ञानमार्गणाकी अपेक्षा जिन पांच सम्यग्ज्ञानों और तीन मिथ्याज्ञानोंका निरूपण किया है उनमें प्रथम सम्यग्ज्ञानका नाम 'आभिनिबोधिक' है, मतिज्ञान नहीं है, मति तो उसके चार पर्यायोंमें परिगणित तीसरे ज्ञानका नाम है । यथा—

सण्णा सदी मदी चिंता चेदि ।[2]

संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्याय हैं ।

षट्खण्डागमके इस सूत्रमें आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्यायनामोंको गिनाते हुए जहाँ अनुमानके पूर्वमें आवश्यक रूपसे रहने वाले चिन्ता आदि ज्ञानोंका निर्देश है वहाँ अनुमानका अनुमानशब्दसे या उसके बोधक किसी पर्यायशब्दसे कोई उल्लेख नहीं है । इससे अवगत होता है कि षट्खण्डागममें अनुमानको आभिनिबोधिक ज्ञान नहीं माना । इसका कारण यह ज्ञात होता है कि आभिनिबोधिक ज्ञान इन्द्रियव्यापार या मनोव्यापार-पूर्वक उत्पन्न होते हैं । चाक्षुष आदि इन्द्रियज्ञान इन्द्रिय-व्यापारसे और स्मृति, संज्ञा और चिन्ता ये तीनों अनिन्द्रियज्ञान मनोव्यापारसे पैदा होते हैं । अतः ये ज्ञान तो 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' के अनुसार आभिनिबोधिक हैं । पर अनुमान सीधे मनोव्यापार या इन्द्रिय-व्यापारसे उत्पन्न न होकर साध्याविनाभावी साधनसे उत्पन्न होता है । जैसे धूमसे अग्निका ज्ञान होता है । यह सत्य है कि साधनमें इन्द्रिय और मन सहायक हैं, क्योंकि उनके बिना साधनका दर्शन और व्याप्तिका स्मरण नहीं हो सकता । पर वे साध्यज्ञानके उत्पादक नहीं हैं—उसका उत्पादक तो अविनाभावि साधनका ज्ञान है । ऐसी स्थितिमें अनुमान आभिनिबोधिक ज्ञान न होकर श्रुतज्ञान होगा, क्योंकि एक अर्थसे दूसरे अर्थ

---

१. धवला ५।५।४३, पृ० २४५ ।

२. षट्खण्ड० ५।५।४१, पृ० २४४ ।

का बोध कराने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहा गया है।[1] धूमके निमित्तसे अग्निका ज्ञान करना नदीपूरसे ऊपरी भागमें वर्षाका ज्ञान करना, देशान्तर प्राप्तिसे सूर्यमें गतिका ज्ञान करना, ये सब श्रुतज्ञानके उदाहरण हैं और अनुमानके भी यही उदाहरण है। ज्ञात होता है कि इसीसे षट्खण्डागममें अनुमानको आभिनिबोधिक ज्ञानके पर्यायनामोंमें वर्णित नहीं किया। किन्तु श्रुतज्ञानके एकार्थवाची इकतालीस नामोंमें एक 'हेतुवाद' द्वारा उसका श्रुतज्ञानमें संग्रह अथवा अन्तर्भाव किया है। अतः षट्खण्डागमके व्याख्याकार वीरसेनका उपर्युक्त मत (व्याख्यान) षट्खण्डागमके अनुरूप है।

(७) प्रश्न है कि आगमकी जब ऐसी प्ररूपणा (व्यवस्था) है तो आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्रमें आगमोक्त आभिनिबोधिक ज्ञानके स्थानमें मतिज्ञान नाम और उसके पर्यायनामोंमें पहलेसे अनुपलब्ध अभिनिबोध शब्द कैसे रखा ? और उनके इस परिवर्तनका कारण क्या है ?

हमारा विचार है कि तत्त्वार्थसूत्रकार उस दर्शनयुगमें हुए हैं जब प्रमाणशास्त्र की चर्चा बहुलतासे होने लगी थी और प्रत्येक दर्शनके लिए आवश्यक था कि वह अपने अभिमत प्रमाणोंका निर्धारण करे। चार्वाकके अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाणके रूपमें मान लिया था और उसका मूल रूप 'वाकोवाक्यम्' एवं 'आन्वीक्षिकी' विद्यामें खोज निकाला था। आर्हत दर्शन की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। वह ऐसे समयपर मौन नहीं रह सकता था। उसे भी अपनी ओरसे यह निर्णय करना आवश्यक था कि वह कितने प्रमाण मानता है और वे कौन-कौन-से हैं तथा वह अनुमानको स्वीकार करता है या नहीं ? यद्यपि षट्खण्डागम, प्रवचनसार, अनुयोगद्वार, स्थानांग, भगवती आदि आगम ग्रन्थोंमें ज्ञानमीमांसा तथा प्रमाण-मीमांसा विस्तृत रूपमें निरूपित एवं चर्चित थी। विषयनिरूपणमें हेतुवादका भी आश्रय लिया जाता था। पर ये सभी ग्रन्थ प्राकृतमें निबद्ध थे और युग था संस्कृतके माध्यमसे दार्शनिक विषयोंके निरूपणका। अत तत्त्वार्थसूत्रकारने संस्कृतके माध्यमसे आर्हतदर्शनके प्राय. सभी विषयोंका प्रतिपादन करनेके लिए तत्त्वार्थसूत्रकी रचना की। यह उपलब्ध जैन संस्कृत-सूत्रग्रंथोंमें आद्य संस्कृत-सूत्रग्रन्थ है। इसमें धर्म और दर्शन दोनोंका निरूपण है। उनका गहन कार्य था आगमिक प्रमेयोंको दर्शन द्वारा प्रस्तुत करना। इस कार्यमें उन्हें नि.सन्देह अभूतपूर्व सफलता मिली। अन्य दर्शनोंकी तरह उन्होंने भी निःश्रेयस और नि.श्रेयस मार्गका ज्ञान इस ग्रन्थमें निरूपित किया। आगमानुसार ज्ञान-मीमांसाको प्रस्तुत करते हुए उसमें प्रतिपादित पांच ज्ञानोंमें एक आभिनिबो-

---

१. आ० नेमिचन्द्र, गो० जी० ३१५।

विकसाव्द मतिशब्दकी अपेक्षा, जो उसीका एक पर्याय है, उन्हें कुछ जटिल लगा। अतएव उसके स्थानमें मतिको रखकर उसे सरल बना दिया तथा उसके पर्यायोंमें अभिनिबोधको भी सम्मिलित कर लिया। यह अभिनिबोधशब्द भी आभिनिबोधिकको अपेक्षा अधिक सुगम है, अतः उसके द्वारा उन्होंने चिन्ता (तर्क) पूर्वक होने वाले लिंगजबोध—अनुमानके संग्रहकी ओर संकेत किया। इस परिवर्तनमें कोई मौलिक सिद्धान्त-भेद या सिद्धान्त-विपरीतता नहीं है। फलतः अकलंक, विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषी विचारक उनके इस परिवर्तनसे प्रभावित हुए और उससे प्रकाश पाकर उन्होंने अभिनिबोधकी व्याख्या अनुमानपरक प्रस्तुत की। सिद्धान्त-विरोधकी बात उठने पर विद्यानन्दने[1] सामान्य शब्दको विशेषवाची बतलाकर इस विरोधका परिहार किया। साथ ही अकलंकका आशय[2] ग्रहण करके यह भी कह दिया[3] कि अभिनिबोधात्मक ज्ञान शब्दयोजनासे पूर्व अर्थात् शब्दयोजनासे रहित दशामें स्वार्थानुमान है। पर शब्दयोजनासे विशिष्ट होने पर वह अभिनिबोधपूर्वक होने वाला श्रुतज्ञान है, जिसे परार्थानुमान कहा जाता है।[4] तात्पर्य यह कि मतिज्ञानके पर्यायनामोंमें पठित 'अभिनिबोध' से स्वार्थानुमानका और आगममें आये हेतुवादसे, जो श्रुतज्ञानके पर्यायनामोंमें सामहित है, परार्थानुमानका ग्रहण विवक्षित है। निष्कर्ष यह कि स्वार्थानुमानका प्राचीन मूल रूप अभिनिबोध है और परार्थानुमानका मूल रूप हेतुवाद है। इस तरह जैन अनुमान अभिनिबोध (मतिज्ञान) और श्रुत दोनोंका प्रतिनिधि है। इसमें तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके व्याख्याकारों तथा षट्खण्डागम और धवलाके व्याख्याओं एवं निरूपणोंमें कोई विरोध या असंगति नहीं है।

(ख) अनुमानका महत्त्व एवं आवश्यकता :

प्रत्यक्षकी तरह अनुमान भी अर्थसिद्धिका महत्त्वपूर्ण साधन है। सम्बद्ध और वर्तमान, आसन्न और स्थूल पदार्थोंका ज्ञान इन्द्रियप्रत्यक्षसे किया जा सकता है। पर असम्बद्ध और अवर्तमान—अतीत-अनागत तथा दूर और सूक्ष्म अर्थोंका ज्ञान उससे सम्भव नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारके पदार्थोंको जाननेकी क्षमता इन्द्रियोंमें

---

१. त० श्लो० १।१३।३८६-३८८, पृष्ठ २१६।

२. लघीय० का० १०,११।

३. प्र० प० पृष्ठ ७६, तथा त० श्लो० १।१३। ३८८, पृष्ठ २१६।

४. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानम्, साध्यं प्रत्यभिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति संज्ञाप्रतिपादनात्। परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च तस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।

—विद्यानन्द, प्र० प० पृष्ठ ७६।

नहीं है। अतः ऐसे पदार्थोंका ज्ञान अनुमान द्वारा किया जाता है। इसे चार्वाक दर्शनको छोड़कर शेष सभी दर्शनोंने स्वीकार किया है और उसे प्रत्यक्षकी ही तरह प्रमाण एवं अर्थसिद्धिका सबल साधन माना है। चार्वाक इसे न माननेके निम्न कारण प्रस्तुत करते हैं—

(१) यतः अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है। अतः वह प्रत्यक्षसे भिन्न नहीं है। 'कारणसदृशं हि लोके कार्यं दृष्टम्' इस सिद्धान्तके अनुसार अनुमान जब प्रत्यक्षका कार्य है तो उसे अपने कारण—प्रत्यक्षसदृश ही होना चाहिए, विसदृश नहीं[1]।

(२) सबसे पहले प्रत्यक्ष होता है, उसके बाद अनुमान। अतः प्रत्यक्ष मुख्य है और अनुमान गौण। अतएव अनुमान गौण होनेसे प्रमाण नहीं है।[2]

(३) अनुमानमें विसंवाद देखा जाता है। कभी-कभी शक्रमूर्धा (बांबी) और गोपालघटिकामें धूमका भ्रम हो जानेसे वहां भी अग्निका अनुमान होने लगता है। इसके अतिरिक्त वृक्षका जब शिंशपासे अनुमान किया जाता है तो शिंशपा वृक्ष ही हो, ऐसा तो नहीं है, कहीं शिंशपा लता भी होती है। ऐसी स्थितिमें शिंशपा हेतु व्यभिचारी (वृक्षके अभावमें भी रहने वाली) होनेसे वृक्षका यथार्थ अनुमापक नहीं हो सकता। अनुपलब्धिसे अभावकी सिद्धि करना भी दोषपूर्ण है। परमाणु, पिशाचादि उपलब्ध नहीं होते, फिर भी उनका सद्भाव बना रह सकता है- अनुपलब्धिसे उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस तरह अनुमानके जनक सभी प्रमुख हेतु व्यभिचारी होनेसे वह अविसंवादी सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष तो प्रमाण है, पर अनुमान प्रमाण नहीं है।[3]

ये तीन कारण हैं जिनसे चार्वाक अनुमानको प्रमाण नहीं मानता। यहाँ इन तीनों कारणों पर विचार किया जाता है—

(१) प्रत्यक्षपूर्वक होनेसे यदि अनुमान प्रत्यक्षसे भिन्न नहीं है तो कहीं (पर्वतादिकमें अग्निका) प्रत्यक्ष भी अनुमानपूर्वक होनेसे अनुमानसे भिन्न सिद्ध नहीं होगा। जैसे पर्वतमें अनुमानसे अग्निका निश्चय करके उसे प्रत्यक्षसे भी जाननेके लिए प्रवृत्त पुरुषको अग्निका जो प्रत्यक्ष होता है वह अनुमानपूर्वक होने-

---

१. प्र० प० पृष्ठ ६४।
२. प्रमेयरत्नमाला २।२, पृष्ठ ४६। तथा प्र० प० पृष्ठ ६४।
३. प्रमेयरत्नमाला २।२, पृष्ठ ४४।

से अनुमान कहा जाएगा। अतः अनुमानप्रामाण्यके निषेधका प्रथम कारण युक्त नहीं है, वह अतिप्रसंग दोष-सहित है।[1]

(२) यह सच है कि कभी अनुमानसे पहले प्रत्यक्ष होता है, पर यह सार्वदिक एवं सार्वत्रिक नियम नहीं है। कहीं और कभी प्रत्यक्षसे पूर्व अनुमान भी होता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि कोई पुरुष अग्निका अनुमान करके बादको वह उसका प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करता है। ऐसी दशामें अनुमान प्रत्यक्षसे पूर्ववर्ती होनेके कारण मुख्य माना जाएगा और प्रत्यक्ष गौण। तब प्रत्यक्ष गौण होनेसे अप्रमाण और अनुमान मुख्य होनेसे प्रमाण सिद्ध होगा। अतः दूसरा कारण भी अनुमानके प्रामाण्यका प्रतिषेधक सिद्ध नहीं होता।[2]

(३) तीसरा कारण भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमानमें विसंवादित्व बतानेके लिए जो उदाहरण दिये गये हैं वे सब अनुमानाभासके उदाहरण हैं। जो हेतु साध्यका व्यभिचारी है वह हेतु ही नहीं है—वह तो हेत्वाभास है। शक्रमूर्धा और गोपालघटिकामें जो धूमसे अग्निके अनुमानकी बात कही गयी है उस पर हमारा प्रश्न है[3] कि शक्रमूर्धा और गोपालघटिका अग्निस्वभाव हैं या नहीं? यदि अग्निस्वभाव हैं तो अग्निसे उत्पन्न धूम अग्निका व्यभिचारी कैसे हो सकता है? और यदि वे अग्निस्वभाव नहीं हैं तो उनसे उत्पन्न होने वाला पदार्थ धूम कैसे कहा जा सकता है? लोकमें अग्निसे पैदा होने वाले अविच्छिन्न पदार्थको ही धूम कहा जाता है। साध्य-साधनके सम्यक् अविनाभावका ज्ञाता उक्त प्रकारकी भूल नहीं कर सकता। वह अविनाभावी साधनसे ही साध्यका ज्ञान—अनुमान करेगा, अविनाभावरहित हेतुसे नहीं। वह भले ही ऊपरसे हेतु जैसा प्रतीत हो, पर हेतुलक्षण (अविनाभाव) रहित होनेके कारण वह हेत्वाभास है और हेत्वाभासोंसे उत्पन्न साध्यज्ञान दोषपूर्ण अर्थात् अनुमानाभास समझा जाएगा। अतः शक्रमूर्धा और गोपालघटिकामें दृष्ट धूम धूम नहीं है, धूमाभास है—उसे भ्रमसे धूम समझ लिया है। और इसलिए उसके द्वारा उत्पन्न अग्निका ज्ञान अनुमान नहीं, अनुमानाभास है।[4]

---

१. प्र० परी० पृष्ठ ६४।

२. वही, पृष्ठ ६४।

३. अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा चेदग्निरेव सः।
अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत्॥
—धर्मकीर्ति, प्र० वा० १।३८, तथा प्रमेयर० मा० २।२, पृ० ४६।

४. यादृशो हि धूमो ज्वलनकार्यं शकटनितम्बादावविच्छिन्नमूलतया प्रसर्पन्नुपलभ्यते न तादृशो गोपालघटिकादाविति।
—प्रमेयर० मा० २।२, पृष्ठ ४६।

इसी प्रकार स्वभावहेतुमें[1] जो व्यभिचार दिखाया गया है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि केवल स्वभावको हेतु स्वीकार नहीं किया है, अपितु व्याप्य-रूप स्वभावको ही व्यापकके प्रति गमक माना गया है। और यह तथ्य है कि व्याप्य कभी भी व्यापकका व्यभिचारी नहीं होता, अन्यथा वह व्याप्य ही नहीं रहेगा। दूसरी बात यह है कि अविनाभावी स्वभाव-हेतुको व्यभिचारी मानने पर चार्वाक प्रत्यक्षमें अविसंवादित्व और अगौणत्वरूप स्वभावहेतुओंसे प्रामाण्य निश्चय नहीं कर सकता। अनुपलब्धिहेतुमें व्यभिचारप्रदर्शन भी विचारशून्य है। यथार्थमें अविनाभावी अनुपलब्धिहेतु अभावका साधक माना गया है। जो साध्याविनाभावी नहीं है वह हेतु ही नहीं है—हेत्वाभास है, यह हम ऊपर कह आये हैं। अतः चाहे दृश्यानुपलब्धि हो और चाहे अदृश्यानुपलब्धि, दोनों अविनाभावविशिष्ट हो कर ही अभावसाधिका हैं, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार अनुमानप्रामाण्यके निषेधमें दिये गये तीनों ही कारण युक्ति-युक्त नहीं हैं। अब ऐसे तथ्य उपस्थित किये जाते हैं, जिनसे चार्वाक दर्शनको भी अगत्या अनुमान मानना पड़ता है। यथा—

(१) जब चार्वाकसे पूछा जाता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण क्यों है और अनुमान प्रमाण क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर वह यही देता है कि प्रत्यक्ष अगौण और अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, पर अनुमान गौण तथा विसंवादी होनेसे प्रमाण नहीं है। इस प्रकारका कथन करके वह स्वभावहेतु-जनित अनुमानको स्वयमेव स्वीकार कर लेता है। अगौणत्व और अविसंवादित्व प्रमाणका स्वभाव हैं। और उन्हें हेतु बनाकर प्रत्यक्षके प्रामाण्यको सिद्ध करना निश्चय ही अनुमान है तथा गौणत्व एवं विसंवादित्वको हेतुरूपमें प्रस्तुत करके अनुमानको अप्रमाण सिद्ध करना भी अनुमान है। अगौणत्व एवं अविसंवादित्वकी प्रामाण्यके साथ और गौणत्व तथा विसंवादित्वकी अप्रामाण्यके साथ व्याप्ति है और व्याप्तिज्ञानपूर्वक जो ज्ञान होता है वह अनुमान कहा जाता है। अतः चार्वाकको प्रत्यक्षमें प्रामाण्य सिद्ध करने और अनुमानमें अप्रामाण्य स्थापित करनेके लिए उक्त प्रकारका अनुमान मानना पड़ेगा।

(२) इस (शिष्य)में बुद्धि है क्योंकि बोल रहा है अथवा चेष्टादि कर रहा है, इस प्रकार चार्वाकको शिष्यादिमें बुद्धिका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा, क्यों-

---

१. यदपि स्वभावहेतोर्व्यभिचारसम्भावनमुक्तम्, तदप्यनुचितमेव, स्वभावमात्रस्याहेतुत्वात्। व्याप्यरूपस्यैव स्वभावस्य व्यापकं प्रति गमकत्वाभ्युपगमात्। न च व्याप्यस्य व्यापक-व्यभिचारित्वम्, व्याप्यत्वविरोधप्रसंगात्।
—प्रमेयर० मा०, २।२, पृष्ठ ४५।

कि परबुद्धि प्रत्यक्षसे अगम्य है। और इस तरह उसे कार्य-हेतु-जनित अनुमान स्वीकार करना पड़ता है।

(३) यदि चार्वाकसे प्रश्न किया जाए कि आप परलोक (स्वर्गनरकादि या जन्मान्तर), क्यों नहीं मानते ? तो वह यही उत्तर देगा कि परलोक उपलब्ध न होनेसे नहीं है। जिसकी उपलब्धि होती है उसका अस्तित्व माना जाता है। जैसे पृथिव्यादि भूततत्त्व। उसके इस उत्तरसे स्पष्ट है कि उसे परलोकादिका अभाव सिद्ध करनेके लिए अनुपलब्धि-लिंग-जनित अनुमान भी स्वीकार करना पड़ता है[1]

इस विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चार्वाकके लिए भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। भले ही वह लोकव्यवहारमें उसे मान्यता प्रदान करे और परलोकादि अतीन्द्रिय पदार्थोंमें उसका प्रामाण्य निराकरण करे।[2] पर उसकी उपयोगिता और आवश्यकताको वह टाल नहीं सकता। जब प्रत्यक्षके प्रामाण्यमें सन्देह बद्धमूल हो जाता है तो अनुमानकी कसौटीपर कसे जानेपर ही उसकी प्रमाणताका निखार होता है। इससे अनुमानकी उपयोगिता दिनकर-प्रकाशकी तरह प्रकट है। वास्तवमें ये दोनों उपजीव्य-उपजीवक हैं। वस्तुसिद्धिमें अनुमान-का प्रत्यक्षसे कम मूल्य नहीं है। यह सच है कि प्रत्यक्ष अनुमानके मूलमें विद्यमान रहता है, उसके बिना उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि प्रत्यक्षकी प्रतिष्ठा अनुमानपर निर्भर है। सम्भवतः इसीसे 'युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वाऽपि न श्रद्दधे[3]', 'प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थ-मनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः[4] जैसे अनुमानके मूल्यवर्द्धक वाक्य उपलब्ध होते हैं और यही कारण है कि अनुमानपर जितना चिन्तन हुआ है—स्वतन्त्र एवं संख्याबद्ध ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है—उतना किसी अन्य प्रमाणपर नहीं। व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, विज्ञान प्रभृति सभी पर प्रायः अनुमानका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लोकव्यवहारमें अल्पज्ञ भी कार्यकारणभावकी शृंखला जोड़ते हैं। बिना पानीके प्यास नहीं बुझती, बिना भोजनके क्षुधा शान्त नहीं

१. प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः। प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥
—उद्धृत—प्र० प० पृष्ठ ६४।
यह कारिका जैन ग्रन्थोंमें धर्मकीर्तिके नामसे उद्धृत पायी जाती है। पर वह उनके प्रमाणवार्तिकमें उपलब्ध नहीं है।

२. 'यदि पुनर्लोकव्यवहारार्थं प्रतिपन्नं यथानुमानं लौकायतिकैः, परलोकाद्यभावानुमानस्य निराकरणात्, तस्याभावोऽपीति मतम्, तदापि कुतः परलोकाद्यभावप्रतिपत्तिः ?
—विद्यानन्द, प्र० प० पृष्ठ ६४।

३. अकलंकदेव, अष्टस० अष्टस० पृष्ठ २१४, उद्धृत।

४. गंगेश, त० चिन्ता० पृष्ठ ४२४।

होती, यह सब कार्यकारणकी अविच्छिन्न शृंखला ही तो है। इस तरह हम अनुमानके महत्त्व, उपयोगिता, आवश्यकता और अनिवार्यताको अनायास आंक सकते हैं।

(ख) अनुमानकी परिभाषा :

अनुमानशब्दकी निरुक्ति (अनु + मान)के अनुसार पश्चाद्वर्ती ज्ञानकी अनुमानसंज्ञा है।

प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्षको छोड़कर शेष सभी (स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि) ज्ञान प्रत्यक्षके पश्चात् ही होते हैं। ऐसी स्थितिमें ये सब ज्ञान भी अनुमान कहे जायेंगे। अतः अनुमानसे पूर्व वह कौन-सा ज्ञान विवक्षित है जिसके पश्चात् होने वाले ज्ञानको अनुमान कहा है ?

इसका उत्तर यह है कि अनुमानका अव्यवहित पूर्ववर्ती वह ज्ञानविशेष है, जिसके अव्यवहित उत्तरकालमें अनुमान उत्पन्न होता है। वह ज्ञानविशेष है व्याप्ति-निर्णय (तर्क-ऊह-चिन्ता)। उसके अनन्तर नियमसे अनुमान होता है। लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मताज्ञान[1] इनमेंसे कोई भी अनुमानके अव्यवहित पूर्ववर्ती नहीं है। लिंगदर्शन व्याप्तिस्मरणसे, व्याप्तिस्मरण पक्षधर्मताज्ञानसे और पक्षधर्मताज्ञान व्याप्ति-निश्चयसे व्यवहित हैं। अतः लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण और पक्षधर्मताज्ञान व्याप्ति-निश्चयसे व्यवहित होनेसे अनुमानके साक्षात् पूर्ववर्ती नहीं हैं। यद्यपि पारम्पर्यसे उन्हें भी अनुमानका जनक माना जा सकता है। पर अनुमानका अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान व्याप्ति-निश्चय ही है, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरकालमें नियमसे अनुमान आत्मलाभ करता है। अत व्याप्तिनिश्चय ही अनुमानका पूर्ववर्ती ज्ञान है। आ० वादिराज भी यही लिखते हैं—

अनु व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद्भावि मानमनुमानम् ।[2]

व्याप्ति-निर्णयके पश्चात् होने वाले मान—प्रमाणको अनुमान कहते हैं।

वात्स्यायन अनुमानशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार बतलाते है—'मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्'[3]—प्रत्यक्षप्रमाणसे ज्ञात लिंग द्वारा लिंगी—अर्थके अनु—पश्चात् उत्पन्न होने वाले ज्ञानको अनुमान कहते हैं। तात्पर्य यह कि लिंगज्ञानके पश्चात् जो लिंगी—साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। वे एक दूसरे स्थलपर और कहते हैं कि—'स्मृत्या लिंगदर्शनेन चा-

---

१. व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः । तत्करणमनुमानम् ।
—गंगेश, त० चि० अनु० जागदी० पृष्ठ १३ ।

१. न्या० वि० वि० द्वि० भा० २।१ ।

२. न्यायभा० १।१।३ ।

प्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते'।[1] —लिंगलिंगीसम्बन्धस्मृति और लिंगदर्शन द्वारा अ-प्रत्यक्ष अर्थका अनुमान किया जाता है। इस प्रकार वात्स्यायनका अभिप्राय 'अनु' शब्दसे 'सम्बन्धस्मरण और लिंगदर्शनके पश्चात् अर्थको ग्रहण करनेका प्रतीत होता है। न्यायवार्तिककारका मत है कि 'यस्माल्लिंगपरामर्शादनन्तरं शेषार्थ-प्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिंगपरामर्शो न्याय्य इति,[2] —यतः लिङ्गपरामर्शके अनन्तर शेषार्थ (अनुमेयार्थ)का ज्ञान होता है, अतः लिंगपरामर्शको अनुमान मानना न्याययुक्त है। इस तरह उद्योतकरके मतानुसार लिंगपरामर्श वह ज्ञान है जिसके पश्चात् अनुमिति उत्पन्न होती है। न्यायावतारके संस्कृतटीकाकार सिद्धर्षि गणि वात्स्यायनका अनुसरण करते हैं।[3] किन्तु तथ्य यह है कि लिङ्गदर्शन आदि व्याप्तिनिश्चयसे व्यवहित हैं। अतः व्याप्तिज्ञान ही अनुमानसे अव्यवहित पूर्ववर्ती है।

अनुमानशब्दकी निरुक्तिके बाद अब देखना है कि उपलब्ध जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमानकी क्या परिभाषा की गयी है? स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें 'अनु-मेयत्व'[4] हेतुसे सर्वज्ञकी सिद्धि की है। आगे अनेक स्थलोंपर 'स्वरूपादिचतुष्टयात्'[5], 'विशेषणत्वात्'[6] आदि अनेक हेतुओंको दिया है और उनसे अनेकातात्मक वस्तुकी व्यवस्था तथा स्याद्वादकी स्थापना की है।[7] उनके इन 'अनुमेयत्व' आदि हेतुओंके प्रयोगसे अवगत होता है कि उनके कालमें स्याद्वादन्याय (जैन न्यायमें) विवादग्रस्त एवं अप्रत्यक्ष पदार्थोंकी सिद्धि अनुमानसे की जाने लगी थी। जिन उपादानोंसे अनुमान निष्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है उन उपादानोंका उल्लेख भी उनके द्वारा इसमें बहुलतया हुआ है।[8] उदाहरणार्थ हेतु, साध्य, प्रतिज्ञा, सधर्मा, अविनाभाव, सपक्ष, साधर्म्य, वैधर्म्य, दृष्टान्त जैसे अनुमानोपकरणोंका निर्देश इसमें किया गया है। पर परिभाषाग्रन्थ न होनेसे उनकी परिभाषाएँ उपलब्ध नहीं हैं। यही कारण है कि अनुमानकी परिभाषा इसमें दृष्टिगत नहीं होती। एक स्थलपर हेतु (नय) का लक्षण[9] अवश्य निबद्ध है, जिसमें अन्यथानुपपत्तिविशिष्ट त्रिलक्षण

---

१. वही, १।१।५।

२. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५।

३. अनुवादक-विजयमूर्ति, न्यायाव० का० ५, पृष्ठ ४९।

४. आप्तमी० का० ५।

५. वही, का० १५।

६. वही, का० १७, १८।

७. वही० का० ११३।

८. वही, का० १६, १७, १८, १९, २६, २७, ७४, ८०, १०६ आदि।

९. सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेष-व्यंजको नयः॥
—आ० मी० का० १०६।

हेतुको साध्यका प्रकाशक कहा है, केवल त्रिलक्षणको नहीं। अकलंक[1] और विद्यानन्द[2] द्वारा प्रस्तुत उसके व्याख्यानोंसे भी यही अवगत होता है। आशय यह कि आप्तमीमांसाके इस सन्दर्भसे इतना ही ज्ञात होता है कि समन्तभद्रको अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट त्रिलक्षण हेतुसे होनेवाला साध्यज्ञान अनुमान इष्ट रहा है।

सिद्धसेनने[3] स्पष्ट शब्दोंमें अनुमानलक्षण दिया है—

> साध्याविनाभुवो लिंगात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
> अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥

साध्यके बिना न होनेवाले लिंगसे जो साध्यका निश्चायक ज्ञान होता है वह अनुमान है।

इस अनुमानलक्षणमें समन्तभद्रका हेतुलक्षणगत 'अविरोधतः' पद, जो अन्यथानुपपत्ति—अविनाभावका बोधक है, बीजरूपमें रहा हो तो आश्चर्य नहीं है।

अकलंकने न्यायविनिश्चय और लघीयस्त्रय दोनोंमें अनुमानकी परिभाषा अंकित की है। न्यायविनिश्चयकी अनुमान-परिभाषा निम्न प्रकार है—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।[4]

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशिष्ट (नियत) ज्ञान होता है वह अनुमान है।

अकलंकका यह अनुमान-लक्षण अत्यन्त सरल और सुगम है। परवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति तार्किकोंने इसीको अपनाया है। स्मरणीय है कि जो साधनसे साध्यका नियत ज्ञान होता है वह साधनगत अविनाभावके निश्चयके आधारपर ही होता है। जब तक साधनके साध्याविनाभावका निश्चय न होगा तब तक उससे साध्यका निर्णय नहीं हो सकता।

---

१. अत्र 'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यात्' इत्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, 'अविरोधात्' इत्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्वं 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात्।

—अष्टश० अष्टस० पृष्ठ २८९।

२. वही, पृष्ठ २८९।

३. न्यायाव० का० ५।

४. न्या० वि० द्वि० भा० २।१।

यहाँ प्रश्न है[1] कि इस अनुमान-परिभाषासे ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परामें साधनको ही अनुमानमें कारण माना गया है, साधनके ज्ञानको नहीं ? इसका समाधान[2] यह है कि उक्त 'साधन' पदसे 'निश्चयपथप्राप्त साधन' अर्थ विवक्षित है, क्योंकि जिस धूमादि साधनका साध्याविनाभावित्वरूपसे निश्चय नहीं है वह साधन नहीं कहलाता। अन्यथा अज्ञायमान धूमादि लिंगसे सुप्त तथा अगृहीत धूमादि लिंग वालोंको भी वह्नि आदिका ज्ञान हो जाएगा। अतः 'साधन' पदसे 'अविनाभाविरूपसे निर्णीत साधन' अर्थ अभिप्रेत है, केवल साधन नहीं। विवरणकारने भी उसका यही विवरण किया है। यथा—

साधनं साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं वक्ष्यमाणं लिंगम्।[3]

साधन वह है जिसके साध्याविनाभावरूप नियमका निश्चय है। इसीको लिंग (लीनमप्रत्यक्षमर्थं गमयति)—छिपे हुए अप्रत्यक्ष अर्थका अवगम कराने वाला भी कहते हैं।

अकलंकदेव स्वयं उक्त अर्थकी प्रकाशिका एक दूसरी अनुमान-परिभाषा लघीयस्त्रयमें निम्न प्रकार करते हैं—

> लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
> लिंगिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः ॥[4]

साध्यके बिना न होनेका जिसमें निश्चय है, ऐसे लिंगसे जो लिंगी (साध्य-अर्थ)का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। हान, उपादान और उपेक्षाका ज्ञान होना उसका फल है।

इस अनुमानलक्षणसे स्पष्ट है कि साध्यका गमक वही साधन अथवा लिंग हो सकता है जिसके अविनाभावका निश्चय है। यदि उसमें अविनाभावका निश्चय

---

१. ननु भवतां मते साधनमेवानुमाने हेतुर्न तु साधनज्ञानं साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिति।
—धर्मभूषण, न्या० दी० पृ० ६७।

२. 'न, 'साधनात्' इत्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्। अनिश्चयपथप्राप्तस्य धूमादेः साधनत्वस्यैवाघटनात्। ···साधनाज्ज्ञायमानाद्धूमादेः साध्येऽग्न्यादौ लिंगिनि यद्विज्ञानं तदनुमानम्। अज्ञायमानस्य तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीनामप्यग्न्यादिज्ञानोत्पत्तिप्रसंगः।
—वही, पृ० ६७।

३. वादिराज, न्या० वि० वि० द्वि० भा० २।१, पृ० १।

४. लघीय० का० १२।

नहीं है तो वह साधन नहीं है।[1] भले ही उसमें तीन रूप और पांच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्', 'वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पांच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी अविनाभावके अभावसे सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं और इसीसे वे अपने साध्योंके गमक—अनुमापक नहीं हैं। इस सम्बन्धमें हम विशेष विचार हेतु-लक्षणके प्रसंगमें करेंगे।

विद्यानन्दने अकलंकदेवका अनुमानलक्षण आदृत किया है और विस्तार-पूर्वक उसका समर्थन किया है। यथा—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः।[2]

"साध्याभावासम्भवनियमलक्षणात् साधनादेव शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानं आचार्या विदुः।[3]—

तात्पर्य यह कि जिसका साध्यके अभावमें न होनेका नियम है ऐसे साधनसे होनेवाला जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धरूप साध्यका विज्ञान है उसे आचार्य (अकलङ्क)ने अनुमान कहा है।

विद्यानन्द[4] अनुमानके इस लक्षणका समर्थन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण युक्ति उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि अनुमानके लिए उक्त प्रकारका साधन और उक्त प्रकारका साध्य दोनोंको उपस्थिति आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। यदि उक्त प्रकारका साधन न हो तो केवल साध्यका ज्ञान अनुमान प्रतीत नहीं होता। इसी तरह उक्त प्रकारका साध्य न हो तो केवल उक्त प्रकारका साधनज्ञान भी अनुमान ज्ञात नहीं होता। आशय यह कि अनुमानके मुख्य दो उपादान हैं—साधनज्ञान और साध्यज्ञान। इन दोनोंकी समग्रता होने पर ही अनुमान सम्पन्न होता है।

माणिक्यनन्दि अकलंकके उक्त अनुमानलक्षणको सूत्रका रूप देते हैं और उसे स्पष्ट करनेके लिए हेतुका भी लक्षण प्रस्तुत करते हैं। यथा—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।[5] साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।[6]

---

१. (क) साध्याभावासम्भवनियमनिश्चयमन्तरेण साधनत्वासम्भवात्।

—विद्यानन्द, त० श्लो० १।१३।२००, पृष्ठ २०६।

(ख) साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।

—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।१५।

२. त० श्लो० १।१३।१२०, पृष्ठ १९७।

३-४. वही, १।१३।१२० पृष्ठ १९७।

५. प० मु० ३।१४।

६. वही, ३।१५।

हेमचन्द्रने[1] भी माणिक्यनन्दिकी तरह अकलंककी ही अनुमान-परिभाषा अक्षरशः स्वीकार की है और उसे उन्हींकी भाँति सूत्ररूप प्रदान किया है।

धर्मभूषणने[2] अकलंकका न्यायविनिश्चयोक्त लक्षण प्रस्तुत करके उसका विशदीकरण किया है। इस विशदीकरणसे वह भ्रान्ति नहीं रहती जो 'साधन' पदसे साधनको ही जैन दर्शनमें अनुमानका कारण मानने और साधनज्ञानको न मानने सम्बन्धी होती है। तात्पर्य यह कि उन्होंने 'साधन' पदका 'निश्चयपथ प्राप्त साधन' अर्थ देकर उस भ्रान्तिको भी दूर किया है। इसके अतिरिक्त धर्मभूषणने[3] उद्योतकर द्वारा उपज्ञ तथा वाचस्पति आदि द्वारा समर्थित 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'[4] इस अनुमान-परिभाषाकी समीक्षा भी उपस्थित की है। उनका कहना है कि यदि लिंगपरामर्श (लिंगज्ञान-लिंगदर्शन)को अनुमान माना जाय तो उससे साध्य (अनुमेय) का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि लिंगपरामर्शका अर्थ लिंगज्ञान है और वह केवल लिंग—साधन सम्बन्धी अज्ञानको ही दूर करनेमें समर्थ है, साध्यके अज्ञानको नहीं। यथार्थमें 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इस प्रकारके, लिंगमें होने वाले व्याप्तिविशिष्ट तथा पक्षधर्मताके ज्ञानको परामर्श कहा गया है—'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः।' अतः परामर्श इतना ही बतला सकता है कि धूमादि लिंग अग्नि आदि साध्योंके सहचारी हैं और वे पर्वत आदि (पक्ष)में हैं। और इस तरह लिंगपरामर्श मात्र लिंगसम्बन्धी अज्ञानका निराकरण करता है एवं लिंगके वैशिष्ट्यका ज्ञान कराता है, अनुमेय-सम्बन्धी अज्ञानका निरास करता हुआ उसका ज्ञान करानेमें वह असमर्थ है। अतएव लिंगपरामर्श अनुमानकी सामग्री तो हो सकता है, पर स्वयं अनुमान नहीं। अनुमानका अर्थ है अनुमेयसम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक अनुमेयार्थका ज्ञान। इसलिए साध्य-सम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्तिरूप अनुमितिमें साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है। अतः साध्यज्ञान ही अनुमान है, लिंगपरामर्श नहीं। यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि जिस प्रकार धारणानामक अनुभव स्मृतिमें, तात्कालिक अनुभव और स्मृति प्रत्यभिज्ञानमें, एवं साध्य तथा साधन विषयक स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्कमें कारण माने जाते हैं,

---

१. साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम्।
—प्र० मी० १।२।७, पृष्ठ ३८।

२. न्या० दी० पृ० ६५, ६७।

३. वही, पृष्ठ ६६।

४. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५।

उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदि सहित लिंगज्ञान (लिंगपरामर्श) अनुमानकी उत्पत्तिमें कारण है ।[1]

यहाँ ज्ञातव्य है कि लिंगपरामर्शको अनुमानकी परिभाषा माननेमें जो आपत्ति धर्मभूषणने प्रदर्शित की है वह उद्योतकरके भी ध्यानमें रही है अथवा उनके समक्ष भी प्रस्तुत की गयी जान पड़ती है ।[2] अतएव उन्होंने 'भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानमिति' अर्थात् 'लैंगिकी प्रतिपत्ति (लिंगीका ज्ञान) अनुमान है' कहकर साध्यज्ञानको अनुमान मान लिया है। जब उनसे कहा गया कि साध्यज्ञानको अनुमान मान लेने पर फलका अभाव हो जाएगा तो वे उत्तर देते हैं कि 'नहीं, हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धियाँ उसका फल हैं। उद्योतकर यहाँ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात और कहते हैं ।[3] वह यह कि सभी प्रमाण अपने विषयके प्रति भावसाधन हैं—'प्रमितिः प्रमाणम्' अर्थात् प्रमिति ही प्रमाण है और विषयान्तरके प्रति करण साधन हैं—'प्रमीयतेऽनेनेति' अर्थात् जिसके द्वारा अर्थ प्रमित हो उसे प्रमाण कहते हैं । इस प्रकार वे अनुमानकी उक्त साध्यज्ञानरूप परिभाषा भावसाधनमें स्वीकार करते हैं। धर्मभूषणने इसी महत्त्वपूर्ण तथ्यका उद्घाटन किया तथा साध्यज्ञान ही अनुमान है, इसका समर्थन किया ।

इस प्रकार जैन अनुमानको परिभाषाका मूल रूप स्वामी समन्तभद्रकी 'सधर्मणैव साध्यस्य' इस आप्तमीमांसाकी कारिका (१०६)में निहित है और उसका विकसित रूप सिद्धसेनके न्यायावतार (का० ५)से आरम्भ होकर अकलंककी उपर्युक्त लघीयस्त्रय (का० १२) और न्यायविनिश्चय (द्वि० भा० २।१) गत दोनों परिभाषाओंमें पारसमाप्त है। लघीयस्त्रयकी अनुमानपरिभाषा तो इतनी व्यवस्थित, युक्त और पूर्ण है कि उसमें किसी भी प्रकारके सुधार, संशोधन, परिवर्द्धन या परिष्कारकी भी गुंजायश नहीं है। अनुमानका प्रयोजकतत्त्व क्या है और स्वरूप क्या है, ये दोनो बातें उसमें समाविष्ट हैं।

गौतमकी 'तत्पूर्वकमनुमानम्'[4], प्रशस्तपादकी 'लिंगदर्शनात् संजायमानं लैंगि-

---

१. धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः । तादात्विकानुभवस्मृती प्रत्यभिज्ञाने । स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवाः साध्यसाधनविषयास्तर्के । तद्वल्लिंगज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसंगतमेव ।

—न्यायदी० पृष्ठ ६६, ६७ ।

२. भवतु वाऽयमर्थो लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानमिति । ननु च फलाभावो दोष उक्तः ? न दोषः । हानोपादानोपेक्षाबुद्धीनां फलत्वात् ।

—न्यायवा० १।१।१, पृष्ठ २८, २९ ।

३. वही, १।१।३, पृ० २९ ।

४. न्या० सू० १।१।५ ।

कम्'[1] और उद्योतकरकी लिंगपरामर्शोऽनुमानम्'[2] परिभाषाओंमें हमें केवल कारणका निर्देश मिलता है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा 'लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्'में[3] स्वरूपका ही उल्लेख है, कारणका उसमें कोई सूचन नहीं है। दिङ्नागको 'लिंगादर्थदर्शनम्'[4] अनुमानपरिभाषा-में यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, परन्तु उसमें लिंगको कारणके रूपमें सूचित किया है, लिंगके ज्ञानको नहीं। किन्तु तथ्य यह है[5] कि अज्ञायमान धूमादि लिंग अग्नि आदिके जनक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, अगृ-हीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भावमात्रसे अनुमान हो जाना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। पर्वतमें अग्निका अनुमान उसी पुरुषको होता है जिसने पहले महानस आदिमें धूम-अग्निको एक साथ अनेकबार देखा और उनका अविनाभाव ग्रहण किया, फिर पर्वतके समीप पहुँच कर धूमको देखा, अग्नि और धूमकी व्याप्ति (अविनाभाव)का स्मरण किया और फिर पर्वतमें उनका अविनाभाव जाना तब उस पुरुषको 'पर्वतमें अग्नि है' ऐसा अनुमान होता है।[6] केवल लिंगके सद्भाव-मात्रसे नहीं। अतः दिङ्नागके उक्त अनुमानलक्षणमें 'लिंगात्'के स्थानमें 'लिंग-दर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

अकलंकदेवका 'लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्। लिंगिधीरनु-मानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥'[7] यह अनुमानलक्षण उक्त दोषोंसे मुक्त है। इसमें अनुमानके साक्षात् कारणका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी निर्दिष्ट है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमे उन्होंने 'तत्फलं हानादिबुद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमानके फलका भी निर्देश किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंसे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलंककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही

---

१. प्रश० भा० पृष्ठ ९९।

२. न्यायवा० १।१।५, पृ० ४५।

३. वही, १।१।३, पृष्ठ २८।

४. न्या० प्र० पृष्ठ ७।

५. अज्ञायमानस्य तस्य (लिंगस्य) साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीनामप्य-ग्न्यादिज्ञानोत्पत्तिप्रसंगः।
—न्या० दी०, पृष्ठ ६७।

६. अगृहीतव्याप्तेरिव गृहीतविस्मृतव्याप्तेरपि पुंसोऽनुमानानुदयेन व्याप्तिस्मृतेरप्यनु-मितिहेतुत्वात्। धूमदर्शनाच्चोद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति। यो यो धूमवान् स सो-ऽग्निमान् यथा महानस इति। तेन धूमदर्शने जाते व्याप्तिस्मृतौ सत्यां यद्धूमज्ञानं तत् तृतीयं "धूमवानयम्" इति। तदेवाग्निमनुमापयति नान्यत्।
—तर्कभा० पृ० ७८, ७९।

७. लघीय० का० १२।

अपने तर्कग्रन्थोंमें अपनाया है। विद्यानन्द जैसे तार्किकमूर्धन्यने तो '....अनुमार्थं विदुर्बुधाः'[1] कह कर और 'आचार्यों' द्वारा उसे कथित बतला कर उसके महत्त्व-का भी ख्यापन किया है।

(घ) अनुमानका क्षेत्र-विस्तार : अर्थापत्ति और अभावका अन्तर्भाव :

जैसा कि हम पहले निर्देश कर आये हैं कि परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद हैं—(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम। इनके अतिरिक्त अन्य प्रमाणान्तर जैन दर्शनमें अभ्युपगत नहीं हैं।

विचारणीय है कि जिन उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, ऐतिह्य, निर्णय, प्रातिभ, आर्ष, सिद्धदर्शन और चेष्टाका उल्लेख करके उनके प्रमाण होने अथवा न होनेकी चर्चा अन्य दर्शनोंमें की गयी है उनके विषयमें जैन दर्शनका क्या दृष्टि-कोण है? उनका स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव किया गया है या उन्हें अप्रमाण कहा गया है?

गौतमने[2] प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दके अतिरिक्त उपमानको भी चौथे प्रमाण-के रूपमें स्वीकार किया है। मीमांसादर्शनके भाष्यकार शबरस्वामीने[3] उक्त चार प्रमाणोंके साथ अर्थापत्ति और अभावको भी पाँचवें तथा छठे प्रमाणके रूपमें प्रति-पादन किया है। सम्भव आदिको किन्होंने प्रमाण माना है, इसका स्पष्ट निर्देश उपलब्ध न्याय एवं दर्शनके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। पर प्रशस्तपादने[4] उनका उल्लेख-पूर्वक यथायोग्य अन्तर्भाव अवश्य दिखाया है।

प्रशस्तपादका मत[5] कि चौबीस गुणोंमें जो बुद्धि है, जिसे उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय नामोंसे कहा जाता है, वह अनेक प्रकारके अर्थोंको जाननेके कारण यद्यपि अनेक प्रकारकी है फिर भी उसे दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) अविद्या और (२) विद्या। अविद्या चार प्रकारकी है—(१) संशय, (२) विपर्यय (३) अनध्यवसाय और (४) स्वप्न। विद्याके भी चार भेद हैं[6]—(१) प्रत्यक्ष, (२) लैंगिक, (३) स्मृति और (४) आर्ष। इनमें प्रत्यक्ष[7] और लैंगिक[8] ये दो

---

१. त० श्लो० १।१३, पृ० १९७।
२. न्या० सू० १।१।३।
३. मी० द० भा० १।१।५।
४. प्रश० भा० पृ० १०६-१२९।
५. वही, पृ० ८३-९१।
६. वही पृष्ठ ९४।
७. वही, पृ० ९८, ९९।
८. वही, पृ० १०६।

विधाएँ प्रमाण हैं। पर स्मृति और आर्ष ये मात्र विधाएँ (ज्ञान) हैं। वे न अतिरिक्त प्रमाण हैं और न उक्त दो प्रमाणोंमें अन्तर्भूत हैं क्योंकि वे परिच्छेदकमात्र हैं, व्यवस्थापक नहीं[1]। प्रशस्तपादने 'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्'[2] कहकर शब्द, चेष्टा, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव तथा ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है। निर्णय[3] एक विशेषदर्शनसे उत्पन्न अवधारणात्मक ज्ञान है जो कहीं प्रत्यक्षात्मक होता है और कहीं अनुमानात्मक। प्रत्यक्षात्मक निर्णय प्रत्यक्षप्रमाणमें और अनुमानात्मक निर्णय अनुमानमें अन्तर्भूत है। आर्ष[4] आर्षज्ञानरूप है। इसीको प्रातिभ कहते हैं। यह ऋषिविशेषोंको होता है, जो आत्म-मन संयोग और धर्मविशेषसे ग्रन्थोंमें कथित अथवा अकथित धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय करता है। यह अलौकिक प्रातिभ (आर्ष) है। लौकिकोंको भी यह कभी कदाचित् होता है। उदाहरणार्थ 'कन्यका ब्रवीति श्वः मे भ्राता ऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयति' अर्थात् कन्या कहती है कि कल मेरा भाई आएगा, ऐसा मेरा दिल बोल रहा है। सिद्धदर्शनको[5] प्रशस्तपादने अलग ज्ञानान्तर तो नहीं माना, पर उसे प्रत्यक्ष और अनुमानके अन्तर्गत ही बतलाया है। कदाचित् आर्षमें भी उसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस प्रकार प्रशस्तपादने ज्ञानोंके अन्तर्भावका संक्षेपमें प्रतिपादन किया है।

गौतमने[6] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताकी मीमांसा करते हुए शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव इन तीनोंका अन्तर्भाव किया है।

जैन तार्किकोंने भी इस पर सूक्ष्म विचार किया है और उसकी पुष्कल चर्चा प्रस्तुत की है। जैनागमोंमें ज्ञान और उसके विभिन्न प्रकारोंका विस्तृत निरूपण उपलब्ध है। आर्हतदर्शनमें[7] ज्ञानको आत्माका स्वपरावभासक असाधारण गुण माना गया है और उसे उसका आत्मरूप (स्वभाव) स्वीकार किया है, संयोगज या समवायी नहीं। आवरणके न्यूनाधिक अभावसे वह मन्द, मन्दतर,

---

१. प्र० भा०, पृष्ठ १२८, १२९।
२. वही, पृ० १०६-११२।
३. वही, पृ० १२७, १२८।
४. वही, पृ० १२८, १२९।
५. वही, पृ० १२६।
६. न्यायसू० २।२।१, २।
७. तत्र ज्ञानं तावदात्मनः स्वपरावभासकः असाधारणो गुणः। स च अभ्रपटलविनिर्मुक्तस्य भास्वत इव निरस्तसमस्तावरणस्य जीवस्य स्वभावभूतः केवलज्ञानव्यपदेशं लभते।
—यशोविजय, ज्ञानबि० प्र० पृष्ठ १।

मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम जैसे अवच्छेदक भेदोंको धारण करता है तथा आगमभाषामें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पाँच मूल भेदों द्वारा व्यवहृत होता है। इनमें आद्य चार ज्ञानोंके भी अनेक उपभेद हैं। पर 'केवल' एक रूप है और पूर्ण है। उसमें अंश-भेद नहीं है। यह जीवन्मुक्तों (अर्हतों) तथा पूर्ण मुक्तात्माओं (सिद्धों) के ही होता है। वैशेषिकोंके सिद्धदर्शनसे उसकी कुछ तुलना एवं पहचान की जा सकती है, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरस्थ सभी पदार्थोंको यह युगपत् जानता है (तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्—आ० मी० १०१) और निरावरण होनेके अनन्तर फिर नष्ट नहीं होता—सदा विद्यमान रहता है। इसीसे इसे अविनाशी, असीम, पूर्ण और अनन्त कहा गया है।

तर्कयुगमें इन्हीं ज्ञानोंको परोक्ष और प्रत्यक्ष दो प्रमाणोंमें विभाजित किया है। मति और श्रुत ये दो इन्द्रियादि परापेक्ष होनेसे परोक्ष कहे गये हैं और शेष तीन इन्द्रियादिकी अपेक्षा न रखनेके कारण प्रत्यक्ष माने गये हैं। परोक्ष प्रमाण-का क्षेत्र इतना व्यापक और विस्तृत है कि इसमें उन सभी ज्ञानोंका समावेश हो जाता है जिनमें इन्द्रिय और मनकी सहायता अपेक्षित है। ऐसे कुछ ज्ञानोंका उल्लेख 'मति स्मृति संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'[1] सूत्र द्वारा आचार्य गृद्धपिच्छने किया है और 'इति' शब्दसे इसी प्रकारके अन्य ज्ञानोंके भी संग्रहकी उन्होंने सूचना की है। वे अन्य ज्ञान कौन हैं, इसका स्पष्ट निर्देश हमें आ० विद्यानन्दके विवेचनसे मिलता है। उन्होंने लिखा है[2] कि सूत्रकारने 'इति' शब्दसे, जो प्रकारार्थक है, बुद्धि, मेधा, प्रज्ञा, प्रतिभा, अभाव, सम्भव, अर्थापत्ति और उपमानका संग्रह किया है। अर्थग्रहणकी जिसमें शक्ति है उसे बुद्धि कहते हैं। यह मति (अवग्रहादि अनुभवविशेष) का प्रकार है। अर्थात् वह अनुभवरूप मतिज्ञानका एक भेद है। शब्दस्मरणकी शक्ति मेधा है। वह किन्हीं-किन्हीं महा-

---

१. त० सू० १।१३।

२. इति शब्दात्प्रकारार्थाद् बुद्धिर्मेधा च गृह्यते।
प्रज्ञा च प्रतिभाऽभावः सम्भवोपमिती तथा॥
बुद्धिर्मतेः प्रकारः स्यादर्थग्रहणशक्तिका।
मेधा स्मृतेः तथा शब्दस्मृतिशक्तिर्मनस्विनाम्॥
ऊहापोहात्मिका प्रज्ञा चिन्तायाः प्रतिभोपमा।
सादृश्य पाधिके भावे सादृश्ये तद्विलक्षणे॥
प्रवर्तमाना केषांचिद् दृष्टा सादृश्यसंविदः।
संज्ञायाः, सम्भवाभावस्तु लैंगिकत्व कृपागतेः॥
—त० श्लो० १।१३।३, ५,६,७, पृष्ठ १८८।

धनाओंके उत्पन्न होती है और स्मरणसामान्यसे विशिष्ट होती है। यह स्मरणका प्रकार है। ऊहापोहरूप प्रज्ञा है। उसका चिन्ता (तर्क)में समावेश है। प्रसादगुण-से युक्त नवीन-नवीन अर्थोंके ज्ञानको व्यक्त करनेवाली प्रतिभा भी चिन्ताका प्रकार है। सादृश्य-विशिष्ट वस्तुमें या वस्तु-विशिष्ट सादृश्यमें होने वाला सादृश्यज्ञानरूप उपमान संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान)का प्रकार है। अर्थात् 'गोके सदृश गवय होता है' इस वृद्धवाक्यका स्मरण कर अरण्यमें गवयको देखकर 'ऐसी ही गाय होती है' ऐसा सदृशका ज्ञान होना अथवा इसका सादृश्य गायमें है, ऐसा सादृश्यका ज्ञान होना उपमान है। यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानसे भिन्न नहीं है।

इसी सन्दर्भमें विद्यानन्दने सम्भव, अर्थापत्ति, अभाव और कोई उपमानज्ञान-को लिंगजन्य होनेसे उन्हें लैंगिक (अनुमान)के अन्तर्गत प्रतिपादन किया है। हम पीछे प्रशस्तपादका उल्लेख कर आए हैं। उन्होंने भी इन चारों ज्ञानोंको लिंगजन्य बतला कर उनका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है।

अर्थापत्ति और अभाव अनुमानसे पृथक् नहीं हैं :

मीमांसक अर्थापत्तिको अनुमानसे पृथक् प्रमाण माननेमें प्रधान युक्ति यह देते हैं कि अनुमानमें दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और साध्यसाधनके अविनाभाव (व्याप्ति)का निर्णय दृष्टान्तमें होता है। पर अर्थापत्तिमें दृष्टान्त अपेक्षित नहीं होता और न अन्यथानुपपद्यमान तथा कल्पित अर्थके अविनाभावका निश्चय दृष्टान्तमें होता है, अपितु पक्षमें ही होता है। इसी प्रकार अनुमानमें बहिर्व्याप्ति दिखायी जाती है। परन्तु अर्थापत्तिमें केवल अन्तर्व्याप्तिको माना गया है। अतः अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् प्रमाण है?

जैन तार्किकोंका[1] मत है कि अर्थापत्ति और अनुमानका उक्त भेद वास्त-

---

१. दृष्टान्तनिरपेक्षत्वं लिंगस्यापि निवेदितम्।
तन्न मानान्तरं लिंगादर्थापत्त्यादिवेदनम्॥
सिद्धः साध्याविनाभावो अर्थापत्तेः प्रभावकः।
—त० श्लो० १।१३।२५०, २८६, पृष्ठ २१०।
(ख) ततो यथाऽविनाभावः प्रमाणात्स्वस्वसाधने।
अदृष्टान्तेऽपि निर्णीतस्तथा स्यादन्यहेतुषु॥
—वादीभसिंह, स्या० सि० ९।९, पृष्ठ ९२।
(ग) ननु लिंगस्य दृष्टान्तधर्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रसिद्धसर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्व-निश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकार्थस्य तु साध्यधर्मिण्येव प्रत्यक्षप्रमाणात्सर्वोपसंहारे-णान्यथानुपपद्यमानत्वनिश्चय इत्यनयोर्भेदः, तदयुक्तम्, न हि लिंगं सपक्षा-नुगमबलेन गमकम्, तदभावे हेतोर्गमकत्वे पक्षधर्मत्वाभावात्, गर्भस्थे तत्पुत्रत्वादौ। किं तर्हि? 'अन्तर्व्याप्तिबलेन' इति —।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० २।२, पृष्ठ १९४।

मिक नहीं है। यथार्थमें अनुमानमें भी दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्, प्रमेयत्वाद्वा'—सभी वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं अथवा प्रमेय हैं, 'अद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि सन्ति इष्टानिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तेः'—अद्वैतवादीके भी प्रमाण हैं, अन्यथा इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण नहीं बन सकेगा, इत्यादि अनुमानोंमें दृष्टान्त नहीं है और उनकी व्याप्तिका निर्णय पक्षमें ही होता है। अतः जिस तरह इन अनुमानोंमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए। यहाँ कहा जा सकता है[1] कि बिना दृष्टान्तके साध्य-साधनके अविनाभावका निर्णय पक्षमें कैसे हो सकता है, क्योंकि वहाँ साध्य तो अज्ञात है और जब तक साध्य तथा साधन दोनोंका ज्ञान नहीं होगा तब तक उनके अविनाभावका निश्चय असम्भव है? यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तके बिना भी उल्लिखित हेतुओंमें अविनाभावका निश्चय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है। यही दोनों समस्त अनुमानोंमें व्याप्ति-निश्चायक है। व्याप्तिनिश्चयके लिए यह आवश्यक नहीं कि साध्यका ज्ञान होने पर ही उसका निश्चय हो, क्योंकि व्याप्ति तो हेतुका स्वरूप है[2] और हेतुका ज्ञान हेतु प्रयोगके समय हो जाता है। तात्पर्य यह कि दृष्टान्तके बिना भी केवल पक्ष-में अथवा पक्षके अभावमें भी विपक्षमें बाधक प्रमाणके बल तथा तर्कसे साध्य-साधनके अविनाभावका निर्णय हो जाता है। अतः दृष्टान्तका सद्भाव-असद्भाव अनुमान और अर्थापत्तिके पार्थक्यका प्रयोजक नहीं है।

बहिर्व्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति भी अनुमान और अर्थापत्तिकी भेदक रेखाएँ नहीं हो सकतीं। यथार्थमें बहिर्व्याप्ति अव्यभिचारिणी व्याप्ति नहीं है। 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्' इत्यादि स्थलोंमें बहिर्व्याप्तिके विद्यमान रहने पर भी

---

१. दृष्टान्तरहिते कस्मादविनाभावनिर्णयः ।
अन्यत्र ज्ञातसम्बन्धसाध्यसाधनयोर्भवेत् ॥
पक्षे तन्निर्णयो न स्यात्साध्यस्याप्रतिपत्तितः ।
साध्यसाधनवित्तौ हि पक्षे तन्निर्णयो भवेत् ॥
इति चेत्पक्ष एव स्यादविनाभावनिर्णयः ।
विपक्षे बाधसामर्थ्यात्तर्काच्चास्य विनिश्चयः ॥
—वादीभसिंह, स्याद्वादसि० ६।१०, १२, ११ ।

२. इति चेदविनाभावः साध्याज्ञानेऽपि गम्यते ।
तस्य हेतोः स्वरूपत्वात्तत्सामग्रीतोऽस्य निर्णयः ॥
—वही, ९।१४ ।

अन्तर्व्याप्तिके अभावमें 'तत्पुत्रत्व' आदि हेतु साध्यके गमक नहीं है।[1] वास्तवमें अन्तर्व्याप्तिके बलसे ही हेतुको जैनदर्शनमें गमक माना गया है। अतः अन्तर्व्याप्ति ही वास्तविक व्याप्ति है, बहिर्व्याप्ति नहीं और अन्तर्व्याप्तिसे विशिष्ट हेतु द्वारा उत्पन्न ज्ञानको ही अनुमान कहा गया है। अतएव अर्थापत्ति और अनुमानमें कोई भेद नहीं है—अनुमानमें ही उसका अन्तर्भाव है क्योंकि दोनोंका प्रयोजक तत्त्व एक अविनाभाव (अन्यथानुपपत्ति-अन्तर्व्याप्ति) ही है और उससे विशिष्ट—अविनाभावी लिंगसे ही दोनों उत्पन्न होते हैं। अन्यथानुपपद्यमान अर्थ और अविनाभावी लिंगमें तात्त्विक कोई अन्तर नहीं है। पक्षधर्मत्वसहिता अर्थापत्ति, पक्षधर्मत्वरहिता अर्थापत्ति, प्रत्यक्षार्थापत्ति, अनुमानार्थापत्ति, उपमानार्थापत्ति, शब्दार्थापत्ति, अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति और अभावार्थापत्ति ये अर्थापत्तिके भेद अविनाभावरूप एकलक्षणसे लक्षित होनेसे अनुमानका ही विस्तार हैं।

अभावको प्रमाणान्तर स्वीकार करने वाले भाट्ट मीमांसकोंका मत है[2] कि यतः वस्तु भावाभावात्मक है, अतः उसके भावांशका ग्रहण तो प्रत्यक्षादि पांच भावप्रमाणोंसे हो सकता है। परन्तु उसके अभावांशका परिज्ञान उनके द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रमेय भिन्न है। अतएव वहां प्रत्यक्षादि पांच प्रमाणोंका प्रवेश नहीं है वहां अभावको प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्षसे जब हम घटरहित भूतलको देखते हैं और प्रतियोगी घटका स्मरण करते हैं तो 'यहां घड़ा नहीं है' इस प्रकारका इन्द्रियनिरपेक्ष मानसिक नास्तिताज्ञान होता है। यह नास्तिता-ग्राही ज्ञान ही अभावप्रमाण है?

जैन विचारकोंका मन्तव्य है कि जब वस्तु भावाभावात्मक है और भावांश अभावांशसे भिन्न नहीं है तो जो प्रमाण भावांशको जानेगा वहीं अभावांशको जान लेगा, उसे जाननेके लिए अलग प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। तथ्य है कि जब यह

---

१. किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः।
तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते॥
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी॥
—स्या० सि०, ४।८२, ११।

२. प्रमाणपंचकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥
गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥
न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्पाद्यते मतिः।
भावांशेनैव सम्बन्धो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि॥
—कुमारिल, मी० श्लो० अभाव० प० श्लो० १, २७, १८।

कहते हैं कि 'हम घटरहित भूतलको देखते हैं' तो भूतलके साथ उसके विशेषण-रूपसे घटरहितताको भी देखते हैं। यह असम्भव है कि दण्डवाले देवदत्तको देखें और दण्डको न देखें। यतः विशेषणके ज्ञानके बिना 'दण्डवाला देवदत्त' ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार घटरहित भूतलको देखते समय उसके घटरहितता-विशेषणका ज्ञान हुए बिना 'घटरहित भूतल' ऐसा विशिष्ट प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः जब हम ऐसा जानते हैं या शब्दप्रयोग करते हैं कि 'घट-रहित भूतल है' या 'भूतल घटरहित है' तो अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) द्वारा ही घटाभावका ज्ञान होता है।[1] किन्तु जब हम ऐसा जानते या ज्ञान करते हैं कि *'यहां घड़ा नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता'*, तो यह घटाभावज्ञान अनुप-लब्धिलिंगजनित अनुमान है।[2] सच यह है कि अनेकबार भूतल पर घड़ा देखा था, परन्तु अमुक बार उसका दर्शन नहीं हुआ तो वहां स्वभावतः अकेले भूतलको देखने और भूतलसंसृष्ट घड़ेका स्मरण होने पर 'यहां घड़ा नहीं है, क्योंकि वह देखनेमें नहीं आता, यदि होता तो अवश्य दिखाई देता' इस प्रकारका ऊहापोह (तर्क) पूर्वक उत्पन्न यह लैंगिक (अनुमान) ज्ञान ही है, भले ही उसे मानस कहा जाए, क्योंकि अनुमान भी मानसज्ञानका एक प्रकार है। अतः अभावप्रमाण अनुमानसे अर्थान्तर नहीं है—उसीमें उसका समावेश है। यही कारण है कि अनुमानके प्रधान अंग हेतुके भेद-प्रभेदोंमें प्रतिषेधसाधक उपलब्धि हेतु और विधि तथा प्रतिषेधसाधक अनुपलब्धि हेतुओंकी भी परिगणना की गयी है[3] और उनके होने वाले अनुमेयार्थ—अभावके ज्ञानको अनुमान प्रतिपादन किया है।

सम्भवका अनुमानमें अन्तर्भाव :

सम्भव प्रमाण भी अनुमानसे भिन्न नहीं है। यह एक प्रकारका सम्भाव-

---

१. भावाभावात्मके भावे भावबित्स्याद्भावविद् ॥
प्रागभावाद्यभावश्च नन्वभावप्रमा, ततः।
भावप्रमाणतोऽन्यायास्तस्या एवानिरीक्षणात्।
—वादीभसिंह, सम्पा० दरबारीलाल कोठिया, स्याद्वादसि० १२।८, १,२।
निषेध्याधारो वस्त्वन्तरं प्रतियोगिसंसृष्टं प्रतीयते असंसृष्टं वा ? ...।
द्वितीयपक्षे अभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनोऽभावप्रतीतेः।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० २।२, पृष्ठ २०३।

२. अत्रेति ज्ञानमध्यक्षं प्राग्विज्ञाते घटे स्मृतिः।
अनुपलम्भतो नास्तीत्युक्तावनुमितिर्भवेत् ॥
स्वार्थानुभूतिसम्भूतिर्घटादिस्मरणे भवेत्।
इत्यादिवचने तस्त्वात्परार्थोऽपि न साङ्गता ॥
वादीभसिंह, स्या० सि० १२।३, ५।

३. परीक्षामुख ३।५४, ६७-८५।

त्मक ज्ञान है। जैसे 'सम्भवति सहस्रे शतम्' अर्थात् हजारमें सौ सम्भव हैं। अथवा दो सेर वस्तुको देखकर उसमें एक सेर वस्तुकी सम्भावना करना। यह ज्ञान अनुमानके अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि प्रत्यक्ष—सहस्र या दो सेरको देखकर परोक्ष—सौ या एक सेरका अनुमान किया जाता है। विद्यानन्दने इसका उल्लेख करके इसे अनुमानमें अन्तर्भूत किया है।[1]

प्रातिभका अनुमानमें समावेश :

विद्यानन्दने[2] प्रातिभज्ञानका भी निर्देश किया और उसका अनुमानमें समावेश किया है। जिस रत्नादिके प्रभाव एवं मूल्यादिको सामान्यजन न जान सकें, किन्तु अत्यन्त अभ्यासके कारण तद्विशेषज्ञ व्यक्ति उसके प्रभाव एवं मूल्यादिको तत्काल जान लें, ऐसे ज्ञानको प्रातिभ कहा गया है। यह ज्ञान अनुमान ही है, क्योंकि जिन हेतुओंसे यह होता है वे लिंगसे भिन्न नहीं हैं। अतः यह लैंगिक ही है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्दसे पूर्व अकलंकने[3] भी तत्त्वार्थवार्तिकमें उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावके उल्लेख-पूर्वक उपमान, शब्द और ऐतिह्यका श्रुतमें एवं अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है। अकलंककी यहां एक विशेषता परिलक्षित होती है। उन्होंने[4] अनुमानका भी श्रुतमें समावेश किया है। उनका मत है कि स्वप्रतिपत्तिकालमें वह अनक्षरश्रुत है और परप्रतिपादन (प्रतिपत्ति) कालमें अक्षरश्रुत। यहाँ अकलंकदेवने षट्खण्डागमकी परम्परानुसार अनुमानको श्रुत बतलाया है। हम पहले लिख चुके हैं कि आगममें एक अर्थसे दूसरे अर्थके जाननेको श्रुत कहा गया है। अनुमानमें भी एक अर्थ (धूमादिक)से दूसरे अर्थ (अग्न्यादिक)की प्रतिपत्ति की जाती है। अतः आगमकी परम्पराको ध्यानमें रखकर ही अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें अनुमानको श्रुत (अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत)में अन्तर्भूत किया है। ध्यान रहे कि

---

१. सम्भवः प्रमाणान्तरमाढकं दृष्ट्वा सम्भवत्यर्धाढकमिति प्रतिपत्तेरन्यथा विरोधात्। …सम्भवादेश्च यो हेतुः सोऽपि लिंगान्न भिद्यते।
त० श्लो० वा० १।१३।२८८, २८९, पृ० २१७।

२. प्रातिभं च प्रमाणान्तरमत्यन्ताभ्यासादन्यजनावेद्यस्य रत्नादिप्रभावस्य झटिति प्रतिपत्तेर्दर्शनादित्यन्ये तान् प्रतीदमुच्यते…।
—वही, १।१३।२८८, पृष्ठ २१७।

३. तत्त्वार्थवा० १।२०।१५, पृ० ७८।

४. 'यस्मादेतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति…तदेतत्त्रितयमपि (अनुमानं) स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम्।
—तत्त्वार्थवा० १।१३।१५, पृष्ठ ७८।

उन्होंने[1] उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावको भी स्वप्रतिपत्तिकालमें अन-क्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमें अक्षरश्रुत कहा है, क्योंकि इनके द्वारा भी दोनों प्रकारकी प्रतिपत्ति होती है।

पर विद्यानन्द[2] स्वप्रतिपत्तिकालमें होने वाले अनुमान—स्वार्थानुमानको तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छके अभिप्रायानुसार अभिनिबोधनामक विशिष्ट मतिज्ञान बतलाते हैं, उसे वे श्रुत (अनक्षरश्रुत) नहीं कहते, क्योंकि वह शब्द-योजनारहित होता है।[3] किन्तु वे परार्थानुमान (परप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान) को ही अश्रोत्रमति और श्रोत्रमतिजन्य अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दोनोंरूप प्रतिपादन करते हैं।[4] इस तरह हम देखते हैं कि विद्यानन्द परार्थानु-मानको ही श्रुतके अन्तर्गत मानते हैं, स्वार्थानुमानको नहीं।

यहां अकलंक और विद्यानन्दके प्रतिपादनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर और दिखाई देता है। अकलंक स्वप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान (स्वार्थानुमान) को अनक्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमें होनेवाले अनुमान (परार्थानुमान)को अक्षर-श्रुत कहते हैं।[5] किन्तु विद्यानन्द परार्थानुमानको ही अनक्षरश्रुत और अक्षरश्रुत दोनोंरूप प्रकट करते हैं।[6] इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वे स्वार्थानुमान को शब्दयोजनारहित विशिष्टमतिज्ञान (अभिनिबोध-मतिज्ञान) मानते हैं और अपनी इस मान्यताका आधार तत्त्वार्थसूत्रकारके 'मतिःस्मृति.[7]....' आदि सूत्रमें आये 'अभिनिबोध' को, जो मतिज्ञानका पर्याय है और जिसे तर्कका फल

१. 'यथा गौस्तथा गवयः केवलं सास्नारहितः' इत्युपमानमपि स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वाद-क्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति।...एतेषामप्यर्थापत्त्यादीनामनुक्तानामनुमानसमानत्वमिति पूर्ववत् श्रुतान्तर्भावः।
—तत्त्वार्थवा० १।२०।१५, पृ० ७८।

२. तदेतत्साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं स्वार्थमभिनिबोधलक्षणं विशिष्टमतिज्ञानं साध्यं प्रत्य-भिमुखान्नियमितात्साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्याभिनिबोध इति सद्याप्रतिपादनात्
—प्र० प० पृ० ७६।

३. लिङ्गजो बोधः शब्दयोजनारहितोऽभिनिबोध एवेति।...सत्यं स्वार्थानुमानं तु विना वचश्शब्दयोजनात्।'
—तत्त्वार्थश्लो० वा० १।१३।३८८, पृ० २१६।

४. परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च, तस्याश्रोत्रमतिपूर्वकस्य श्रोत्रमति-पूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।
—प्र० प० पृ० ७६।

५. तदेतत्त्रितयमपि (अनुमानं) स्वप्रतिपत्तिकाले अनक्षरश्रुतं परप्रतिपादनकाले अक्षरश्रुतम्।
—त० वा० १।१३।१५, पृ० ७८।

६. प्र० प० पृ० ७६। तथा पिछले पृष्ठका फुटनोट।

७. तत्त्वार्थसू० १।१३।

कहा जाता है,[1] बतलाते है। कुछ भी हो, अनुमान चाहे मतिज्ञान हो, चाहे श्रुत-ज्ञान। वह परोक्षप्रमाण तो है ही, और वह इतना व्यापक एवं विस्तृत क्षेत्रवाला है कि उसमें अर्थापत्ति, सम्भव और अभावका अन्तर्भाव हो जाता है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। अकलंकने इतना विशेष और प्रतिपादन किया है कि ये तीनों तथा उपमान स्वप्रतिपत्ति भी कराते हैं और परप्रतिपत्ति भी। चेष्टा और प्रातिभ भी लिंगज होनेसे अनुमानमें ही अन्तर्भुक्त हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन अनुमानका क्षेत्र बहुत विस्तृत और विशाल है। नाना ज्ञानोंको एकत्र लाने, जोड़ने और उन्हें 'अनुमान' जैसी व्यापक संज्ञा देनेवाली जो महत्त्वपूर्ण कड़ी है वह है 'अन्यथानुपपन्नत्व' अर्थात् जो ज्ञान अन्यथानुपपन्नसाधनज्ञानजन्य हैं वे सब अनुमान हैं। अन्यथानुपपन्नत्वका[2] विचार आगे किया जाएगा।

---

१. साधनादुपजातबोधस्य तर्कफलस्य...।
—प्र० प० पृष्ठ ७६।

२. 'इदमन्तरेण इदमनुपपन्नम्' इसके बिना वह नहीं होता—अग्निके बिना धूम नहीं होता, इस प्रकारके अनुमान-प्रयोजक तत्त्वको 'अन्यथानुपपन्नत्व' कहा गया है।

अध्याय : ३ :

प्रथम परिच्छेद

अनुमानभेद-विमर्श

पिछले अध्यायमें अनुमानके स्वरूपकी मीमासा की गयी है। यहाँ उसके भेदोंपर विमर्श किया जायेगा।

वैशेषिक :

वैशेषिकसूत्रकारने[1] लिङ्ग (हेतु)से उत्पन्न होनेवाले लैङ्गिक (अनुमान)के पाँच भेदोंका निर्देश किया है। वे ये है—१ कार्य, २ कारण, ३ संयोगि, ४ विरोधि और ५ समवायि। पर वस्तुतः ये लिङ्गके भेद हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें लैङ्गिकके भेद कहा गया है। भाष्यकार प्रशस्तपादने[2] अन्य दो प्रकारसे अनुमानके भेदोंका प्रतिपादन किया है। प्रथम प्रकारसे दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट ये दो भेद है तथा द्वितीय प्रकारसे स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमान ये दो हैं। द्वितीय प्रकारसे इन दो भेदोंकी कल्पना भाष्यकारकी स्वोपज्ञ जान पड़ती है,

---

१. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ९।२।१।

२. (क) तत्तु द्विविधं दृष्टं सामान्यतोदृष्टं च।
—प्रश० भा० पृ० १०४।

(ख) अथवाऽग्निज्ञानमेव प्रमाणं प्रमितिरग्नौ गुणदोषमाध्यस्थ्य-दर्शनमित्येतत्स्वनिश्चितार्थमनुमानम्।

पञ्चावयवेन वाक्येन स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्। पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयित-विपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां स्वनिश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानं ज्ञेयम्।
—वही, पृ० १०६, ११३।

क्योंकि वह उनसे पूर्व दर्शन-ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती। जब लिङ्गसे लिङ्गी (अनुमेयार्थ) का ज्ञान स्वयं किया जाता है तब स्वनिश्चितार्थानुमान (स्वार्थानुमान) कहलाता है और जब स्वनिश्चित अनुमेयार्थका प्रतिपादन पञ्चावयव वाक्य द्वारा दूसरोंके लिए किया जाता है, जिन्हें अनुमेयमें सन्देह, भ्रान्ति या अनिश्चय है, तब वह परार्थानुमान कहा जाता है।

मीमांसा :

मीमांसादर्शनमें शबरस्वामी द्वारा प्रशस्तपादकी तरह अनुमानके द्वितीय प्रकारके भेद तो स्वीकृत नहीं हैं, किन्तु प्रथम प्रकारके भेद स्वीकृत हैं[1]। इतना ही अन्तर है कि प्रशस्तपादके अनुमानके प्रथम भेदका नाम 'दृष्ट' है और शबरस्वामीके अनुमानका आद्य भेद 'प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध'। इसी तरह अनुमानके दूसरे भेदका नाम प्रशस्तपादने 'सामान्यतोदृष्ट' और शबरने 'सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध' दिया है। दोनों लगभग समान ही हैं। सम्भव है दोनों दर्शनोंके इन अनुमान-भेदोंके मूलमें एक ही विचारधारा रही हो या एकने दूसरेका कुछ परिवर्तनके साथ अनुसरण किया हो।

इन दोनों दर्शनोंके अनुमानके दूसरे भेदपर गौतमके न्यायसूत्रोक्त तीसरे अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' का प्रभाव हो, तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि न्यायसूत्रमें वह उनसे पहले उपलब्ध है।

न्याय :

अक्षपादने[2] अनुमानके तीन भेद प्रतिपादित किये हैं—१. पूर्ववत्, २. शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

न्यायभाष्यकारने[3] इन्हीं तीनका समर्थन किया है और उनकी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। न्यायवार्तिककारने[4] न्यायसूत्र और न्यायभाष्यके समर्थनके अतिरिक्त अनुमानके केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी ये तीन नये भेद भी परिकल्पित किये हैं। 'त्रिविधम्'की व्याख्यारूपमें उन्होंने सर्वप्रथम यही तीन भेद दिखाये हैं। इसके बाद अन्य व्याख्याएँ दी हैं। इन व्याख्याओंमें न्यायभाष्योक्त

---

१. तत्तु द्विविधम्। प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च।
—शा० भा० १।१।५, पृ० ३६।

२. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च।
—न्या० सू० १।१।५।

३. न्या० भा० १।१।५, पृ० २१।

४. त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति।
न्या० वा० १।१।५, पृ० ४६।

दोनों व्याख्याओंको अपनाते हुए तीन व्याख्याएँ और प्रस्तुत की हैं और इस तरह उद्योतकरने 'त्रिविधम्' पदकी छह व्याख्याएँ उपस्थित की हैं। उन्होंने[१] सूत्रोक्त 'च' शब्दसे चतुर्लक्षण और पञ्चलक्षण अनुमानोंका भी संग्रह करनेकी सूचना की है। साथ ही 'त्रिविधम्'को नियमार्थक (तीन ही हैं, ऐसा) मानकर अन्य विभिन्न अनुमानोंका पूर्ववत् आदि तीन अनुमानोंमें ही संग्रह करनेका संकेत किया है[२]। तथा उन अनेक प्रकारके अनुमानों (३, ५, १५, ६० और अनन्त) का दिशाबोध कराया है[३]। स्मरणीय है कि उद्योतकरने[४] वीत और अवीतके भेदसे दो प्रकारके अनुमानोंका भी निर्देश किया है। वाचस्पतिमिश्रने न्यायभाष्य और न्यायवार्त्तिकका विशदीकरण किया है।

जयन्तभट्टने[५] अवश्य एक नयी परम्परा स्थापित की है। न्यायमंजरीमें उन्होंने प्रशस्तपादोक्त स्वार्थ और परार्थ द्विविध अनुमानोंका कथन किया है, जिसका न्यायदर्शनमें अभीतक प्रवेश नहीं हो सका था। इसके बाद केशवमिश्रने[६] तो बहुत ही स्पष्टतया अनुमानके यही दो भेद वर्णित किये हैं। उन्होंने न पूर्ववत् आदि तीनका और न केवलान्वयी आदि तीनका निरूपण किया है। हाँ, केवलान्वयी आदिको हेतुभेदोमें प्रदर्शित किया है। वास्तवमें पूर्ववत् आदि और केवलान्वयी आदि हेतुभेद ही हैं। कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें अनुमान कहा गया जान पड़ता है। विश्वनाथने[७] अनुमानके पूर्ववत् आदि भेद न कहकर उद्योतकरोपज्ञ केवलान्वयी आदि त्रिविध भेदोंका प्रतिपादन किया है। गङ्गेश उपाध्यायने[८] भी तत्त्वचिन्तामणिमें उद्योतकरका अनुगमन किया है और पूर्ववत् आदि न्यायसूत्रीय त्रिविध अनुमान-परम्पराको छोड़ दिया है। अन्नम्भट्टकी[९] तर्कसंग्रहमें

---

१. चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पञ्चलक्षणमनुमानमिति।
—न्या० वा०, १।१।५, पृ० ४६।

२,३. अथवा त्रिविधमिति नियमार्थं अनेकधा भिन्नस्यानुमानस्य त्रिविधेन पूर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्शयति।
—वही, १।१।५, पृ० ४६।

४. वही, १।१।३५, पृ० १२३-१२५।

५. न्या० मं० पृ० १३०-१३१।

६. तर्कभा० पृ० ७९-८०।

७. त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः।
त्रैविध्यमिति। अनुमानं हि त्रिविधं केवलान्वयि-केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्।
—सि० मु० का० १४२, पृ० १२५।

८. तच्चानुमानं त्रिविधं केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात्।
—तत्त्वचि० जागदीशी, पृ० ७६१।

९. तर्कसं० पृ० ५७-५९।

जयन्तभट्ट और केशवमिश्र द्वारा अनुसृत स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेदवाली अनुमान-परम्परा ही अपनायी गयी है, अन्य अनुमानभेद उसमें चर्चित नहीं हैं। केवलान्वयी आदिको इन्होंने भी लिङ्गभेदोंमें परिगणित किया है।

लगता है कि न्यायदर्शनमें अनुमान-भेदोंके सम्बन्धमें एकवाक्यता नहीं रही। वाचस्पति तक तो न्यायसूत्रोक्त त्रिविध भेदवाली अनुमान-परम्परा मिलती है और उनके उत्तरकालमें या तो उद्योतकरकी केवलान्वयी आदि तीन भेदोंवाली या जयन्तभट्ट द्वारा स्वीकृत प्रशस्तपादोक्त स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेदवाली परम्परा आदृत है। इस प्रकार न्यायदर्शनमें अनुमानभेदोंकी तीन परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं जो समयक्रमसे प्रतिष्ठित हुई हैं। तीसरी परम्परापर तो स्पष्टतः वैशेषिकों और सम्भवतः बौद्धोंका प्रभाव परिलक्षित होता है।

सांख्य :

सांख्यदर्शनके प्राचीन ग्रन्थ सांख्यकारिकामें[1] अनुमानके तीन भेद बतलाये हैं। परन्तु उनकी परिगणना नहीं की। अगली कारिकामें एक सामान्यतोदृष्ट[2] अनुमानका अवश्य निर्देश किया और उससे अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धिका कथन किया है। पर युक्तिदीपिकाकार[3], माठरवृत्तिकार[4] और तत्त्वकौमुदीकारने[5] अपनी व्याख्याओंमें उन भेदोंको स्पष्ट किया है। वे भेद वही हैं जो न्यायसूत्रमें वर्णित हैं। वाचस्पतिने[6] उद्योतकरकी तरह अनुमानके वीत और अवीत ये दो भेद भी प्रदर्शित किये हैं। वीतको पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट तथा अवीतको शेषवत् बतलाकर उन्होंने सांख्य और न्यायपरम्पराके अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है। उद्योतकरके[7] संकेतानुसार वाचस्पतिने[8] एक प्राचीन कारिकाके उद्धरणपूर्वक सांख्यदर्शनके सप्तविध अनुमानोंका भी उल्लेख किया है और 'इत्यादि

---

१. त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
—ईश्वरकृष्ण, सांख्यका० ५।

२. सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
वही, का० ६।

३. यु० दी० पृ० ४३।

४. माठर, माठरवृ० का० ५।

५. तत्सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधम्—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति।
—सा० त० कौ० का० ५, पृ० ३०।

६. तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं च।···तत्रावीतं शेषवत्।···वीतं द्वेधा—पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च।
वही, का० ५, पृ० ३०-३१।

७. न्यायवा० १।१।५, पृ० ५७।

८. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।

पराकृतं वेदितव्यम्' कहकर उनका निरास किया है। प्रभाचन्द्रने[1] भी उक्त सात अनुमानोंका सविवेचन समालोचन किया है। इससे प्रतीत होता है कि सांख्य-दर्शनमें सप्तविध अनुमानोंकी भी मान्यता रही है। पर यह सप्तविध अनुमानकी मान्यता सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं होती।

चरकशास्त्रमें[2] भी न्यायसूत्रके अनुसार बिलकुल इन्हीं नामोंसे अनुमानके तीन भेद निर्दिष्ट हैं।

बौद्ध :

बौद्धदर्शनमें अनुमान-भेदोंकी दो परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। एक तो उपर्युक्त तीन भेदवाली न्यायसूत्रोक्त न्यायपरम्परा और दूसरी दो भेदवाली दूसरी वैशेषिकपरम्परा। पहली उपायहृदयमें[3] मिलती है और दूसरी दिङ्नागके प्रमाण-समुच्चयमें। ज्ञात होता है कि दिङ्नागसे पूर्व चौथी शती ईस्वी तक बौद्ध दर्शनमें न्यायपरम्पराका अनुसरण रहा है। दिङ्नागने उसे छोड़कर प्रशस्तपादोक्त स्वार्थ-परार्थभेदद्वयवाली वैशेषिकपरम्पराको स्वीकार किया। विशेष यह कि उन्होंने इन दोनोंका निरूपण प्रमाणसमुच्चयके छह परिच्छेदोंमेंसे दूसरे और तीसरे दो परिच्छेदोंमें विस्तारपूर्वक किया है। उनके नाम भी स्वार्थानुमान परिच्छेद और परार्थानुमान परिच्छेद रखे हैं। दिङ्नागके बाद उनके शिष्य शंकरस्वामीने[4] भी इन्हीं दो भेदोंका प्रतिपादन किया है। न्यायप्रवेशमें उन्होंने साधनको परसंवित् और अनुमानको आत्मसंवित्के लिए कहकर 'साधन' पदसे परार्थानुमान और 'अनुमान' पदसे स्वार्थानुमान लिया है। धर्मकीर्ति[5] आदि उत्तरवर्ती बौद्धतार्किकोंने दिङ्नागका अनुसरण किया और उपायहृदयकी त्रिविध भेदवाली न्यायपरम्पराको छोड़ दिया है।

जैन तार्किकों द्वारा अनुमानभेद-समीक्षा :

प्रथम अध्यायमें अनुयोगद्वारवर्णित पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानोंका उल्लेख तथा स्वरूपविवेचन किया जा चुका है। परन्तु अनुयोगसूत्रकी यह त्रिविध अनुमानभेद-परम्परा जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुसृत नहीं हुई। इसका कारण यह जान पड़ता है कि इस त्रिविध अनुमानभेद-परम्पराको तर्ककी कसौटीपर रखने (परीक्षण करने) पर वह सदोष (अव्याप्त और अतिव्याप्त) दिखायी पड़ी। अतएव

---

१. न्यायकुमु० च० ३।१४, पृ० ४६२।
२. चरकसू० २१, २२।
३. उ० हृ० पृ० १३।
४. न्या० प्र० पृ० १।
५. न्या० बि० पृ० २१, ४६।

उसका न केवल परित्याग हुआ, अपितु वीतादि, मात्रामात्रिकादि और संयोगी आदि अनुमानभेदोंकी तरह उसकी समीक्षा भी की गयी है।

(क) अकलङ्कोक्त अनुमानभेद:-समीक्षा :

अकलङ्कने[1] उक्त अनुमानोंके त्रैविध्य और चातुर्विध्य अथवा पाञ्चविध्य नियमों (पूर्ववत् आदि तीन प्रकारका ही अनुमान है, वीत आदि तीन तरहका ही अनुमान है, संयोगी आदि चार या पाँच विध ही अनुमान है) की समीक्षा करते हुए उन्हें अव्याप्त बतलाया है। 'अस्ति आत्मा प्रमाणतः उपलब्धेः', 'सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्,' 'खरविषाणं नास्ति अनुपलब्धेः' आदि समीचीन हेतु हैं, क्योंकि अपने साध्योंके साथ उनका अविनाभाव (व्याप्ति) है। पर ये हेतु न पूर्ववत् आदि तीनके अन्तर्गत आते हैं, न वीत आदि तीनमें अन्तर्भूत होते हैं और न संयोगी आदिमें इनका समावेश सम्भव है, क्योंकि उपलब्धि या अनुपलब्धि आत्मादिका कार्य या कारण आदि नहीं है। दूसरी बात यह है कि उक्त हेतुओं (पूर्ववदादि) को पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपता या पंचरूपताके आधारपर यदि गमक माना जाए तो 'सन्ति प्रमाणानि इष्टसाधनात्', 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्'[2] इत्यादि हेतु गमक नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इनमें न पक्षधर्मत्वादि त्रिरूपता है और न पंचरूपता। केवल साध्य-साधनमे अन्तर्व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) के सद्भावसे ही उनमे गमकता मानी गयी है।[3] अतः अकलंकदेवका मन्तव्य है कि जो हेतु अन्यथानुपपन्नत्वसहित (अपने साध्यके अभावमें न होने वाले) हैं वे ही साध्यज्ञान (अनुमान) के जनक हैं और जो अन्यथानुपपन्नत्वरहित (अपने साध्यके अभावमे भी रहने वाले) है वे हेतु नहीं, हेत्वाभास हैं और उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है। तात्पर्य यह कि पूर्ववदादि अथवा वीतादि[4] या संयोगी आदि हेतु तीन रूपों या पांच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी यदि अन्यथानुपपन्नत्वरहित है तो वे हेत्वाभास हैं। स्पष्ट है कि 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात् इतरतत्पुत्रवत्,' 'वज्रं लोहलेख्यं पार्थिवत्वात् काष्ठवत्,' 'इमान्याम्रफलानि पक्वानि आम्रफलत्वात् प्रसिद्धाम्रफलवत्, इत्यादि हेतु त्रिरूपता और पंचरूपतासे युक्त हैं, पर अपने साध्योंके

---

१. एतेन पूर्ववद्वीत-संयोग्यादौ कथा गता।
तल्लक्षणप्रपञ्चश्च निषिद्धोऽन्यथा दिशा
—न्यायवि० २।१७३, १७४।

२. वादिराज, न्या० वि० वि० २।१७३, पृ० २०३।

३. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः।
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी॥
—वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८३-८४।

४. उद्योतकर, न्या० वा० १।१।३५, पृ० १२३।

साथ उसका अन्यथानुपपन्नत्व (व्याप्ति) नहीं है। आशय यह कि यह नियम (व्याप्ति) नहीं है कि उसका पुत्र होनेसे उसे श्याम होना चाहिए, पार्थिव होनेसे वज्रको लोहलेख्य होना चाहिए और आम्रफल होने मात्रसे इन आमोंको पके होना चाहिए, क्योंकि उसका पुत्र होने पर भी वह (गर्भस्थ पुत्र) अश्याम सम्भव है, पार्थिव होनेपर भी वज्र अलोहलेख्य होता है और आम्रफल होनेपर भी कुछ आम्रफल अपके (कच्चे) हो सकते है। अतएव ये हेतु हेत्वाभास हैं। अकलंकके इसी आशयको व्यक्त करते हुए उनके विवरणकार वादिराजने लिखा है—

> अन्यथानुपपत्तिश्चेत्, पांचरूप्येण किं फलम्।
> विनापि तेन तन्मात्रात् हेतुभावावकल्पनात्॥
> नान्यथानुपपत्तिश्चेत् पांचरूप्येण किं फलम्।
> सतापि व्यभिचारस्य तेनाशक्यनिराकृतेः॥
> अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पांचरूप्येऽपि कल्प्यते।
> चाङ्रूप्यात् पंचरूपत्वनियमो नावतिष्ठते॥
> पांचरूप्यात्मिकैवेयं नान्यथानुपपन्नता।
> पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि चाल्याः सत्त्वोपपादनात्॥[1]

निष्कर्ष यह कि अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट ही एक हेतु अथवा अनुमान है। वह न त्रिविध है और न चतुर्विध आदि। अतः अनुमानका त्रैविध्य और चातुर्विध्य उक्त प्रकारसे अव्याप्त एवं अतिव्याप्त है। अकलंकके इस विवेचनसे प्रतीत होता है कि अन्यथानुपपन्नत्वकी अपेक्षासे हेतु एक ही प्रकारका है और तब अनुमान भी एक ही तरहका सम्भव है[2]। यही कारण है कि उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्वके अभावसे हेत्वाभास भी एक ही प्रकारका माना है[3]। वह है अकिंचित्कर। असिद्धादि तो उसीका विस्तार हैं।

इस प्रकार अकलंकने पूर्ववत् आदि अनुमानोंकी मीमांसाका सूत्रपात किया, जिसका अनुसरण प्रायः सभी उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंने किया है। फलतः विद्या-

---

१. न्या० वि० वि० २।१७४, १५३३-१५३४, पृ० २१०।

२,३. (क) साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिंचित्करविस्तराः॥
—न्या० वि० २।१०१, १०२, पृष्ठ १२७, १२६।

(ख) अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।
अकिंचित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे॥
—वही, २।२०२, पृ० २३२।

नन्द[1], वादिराज[2] प्रभाचन्द्र[3] प्रभृति मनीषियोंने भी अपने तर्कग्रन्थोंमें उस मीमांसाको विस्तृत तथा पल्लवित किया है ।

(ख) विद्यानन्दकृत अनुमानभेद-मीमांसा :

विद्यानन्दकी[4] मीमांसाकी दो बातें उल्लेखनीय हैं । एक यह कि उन्होंने न्यायवार्तिकमें उल्लिखित एवं प्रतिपादित वीत और अवीत हेतुद्वयके अतिरिक्त वीतावीत नामके एक तीसरे हेतुका भी निर्देश किया है जो उन्हें किसी प्राचीन न्यायग्रन्थसे प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक आदि न्याय-ग्रन्थोंमें वह उपलब्ध नहीं होता । हाँ, जैन ग्रन्थ न्यायविनिश्चयविवरणमें उसे वादिराजने[5] अवश्य दिया है, जो या तो विद्यानन्दसे लिया गया है और या विद्यानन्दकी तरह उन्होंने भी उसी प्राचीन न्यायग्रन्थपरसे लिया है जो आज उपलब्ध नहीं है । विद्यानन्दने इसका स्वरूप और उदाहरण भी दिया है । वे लिखते हैं कि वीतानुमान तो वह है जो स्वरूपतः विधिरूप अर्थका परिच्छेदक है । जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पत्तिधर्म वाला है, जैसे घड़ा । अवीतानुमान वह है जो निषेधमुखसे अर्थका ज्ञापक है । यथा—यह जीवित शरीर आत्मशून्य नहीं है, क्योंकि उसमें प्राणादिके अभावका प्रसंग आएगा, जैसे घटादि । तथा वीतावीतानुमान वह है जो विधि और निषेध दोनों रूपसे अर्थकी परिच्छित्ति कराता है । यथा—यह पर्वत अग्निसहित है, निरग्नि नहीं है, क्योंकि धूम वाला है, अन्यथा धूमके अभावका प्रसंग आएगा । विद्यानन्द इनकी समीक्षामें एक ही बात कहते हैं[6] । वह यह कि ये तीनों हेतु यदि

---

१. त० श्लो० १।१३, पृ० २०५, २०६ ।

२. न्या० वि० वि०, २।१७३, १७४, पृष्ठ २०१-२१० ।

३. प्रमेयक० मा० ३।१५, पृष्ठ ३६२ ।

४. यदप्यत्राभाणि—उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति वीतलक्षणं लिंगं तत्स्वरूपेणार्थपरिच्छेदकत्वं वीतधर्म इति वचनात् । तद्यथा—अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वाद् घटवदिति । उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनम् हेतुरित्यवीतलक्षणम्··· । उदाहरणसाधर्म्यवैधर्म्याभ्यां साध्यसाधनमनुमानमिति वीतावीतलक्षणं स्वपक्षविधानेन परपक्षप्रतिषेधेन चार्थपरिच्छेदहेतुत्वात् । · · · ।

—त० श्लो० १।१३।२०२, पृष्ठ २०६ । तथा प्र० प० पृष्ठ ७५ ।

५. न्या० वि० वि० २।१७३, पृष्ठ २०८ ।

६. तदेतद्वीतादित्रयं यदि साध्याभावासम्भूष्णु तदाऽन्यथानुपपत्तिबलादेव गमकत्वं न पुनर्वीतादित्वेनैवेत्यन्यथानुपपत्तिविरहेऽपि गमकत्वप्रसंगात् । यदि पुनरन्यथानुपपत्तिर्वीतादित्वं प्राप्य हेतोर्लक्षणं तदा 'देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयते' इति कस्यचित्सुभाषितमायातम् । हरीतक्यन्वयव्यतिरेकानुविधानाद्विरेचनस्य स्वदेवतोपयोगिनी तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्तस्येति प्रकृतेऽपि समानम् । हेतोरन्यथानुपपत्तिसदसत्वप्रयुक्तत्वाद्गमकत्वागमकत्वयोरिति न किंचिद्वीतादित्रितयेन कथयतां भेदानां वा सर्वथागमकत्वानंगत्वात् सर्वभेदासंग्रहाच्च ।

—त० श्लो० १।१३।२०२, पृ० २०६ ।

साध्यके अभावमें नहीं होते तो अन्यथानुपपत्तिके बलसे ही उनमें गमकता माननी चाहिए, न कि वीतादिरूपता होनेसे ही। अन्यथा अन्यथानुपपत्तिके अभावमें भी उन्हें गमक मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि 'वज्र लोहलेख्य है क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे अन्य सुवर्णादि धातुएं' यह वीत हेतु है। पर पार्थिवत्वकी लोहलेख्यत्वके साथ व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) न होनेसे हेत्वाभास है। अतः कोई भी हेतु क्यों न हो, यदि वह अन्यथानुपपन्न है तो साध्यका अवश्य अनुमापक होगा। इसलिए हेतुकी गमकताका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्व है, वीतत्व, अवीतत्व और वीतावीतत्व नहीं। यदि कहा जाए कि अन्यथानुपपत्ति वीतादिरूपको प्राप्त करके ही हेतुका लक्षण है तो यह 'देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयते' अर्थात् 'देवताको पाकर हरीतकी विरेचन (पाचन) कराती है' कहावत चरितार्थ होती है। विरेचनका हरीतकीके साथ अन्वय-व्यतिरेक होनेसे वह देवतोपयोगिनी होती है, देवताके साथ विरेचनका सीधा अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, ऐसा माननेपर तो प्रकृतमें भी यही कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिके होनेपर हेतु गमक होता है और उसके अभावमें वह गमक नहीं होता। अतः वीतादित्रयरूप होनेसे हेतुमें गमकता नहीं है। इसके अतिरिक्त समस्त हेतुभेदोंका उस (वीतादित्रय) में संग्रह भी नहीं हो पाता है।

विद्यानन्दकी[1] दूसरी उल्लेखयोग्य बात यह है कि वे पूर्ववत् आदि अनुमानोंके त्रैविध्यनियमको अव्यापक बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार (१) कारणसे कार्यका अनुमान पूर्ववत् अनुमान है। यथा—ये मेघ वृष्टि करनेकी शक्तिसे सम्पन्न हैं, क्योंकि गम्भीर गर्जना और चिरप्रभाव युक्त होकर छाये हुए हैं, जैसे अन्य वर्षने वाले मेघ। (२) कार्यसे कारणका अनुमान शेषवत् अनुमान है। यथा—यहा अग्नि है, क्योंकि धूम है, जैसे रसोई घर। (३) जो न कार्य है और न कारण है उससे अनुभयात्मक (अकार्यकारण) का अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। यथा—इस फलका मधुर रस है, क्योंकि इसका रूप है, जैसे उसी तरहके अन्य फल। उसी प्रकार उभयात्मक (कारणकार्यरूप) हेतुसे उभयात्मक (कारणकार्यरूप) साध्यका ज्ञान (अनुमान) सम्भव है, क्योंकि जिनमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव होता है उनमें अविनाभाव देखा जाता है। उदा-

---

१. उभयात्मनोऽपि वस्तुनो भावात्। यथैव हि कारणात्कार्येऽनुमानम्—वृष्ट्युत्पादनशक्तयोऽमी मेघा गम्भीरध्वानत्वे चिरप्रभावत्वे च सति समुन्नतत्वात् प्रसिद्धैवं विधमेघवदिति। कार्यात्कारणे—वह्निरत्र धूमान्महानसवदिति। अकार्यकारणादनुभयात्मनि ज्ञानम्—मधुररसमिदं फलमेवंविधरूपत्वात्तादृशान्यफलवदिति। तथैवोभयात्मकात् लिंगादुभयात्मके लिंगिनि ज्ञानमविरुद्धम्, परस्परोपकार्योपकारकयोरविनाभावदर्शनात्। यथा बीजांकुरसन्तानयो: । • • • ।'

—त० श्लो० १।१३।२०३, २०४, पृष्ठ २०७।

हरणके लिए हम बीजसन्तान और अंकुरसन्तानको ले सकते हैं। प्रकट है कि बीज-सन्तान अंकुरसन्तानके और अंकुरसंतान बीजसन्तानके अभावमें नही होता, तब उनमें परस्पर गम्यगमकभाव क्यों नहीं होगा ? अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि 'यहां यवबीजसन्तान है, क्योंकि यवांकुरसन्तान देखा जाता हैं'। इसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि 'यहा यवांकुरसन्तान है, क्योंकि यवबीज उपलब्ध होता है।' इस तरह कार्यकारणरूप चौथा अनुमान भी सिद्ध होता है। कोई वजह नही कि कारणानुमान, कार्यानुमान और अकार्यकारणानुमान ये तीन अनुमान तो माने जाएँ, पर कारणकार्योभयानुमान न माना जाए।

(ग) वादिराज द्वारा अभिहित अनुमानभेद-समीक्षण :

यहा वादिराजकी भी दो विशेषताएं दृष्टव्य हैं। उनका कहना है कि अनुमान तीन या चार भेदोंमे ही सीमित नहीं है। अनेक हेतु ऐसे हैं जो न पूर्ववत् हैं, न शेषवत् और न सामान्यतोदृष्ट। उदाहरणार्थ[1] 'विषम तुलाके छोरोंमें पाये जाने वाले नाम और उन्नाम परस्पर अविनाभूत हैं, क्योंकि वे एक दूसरेके अभावमे उपपन्न नहीं होते' अथवा 'इस समान तुलामे उन्नाम (ऊंचाई) नहीं है, क्योंकि नाम (नीचाई) अनुपलब्ध है।' ये दोनों सहचर अनुमान सम्यक् अनुमान हैं। पर ये न पूर्ववत्में आते है, न शेषवत्में और न सामान्यतोदृष्टमें। अत. त्रैविध्य का नियम नहीं बनता। इसके सिवाए तीन प्रकारका अनुमान कालत्रयकी अपेक्षा नौ प्रकारका और अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध एवं विपर्यस्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा सत्ताईस प्रकारका भी सम्भव है।[2] यदि इन भेदोकी अपेक्षा न कर केवल व्यापारभेदसे तीन अनुमान कहे जाएं तो उन व्यापारत्रयकी भी अपेक्षा न कर एक केवल अन्यथानुपपत्तिकी ही अपेक्षासे एक ही प्रकारका अनुमान मानना उचित है। अन्यथानुपपत्तिका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि उसमें वे पूर्ववत् आदि तीन और वीतादि तीन अनुमान तो समा ही जाते है। किन्तु उनके अलावा उक्त प्रकारके सहचर आदि अनुमान भी उसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

---

१. नापि तथा त्रैविध्यनियमः, उन्नामादीनामपूर्ववत्त्वेन तत्रानन्तर्भावात्। पूर्ववत्तामेव स्वयमन्वय्यादीना व्याख्यानात्।

—न्या० वि० वि० २।१७३, पृष्ठ २०८।

२. त्रिविधस्य सतः कालभेदापेक्षया नवविधत्वस्य नवविधस्यापि पुनरव्युत्पन्नसन्दिग्धविपर्यस्तरूपप्रतिपाद्यापेक्षया सप्तविंशतिविधत्वस्यापि सम्भवात्। तन्निबन्धनभेदमनपेक्ष्य व्यापारमात्रकृतेन भेदेन त्रैविध्यमुच्यत इति चेत्, तमप्यनपेक्ष्य अन्यथानुपपत्तिनिबन्धनमेकविधमेव तर्हि वक्तव्यम्। विस्तरेण शिष्यव्युत्पादनाय नवविधत्वसप्तविंशतिविधत्वाभ्यामपि सम्भवात्। तत्र वीतादिभेदकल्पनमप्युपपन्नम्।

—वही, २।१७३, पृष्ठ २०८।

वादिराजकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने वैशेषिक-सम्मत चतुर्विध या पंचविध अनुमानकी भी समीक्षा की है। इस समीक्षामें उन्होंने बतलाया है[1] कि अनेक हेतु ऐसे हैं जो न संयोगी है, न एकार्थसमवायी, न समवायी और न विरोधी। फिर भी वे गमक (अनुमानजनक) हैं। उदाहरणके लिए निम्न दो हेतु प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) एक मुहूर्त्तके अन्तमें शकट नामक नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय हो रहा है।

(२) एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि अब कृत्तिकाका उदय हो रहा है।

इनमें पहला पूर्वचर है और दूसरा उत्तरचर। ये दोनों हेतु उक्त चारोंमेंसे किसीमें भी अन्तर्भूत नहीं हो सकते—न संयोगीमें, न समवायीमें, न एकार्थसमवायीमें और न विरोधीमें। ये केवल अन्यथानुपपत्तिके आधारसे ही अपने साध्योंके नियमतः साधक (अनुमापक) हैं। इन्हें अहेतु या हेत्वाभास भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे साध्यके अभावमें नहीं होते। अतः वैशेषिकोंका भी अनुमान-चातुर्विध्यनियम नहीं ठहरता। उन्हें उक्त चारके अतिरिक्त इन और इन जैसे अन्य हेतुओंको भी मानना पड़ेगा।

(घ) प्रभाचन्द्रप्रतिपादित अनुमानभेद-आलोचना :

प्रभाचन्द्रने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्ड[2] और न्यायकुमुदचन्द्रमें[3] उक्त अनुमान-भेदोंकी मीमांसा प्रस्तुत की है। विशेष यह कि इन्होंने वैशेषिकोंके पाँच और साख्यों-के सप्तविध अनुमानोंका भी उल्लेख करके उनकी आलोचना की है तथा कृत्तिकोद-यादि हेतुओंका उनमें अन्तर्भाव न हो सकनेसे उन्हें अव्यापक बतलाया है।[4] साथ ही अविनाभावके बलपर ही हेतुको अनुमानांग होनेका प्रतिपादन किया है। उनकी यह विचारणा बहुत सरल और तर्कपूर्ण है।

---

१. यथा संयोग्यादिभेदकल्पनमपि, तत्रापि प्रागुक्तहेतूनामनन्तर्भावात्। न हि कृत्तिकोदयः शकटोदयस्य संयोगी, कालव्यवधानेन परस्परमप्राप्तेः। यदपि संयोगिन उदाहरणं · तद्व्यवधानादेव नासौ तस्य समवायी···संयोगिसमवायिनोरिव एकार्थसमवायिन्यपि तस्यानन्तर्भावात्···।
—न्या० वि० वि० २।१७३, पृष्ठ २०८-२१०।

२. प्र० क० मा० ३।१५, पृष्ठ ३६२।

३. न्या० कुमु० ३।१४, पृ० ४६०-४६१।

४. न्या० कुमु०, पृ० ४६२।

अनुमानभेद-समीक्षाका उपसंहार :

निष्कर्ष यह कि पूर्ववत् आदिरूपसे या वीतादिरूपसे अभिमत तीन अनुमानों, संयोगी आदिरूपसे या कारण आदिरूपसे स्वीकृत चार या पाच अनुमानों और मात्रामात्रिक आदिरूपसे अंगीकृत सात अनुमानोंकी संख्या अपूर्ण तथा अतिप्रसक्त है।[1] पर साध्य और साधनमें अनिवार्यरूपसे आवश्यक अन्यथानुपपन्नत्व या अन्यथानुपपत्तिके आधारसे अनुमान-संख्या माननेमें न अपूर्णताका दोष आता है और न अतिप्रसक्ति, क्योंकि अन्यथानुपपन्नत्व एक ऐसा व्यापक एवं अव्यभिचारी आधार है, जिसमें सभी प्रकारके समीचीन हेतुओंका समावेश हो जाता है और असमीचीन हेतु (हेत्वाभास) उसके द्वारा निरस्त हो जाते हैं।[2] अतः जैन तार्किकोंने इसीको हेतुका निर्दोष एवं प्रधान लक्षण बतलाया है, त्रैरूप्य और पाचरूप्यको नही। पर अन्य तार्किक जितना बल त्रैरूप्य और पांचरूप्यपर देते है उतना अविनाभावपर नही। यही जैन तार्किकों और अन्य तार्किकोके अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन एवं प्रतिपादनमें मौलिक अन्तर है।

स्वार्थ और परार्थ :

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे हम इस तथ्यपर पहुँचते हैं कि अनुमानके प्रधान अंग हेतुका प्रयोजक तत्त्व एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व है और उसके एक होनेसे उससे आत्मलाभ करने वाला अनुमान भी एक हो प्रकारका सम्भव है, तथापि वह अन्यथानुपपन्नत्व दोके द्वारा गृहीत होता है—(१)स्व और (२) पर। जब वह स्वके द्वारा गृहीत होता है तो उसके आधारसे होने वाला अनुमान उस (स्व) की साध्यप्रतिपत्तिके लिए होता है और वह स्वार्थानुमान कहा जाता है। स्वार्थानुमाता किसी परके उपदेश (प्रतिज्ञादि प्रयोग)के बिना स्वयं ही निश्चित अविनाभावी साधनके ज्ञानसे साध्यका ज्ञान करता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूमको देखकर अग्निका ज्ञान, रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान या कृत्तिकाके उदयको देखकर एक मुहूर्त बाद होने वाले शकटके उदयका ज्ञान आदि करता है तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्योंको बोलकर दूसरोंको उन साध्य-साधनोंकी व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति)

१,२. अस्येदं कारणं कार्यं…इति सूत्रोपात्ता एव पंचहेतवो लैंगिकानाम् ‥तत्कथं नैयायिकानां(वैशेषिकाणां)मनुमानसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेत, तदसमीक्षिताभिधानम्, तदतिरिक्तानां कृत्तिकोदयादिहेतूनां तदंगत्वप्रतिपादनात्। अविनाभाववशाद्धि हेतोरनुमानांगत्वं न कारणादिरूपतामात्रेण, अस्याव्यापकत्वाददिप्रसंगाच्च। अविनाभावस्य तु सकलहेतुकलापव्यापित्वात्तदाभासेभ्यो व्यावृत्तत्वाच्च तद्वशादेव हेतोर्गमकत्वं प्रतिपत्तव्यम्।

—न्या० कु० ३।१४, पृष्ठ ४६१।

ग्रहण कराता है तथा दूसरे उसके वचनोंको सुनकर व्याप्तिग्रहण करके उक्त हेतुओंसे उक्त साध्योंका ज्ञान करते हैं तो दूसरोंका वह अनुमानज्ञान 'परार्थानुमान' कहा जाता है। और वे परार्थानुमाता कहे जाते हैं। अतः अनुमानके उपादानभूत हेतुका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्व स्व और पर दोके द्वारा गृहीत होने तथा दोनों अन्यथानुपपन्नत्व-गृहीताओंको अनुमान होनेसे प्रदेशभेद, व्यक्तिभेद या प्रयोजनभेदकी अपेक्षासे अनुमानके अधिक-से-अधिक दो प्रकार हो सकते हैं— (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। सम्भवतः इन दो भेदोंकी परिकल्पनाके मूलमें प्रशस्तपाद[1] और दिङ्नागकी भी यही दृष्टि रही है।

यद्यपि प्रशस्तपाद[2] या दिङ्नाग अथवा न्यायप्रवेशकारने[3] इन अनुमानभेदोंकी परिगणना नहीं की, तथापि उनके द्वारा किया गया इन अनुमानोंका निरूपण स्पष्ट बतलाता है कि उन्हें ये दो भेद अभिप्रेत हैं।

जैन परम्परामें सबसे पहले इन दो भेदोंका प्रतिपादन सिद्धसेनने[4] किया जान पड़ता है। उन्होंने यद्यपि 'स्वार्थानुमान'का[5] उल्लेख नहीं किया—केवल परार्थानुमानका निर्देश किया है और उसका उसी प्रकार स्वरूप बतलाया है जिस प्रकार प्रशस्तपादने[6] प्रशस्तपादभाष्यमें और प्रमाणवार्तिकालंकारकारने[7]प्रमाणवार्तिकालंकारमें एक उद्धृत पद्य द्वारा प्रस्तुत किया है। सिद्धसेनने[8] परार्थानुमानका एक लक्षण और दिया है जो न्यायप्रवेशकारके परार्थानुमानलक्षणपर आधृत है। फिर भी सिद्धसेनने 'स्वनिश्चयवत्' पदके द्वारा स्वार्थानुमानका ग्रहण किया है। दूसरी

---

१. प्रश० भा० पृ० १०६।
२. वही, पृ० १०६, ११३।
३. न्या० प्र० पृष्ठ २, ७।
४. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।
   परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः।
   —न्यायाव० का० १०।
५. प्रश० भा० पृ० ११३।
६. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनेच्छया।
   पक्षधर्मत्वसम्बन्धसाध्योक्तेरन्यवर्जनम्॥
   —प्र० वार्तिकाल० पृष्ठ ४८७।
७. साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
   परार्थमनुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्॥
   —न्यायाव० का० १३।
८. साध्याविनाभुनो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
   अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥
   —वही, का० ५।

बात यह है कि उन्होंने परार्थानुमानके लक्षणसे पूर्व जो सामान्य अनुमानका लक्षण प्रस्तुत किया है वह स्वार्थानुमानका लक्षण है।

सिद्धिविनिश्चयमें अकलंकदेवने[1] स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनोंका उल्लेख किया है तथा दोनोंमें पक्ष-भेद बतलाते हुए कहा है कि स्वार्थानुमानमें तो जिज्ञासाके विषयभूत विशेष (अग्नि आदि)से विशिष्ट धर्मी (पर्वत आदि) पक्ष होता है। किन्तु परार्थानुमानमें जतानेकी इच्छाके विषयभूत विशेष (अग्नि आदि)से विशिष्ट धर्मी पक्ष होता है, क्योंकि स्वनिश्चयकी तरह दूसरोंको भी निश्चय करानेके लिए पक्षको स्वीकार करना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि प्रतिपत्ताके भेदसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ भेद उन्हें भी अभिप्रेत हैं।

विद्यानन्द[2] भी अनुमानके उक्त दो भेदोंका प्रतिपादन करते हैं। इतना विशेष है कि वे[3] परार्थानुमानके भी दो भेदोंका निर्देश करते हैं—(१) अनक्षरश्रुत और (२) अक्षरश्रुत। तथा उन्हें क्रमशः अश्रोत्रमतिज्ञान और श्रोत्रमतिज्ञानपूर्वक होनेके कारण परोक्ष श्रुतप्रमाणमें अन्तर्भाव करते हैं।

वादिराज कृत मुख्य और गौण अनुमानभेद :

वादिराजने[4] उक्त अनुमान-भेदोंसे भिन्न दो अन्य भेदोंका प्रतिपादन किया है। वे हैं—(१) गौण और (२) मुख्य। इनमें गौण अनुमानके तीन भेद हैं—(१) स्मरण, (२) प्रत्यभिज्ञा और (३) तर्क। स्मरण प्रत्यभिज्ञाका, प्रत्यभिज्ञा तर्कका और तर्क अनुमानका कारण होनेसे तीनों गौण अनुमान हैं। साध्याविनाभावी साधनसे होनेवाला साध्यका ज्ञान मुख्यानुमान है। परन्तु वादिराजकी इस द्विविध अनुमान-मान्यताको उत्तरवर्ती किसी जैन तार्किकने नहीं अपनाया और वह उन्हीं तक सीमित रही है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि

---

१. स्वार्थानुमाने जिज्ञासितविशेषो धर्मी पक्षः। परार्थानुमाने पुनः जिज्ञापयिषितविशेषः स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनाय पक्षपरिग्रहात्।
—सि० वि० वृ० ६।२, पृष्ठ ३७३।

२. प्र० प० पृष्ठ ७६।

३. परार्थमनुमानमनक्षरश्रुतज्ञानं अक्षरश्रुतज्ञानं च तस्याश्रोत्रमतिपूर्वकस्य श्रोत्रमतिपूर्वकस्य च तथात्वोपपत्तेः।
—वही, पृष्ठ ७६।

४. अनुमानं द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं—स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति। तस्य चानुमानत्वं यथापूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबन्धनत्वात्।…एवं मुख्यस्यापि। किं तदिति चेत्, साधनात्साध्ये विज्ञानमेव, साधनं साध्याविनाभावनियमलक्षणं तस्मान्निश्चयपथप्राप्तात्साध्यस्य साधयितुं शक्यस्याप्रसिद्धस्य यद्विज्ञानं तदनुमानम्।
प्रमा० नि० पृष्ठ ३३, ३६।

यदि स्मरणादिको अनुमानका कारण होनेसे अनुमान माना जाए तो प्रत्यक्षको भी अनुमानका हेतु होनेसे अनुमान माना जाना चाहिए और इस तरह स्मरणादिकी तरह प्रत्यक्ष भी गौण अनुमान कहा जाएगा, जो किसी भी तार्किकको अभिमत नहीं है। सम्भवतः इसीसे उत्तरवर्ती तार्किकोंने वादिराजके इस अनुमानद्वैविध्यको स्वीकार नहीं किया।

माणिक्यनन्दिने[1] अनुमानके उक्त स्वार्थ और परार्थ भेदोंका विशद निरूपण किया है। उनके बाद तो सभी परवर्ती प्रभाचन्द्र[2] अनन्तवीर्य[3], देवसूरि[4], हेमचन्द्र[5] आदिने इसी द्विविध अनुमान-मान्यताको अनुसृत किया है। देवसूरि और हेमचन्द्रका यहाँ एक वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। वह यह कि उन्होंने एक ही सूत्र द्वारा अनुमानके दो प्रकारोंकी सूचना और उन दोनों प्रकारोंका निर्देश किया है, माणिक्यनन्दिकी तरह उन्होंने दो सूत्रोंकी रचना नहीं की। इन दोनों तार्किकोंकी एक विशेषता और उल्लेख्य है। इन्होंने अनुमान-सामान्यके लक्षणके अतिरिक्त स्वार्थानुमानका अलग लक्षण प्रस्तुत किया है जो बहुत विशद और उचित है। माणिक्यनन्दिने[6] सिद्धसेनकी तरह सामान्यलक्षणको ही स्वार्थानुमानका लक्षण बताया है। ध्यातव्य है कि हेमचन्द्रका स्वार्थानुमान-लक्षण देवसूरिके स्वार्थानुमान-लक्षणसे भिन्न और निर्दोष है। हेमचन्द्रने[7] 'स्वयं निर्णीत साध्याविनाभाववाले साधनसे होनेवाले साध्यज्ञानको स्वार्थानुमान' कहा है जो परार्थानुमानमें अतिव्याप्त नहीं है। पर देवसूरिने[8] जो 'हेतुग्रहण और सम्बन्धस्मरणपूर्वक होनेवाले साध्य-

---

१. तदनुमानं द्वेधा, स्वार्थपरार्थभेदात्, स्वार्थमुक्तलक्षणम्, परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्, तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।

—प० मु० ३।५२, ५३, ५४, ५५, ५६।

२. प्र० क० मा० ३।५२-५६।

३. प्र० र० मा० ३।४८-५२।

४. अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थं परार्थं चेति। तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति।

—प्र० न० त० ३।९, १०, २३।

५. तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च।

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।

—हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८,९।

यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्। वचनमुपचारात्।

—वही, २।१।१,२।

६. स्वार्थमुक्तलक्षणम्।

—परीक्षामु० ३।५४।

७. प्र० मी० १।२।९, पृ० ३९।

८. प्र० न० त० ३।१०।

ज्ञानको स्वार्थानुमान[1] बतलाया है वह परार्थानुमानमें अतिव्याप्त है, क्योंकि हेतुका ग्रहण और सम्बन्धस्मरण परार्थानुमानमें भी रहते हैं, भले ही वे स्वार्थानुमाताके वचनोंसे हों। हेमचन्द्रकी[1] यहाँ एक बात और स्मरणीय है। उन्होंने वचनात्मक परार्थानुमानको दो प्रकारका प्रतिपादन किया है—(१) तथोपपत्ति और (२) अन्यथानुपपत्ति। परन्तु माणिक्यनन्दि[2], प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य और देवसूरि[3] प्रभृतिने वचनात्मक परार्थानुमानको दो प्रकारका न मानकर हेतुप्रयोगको दो प्रकारका कहा है जो सिद्धसेनके[4] न्यायावतारके सर्वथा अनुरूप है। यथार्थमें हेतुका प्रयोग दो तरहसे किया जाता है—एक तथोपपत्तिरूपसे और दूसरा अन्यथानुपपत्ति रूपसे। यथा—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः, धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा[5]।

यह प्रदेश अग्नि वाला है, क्योंकि उसके होने पर ही धूम होता है अथवा अग्निके अभावमें धूम नहीं होता।

यहाँ हेतुका ही प्रयोग दो तरहसे हुआ है, पक्षका प्रयोग तो एक ही प्रकारसे है। और परार्थानुमान (वचनात्मक) पक्ष तथा हेतु दोनोंके वचनको कहा गया है।[6] देवसूरिने[7] स्पष्ट शब्दोंमें हेतुप्रयोगको ही दो प्रकारका बतलाया है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने[8] दो स्वतन्त्र सूत्रों द्वारा उन (तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति दोनों) का स्वरूप भी प्रतिपादन किया है। सभी जैन तार्किक इस विषयमें एकमत हैं कि हेतुका चाहे तथोपपत्तिरूपसे प्रयोग किया जाए और चाहे अन्यथानुपपत्ति-

---

१. तद् द्वेध। तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभेदात्।
—प्र० मी० २।१।३,४, पृष्ठ ४१।

२. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।—प० मु० ३।९४।

३. हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति।—प्र० न० त० ३।२९।

४. हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥
—न्यायाव० का० १७।

५. प० मु० ३।९५।

६. पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् इति।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।२३।

७. हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति।
—वही, ३।२९।

८. सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिरिति।
असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति।
—वही, ३।३०, ३१।

रूपसे। व्युत्पन्नोंके लिए दोनोंके प्रयोगकी आवश्यकता नहीं है,[1] उनके लिए तो किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है और वे उतने मात्रसे व्याप्ति-ग्रहण तथा साध्य-का ज्ञान कर लेते हैं। देवसूरिकी[2] एक विशेषता और दिखाई देती है। वे अनन्त भट्टकी तरह श्रोताके स्वार्थानुमान मानते हैं और वक्ताको परार्थानुमानका प्रयोक्ता। उनका कहना है कि श्रोता वक्ताके वचनमात्रसे साध्यका ज्ञान नहीं करता और न वक्ता ही यह मानता है कि श्रोताने मेरे वचनोंसे साध्यका ज्ञान किया। किन्तु वक्ता मानता है कि मैं उसे अनुमानसे बोध कराता हूँ तथा श्रोता भी यह समझता है कि मैंने साध्याविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान किया। अतः वक्ताका अनुमान श्रोताके साध्यज्ञानका कारण होनेसे परार्थ कहा जाता है और श्रोताका स्वार्थानुमान। देवसूरिका यह विचार बुद्धिको स्पर्श करता है। वास्तवमें अनुमान उसीको होता है जिसने व्याप्तिका ग्रहण कर रखा है। जिसने व्याप्तिका ग्रहण नहीं किया, उसे अनुमान नहीं होता। अतः वक्ता पक्ष और हेतु वचन बोलकर प्रतिपाद्यको व्याप्ति ग्रहण कराता है। व्याप्ति ग्रहणके बाद प्रतिपाद्य स्वयं साधनसे साध्यका ज्ञान कर लेता है। अतएव उसका वह साध्यज्ञान स्वार्थानुमान ही कहा जाएगा, परार्थानुमान नहीं। परार्थानुमान तो वक्ताका पक्ष और हेतुवचन तथा उनसे उत्पन्न श्रोताका व्याप्तिज्ञान माना जाएगा, जो श्रोताके स्वार्थानुमानके कारण हैं। तात्पर्य यह कि श्रोताका साध्यज्ञान हर हालतमें स्वार्थानुमान है, भले ही उसके इस स्वार्थानुमानमें कारण पड़नेसे वक्ताके पक्ष और हेतुवचनों तथा उनसे होने वाले श्रोताके व्याप्तिज्ञानको परार्थानुमान कहा जाए।

प्रत्यक्ष परार्थ है : सिद्धसेन और देवसूरिका मत : उसकी मीमांसा :

सिद्धसेनने[3] न्यायावतारमें अनुमानकी तरह प्रत्यक्षको भी परार्थ प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रसिद्ध अर्थका प्रकाशन करते हैं और दोनों ही परके प्रसिद्धार्थ-प्रकाशनके उपाय हैं। अतः दोनों परार्थ हैं। जब प्रत्यक्ष प्रतिपन्न अर्थका दूसरोंके लिए वचनद्वारा प्रतिपादन किया जाता है तो वह वचन भी ज्ञानमें कारण होनेसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। उनके इस विचारका

---

१. प० मु० ३।९६, ९७। प्र० मी० २।१।६।

२. स्या० र० ३।२३, पृ० ५४८, ५४९।

३ प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरपि॥
प्रत्यक्षप्रतिपन्नार्थप्रतिपादि च यद्वचः।
प्रत्यक्षं प्रतिभासस्य निमित्तत्वात् तदुच्यते॥
—न्यायाव० का० ११, १२।

अनुसरण देवसूरिने[1] भी किया है और उनकी कारिकाके उद्धरणपूर्वक उसका समर्थन किया है। ये दो ही ऐसे तार्किक हैं जिन्होंने प्रत्यक्षको परार्थ बतलाया है। जैन या इतर परम्परामें, जहाँ तक हमें ज्ञात है, अन्य किसी तर्किकने प्रत्यक्षको परार्थ नहीं कहा।

तथ्य यह है कि चाहे प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थको कहने वाला वचन हो और चाहे अनुमानप्रतिपन्न अर्थको। दोनों ही प्रकारके वचनोंको श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करना तो श्रोत्र-प्रत्यक्ष है। पर उन्हें सुनकर श्रोताको जो उनके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका ज्ञान होगा वह अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होनेसे अनुमान कहा जाएगा, परार्थ प्रत्यक्ष नहीं। सच तो यह है कि प्रतिपत्ति दो प्रकारकी होती है—(१) स्वार्थ और (२) परार्थ। स्वार्थ प्रतिपत्तिका साधन ज्ञान (प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान) है तथा परार्थप्रतिपत्तिका उपाय एकमात्र शब्द है। अतः जिस प्रकार अनुमानगम्य अग्नि आदिको बतानेवाले धूमादि साधनका प्रतिपादक धूमादिवचन है उसी प्रकार प्रत्यक्षगम्य घटादिको कहने वाला घटादि वचन है और यह घटादिवचन धूमादिवचनकी तरह वचनात्मक परार्थानुमान है, परार्थ प्रत्यक्ष नहीं।

अनुमानके स्वार्थ-परार्थ भेदोंका मल्लिषेणने[2] भी कथन किया है और उनके लक्षण देवसूरि जैसे ही बतलाये हैं।

पन्द्रहवी शताब्दीके आरम्भमें होनेवाले विश्रुत तार्किक धर्मभूषणने न केवल उक्त स्वार्थ-परार्थ द्विविध अनुमान-भेदों तथा उनके लक्षणोंको ही कहा है, अपितु उनका विशद एवं विशेष वर्णन भी किया है। स्वार्थानुमानका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है—

परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादे साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। यथा पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति।[3]

अर्थात् प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित तथा इससे पूर्व तर्क द्वारा गृहीत व्याप्तिके स्मरणसे सहकृत धूमादि साधनसे उत्पन्न हुए पर्वत आदि धर्मीमें अग्नि आदि साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमवाला है।

१. प्र० न० त० ३।२६, २७।

२. अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च। तत्रान्यथानुपपत्त्येकलक्षणहेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम्। पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्।
—स्या० मं० पृष्ठ २२२।

३. न्या० दी० पृष्ठ ७१, ३-२१।

यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, वचनात्मक नहीं, फिर भी उसका स्वरूप बतानेके लिए कि स्वार्थानुमाता इस तरह अनुमान करता है, शब्द द्वारा उसका उल्लेख किया जाता है। जैसे 'यह घड़ा है' इस शब्द द्वारा घटप्रत्यक्षका निर्देश होता है।[1]

स्वार्थानुमानके अङ्ग :

धर्मभूषणने[2] इस स्वार्थानुमानके सम्पादक तीन अंगोंका भी विवेचन किया है। वे तीन अंग इस प्रकार हैं—धर्मी, साध्य और साधन। साधन तो गमकरूपसे अंग है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी दोनोंका आधाररूपसे। वास्तवमें आधारविशेषमें ही अनुमेयकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। धर्ममात्र (अग्निसामान्य) की सिद्धि तो उसी समय हो जाती है जब 'जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है' इस प्रकारसे तर्क द्वारा व्याप्ति गृहीत होती है। इन तीनों अंगोंमेंसे एक भी न हो तो स्वार्थानुमान सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः तीनों आवश्यक हैं।

पक्ष और हेतुके भेदसे उन्होंने[3] स्वार्थानुमानके दो भी अंग बतलाये हैं। जब साध्य धर्मको धर्मीसे पृथक नहीं माना जाता तब साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा जाता है और उस स्थितिमें पक्ष तथा हेतु ये दो ही स्वार्थानुमानके अंग हैं। इन दोनों निरूपणोंमें उक्तिवैचित्र्यको छोड़कर और कोई भेद नहीं है, यह स्वयं धर्मभूषणने[4] स्पष्ट किया है।

धर्मीकी प्रसिद्धता :

ध्यान रहे कि धर्मी प्रसिद्ध होता है।[5] हाँ, उसकी प्रसिद्धि[6] कहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणसे होती है, जैसे अग्निको सिद्ध करनेमें पर्वत प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध है। कहीं विकल्प (प्रतीति)से सिद्ध मान लिया जाता है, जैसे अस्तित्व सिद्ध करनेमें सर्वज्ञ और नास्तित्व सिद्ध करनेमें खरविषाण विकल्पसिद्ध धर्मी हैं। और कहीं प्रमाण तथा विकल्प दोनोंसे धर्मी सिद्ध रहता है, जैसे अनित्यता सिद्ध करनेमें शब्द उभय-

---

१. न्या० दी०, पृ० ७२, ३-२३।

२. वही, पृ० ७२, ३-२४।

३, ४. अथवा पक्षो हेतुरित्यंगद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात्। तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात्त्रीण्यंगानि। पक्षसाधनभेदादंगद्वयं चेति सिद्धम्, विवक्षावैचित्र्यात्। पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा। उत्तरत्र तु तत्समुदायविवक्षा। —न्या० दी० पृष्ठ ७२, ७३, ३-२५।

५. स एव धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव। तदुक्तमभियुक्तैः—'प्रसिद्धो धर्मी' (परीक्षामु० ३-२७) इति। —वही, पृ० ७३, ३-२५।

६. वही, पृ० ७३, ३-२६।

सिद्ध धर्मी है। प्रकट है कि योग्य देशस्थ और वर्तमानकालीन शब्द श्रावणप्रत्यक्षसे सिद्ध है तथा दूरस्थ और अतीत एवं भावी शब्द विकल्पसिद्ध हैं। धर्मीकी प्रसिद्धताका निरूपण जैन परम्परामें धर्मभूषणके सिवाय उनके पूर्व माणिक्यनन्दि[1], देवसूरि[2], हेमचन्द्र[3] प्रभृतिने भी किया है। उल्लेखनीय है कि न्यायप्रवेशकारने[4] धर्मीको प्रसिद्ध तो माना है, पर वे उसे प्रमाणसिद्ध ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं, विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध नहीं, क्योंकि उसे उन्होंने मात्र प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध कहा है, जिसका तात्पर्य है कि धर्मी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविरोधी होना चाहिए। धर्मकीर्तिने[5] तो विकल्पसिद्ध और प्रमाणविकल्पसिद्ध धर्मीकी मान्यतापर आक्षेप करके उनका निराकरण भी किया है। यह कहना कठिन है कि उनका आक्षेप किनपर है ? पर इतना निश्चित है कि धर्मकीर्तिके आक्षेपका सविस्तर उत्तर उनके उस आक्षेपप्रदर्शक पद्यके उद्धरणपूर्वक जैन तर्कग्रन्थोंमें[6] ही उपलब्ध होता है। अतः सम्भव है कि उक्त तीन प्रकारके धर्मी (पक्ष)को माननेवाले जैन तार्किकोंपर ही उनका वह आक्षेप हो। देवसूरिने[7] स्पष्टतया धर्मकीर्तिके आक्षेपका उत्तर देते हुए उनके उल्लेखपूर्वक कहा भी है कि धर्मकीर्तिको स्वयं विकल्पसिद्ध धर्मी मानना पड़ता है। अन्यथा 'प्रधानादि नहीं हैं, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं होती' आदि प्रयोग वे कैसे कर सकेंगे, क्योंकि प्रधानादि उनकी दृष्टिमें प्रमाणसिद्ध नहीं हैं। इसी तरह देवसूरिने विकल्पसिद्ध धर्मीको स्वीकार न करनेवाले नैयायिकोंकी भी सयुक्तिक समीक्षा की है। तात्पर्य यह कि उक्त तीन प्रकारके धर्मीकी मान्यता जैन तार्किकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञात होती है और केवल प्रमाणसिद्ध धर्मीकी मान्यता अन्य तार्किकोंकी।

---

१. प० मु० ३।२७-३१ ।

२. प्र० न० त० ३।२०-२२ ।

३. प्र० मी० १।२।१६-१७ ।

४. तत्र पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः । प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः ।
—न्या० प्र० पृष्ठ १ ।

५. नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
धर्मो विरुद्धोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥
—प्र० वा० १।१९२ ।

६. प्र० र० मा० ३।२५ । स्या० रत्ना० ३।२२ प्र० मी० १।२।१७ ।

७. न च विकल्पाद्धर्मिप्रसिद्धिं नाभ्यधासन् भवन्तः । न सन्ति प्रधानादयोऽनुपलब्धेरित्यादिप्रयोगाणां धर्मकीर्तिना स्वयं समर्थनात् ।
—स्या० र० ३।२२, पृ० ५४२ ।

धर्मभूषणने स्वार्थानुमानका प्रदर्शक एक महत्त्वपूर्ण एवं प्राचीन श्लोक[1] उद्धृत किया है, जिसमें दृष्टाको स्वार्थानुमान होनेका उल्लेख है तथा 'साधनात' पदका 'दृश्यमानात्'[2] (देखे गये) यह अर्थ देकर उन्होंने जो खास बात कही है वह यह कि अनुमानमें प्रयुक्त साधनको वर्तमानकालिक (दृश्यमान) होना चाहिए। इससे उस नव्यन्यायमतकी समीक्षा प्रतीत होती है, जिसमें भूत या भावि धूमादिसे भूत या भावि अग्नि आदिकी सिद्धि अभिहित है। वास्तवमें जो साधन अनुभूयमान है वही अनुमानका प्रयोजक हो सकता है। किन्तु भूत या भावि साधनोंमें व्याप्ति गृहीत न हो सकनेसे वे अनुमानके प्रयोजक नहीं हो सकते। 'यह यज्ञशाला अग्निमती थी या होगी, क्योंकि भूतकालमें धूम था या भविष्यमें होगा'[3] इस प्रकारके अनुमान जैन दर्शनमें मान्य नहीं हैं, क्योंकि ऐसे हेतुओंकी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है। व्याप्तिके ग्रहणके लिए साधनका वर्तमान कालमें होना आवश्यक है। साध्य भले ही भूत या भावि हो।

परार्थानुमानका स्वरूप बतलाते हुए धर्मभूषणने[4] लिखा है कि प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशकी अपेक्षा लेकर श्रोताको जो साधनसे साध्य (अनुमेयार्थ)का ज्ञान उत्पन्न होता है वह परार्थानुमान है। यहाँ भी उनका 'श्रोता' पद उल्लेखनीय है, जिसके द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि श्रोताको परार्थानुमान होता है, स्वार्थानुमान नही। स्वार्थानुमान तो दृष्टाको होता है। मालूम होता है कि धर्मभूषणने यहां जयन्तभट्ट[5] और वादि देवसूरिके[6] उस मतकी आलोचना की है जिसमें उक्त तार्किकोंने श्रोताके भी स्वार्थानुमान बतलाया है और वक्ताको परार्थानुमानका प्रयोक्ता कहा है। पर हम पहले इन दोनों तार्किकोंके मतपर विचार प्रकट करते हुए कह आये हैं कि वक्ता परार्थानुमानवचनप्रयोग द्वारा श्रोताको व्याप्तिज्ञान कराता है या वक्ताके उक्त प्रकारके वचनप्रयोगसे श्रोताको व्याप्ति-

---

१. परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम्।
यद्द्रष्टुर्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते॥
—न्या० दी० पृष्ठ ७५।

२. 'तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः साधनाद् दृश्यमानादभिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्।
—वही, पृष्ठ ७४।

३. 'इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति भाविधूमात्। इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत् भूतधूमात्।'
—सि० मु० (टिप्प०) पृष्ठ ५६।

४. प्रतिज्ञाहेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात्साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः।
—न्या० दी० पृष्ठ ७५।

५. न्या० मं० पृष्ठ १३०-१३१

६. स्या० र० ३।२१, पृष्ठ ५४८, ५४९।

ज्ञान होता है। परन्तु व्याप्तिज्ञानके अनन्तर साधनसे साध्यका ज्ञान वह स्वयं करता है। अतः उसका साध्यज्ञान स्वार्थानुमान ही है। हाँ, श्रोताका व्याप्तिज्ञान उसके स्वार्थानुमानका कारण होनेसे परार्थ अनुमान कहा जा सकता है। तथा वक्ताके प्रतिज्ञा-हेतुरूप वचन भी श्रोताके व्याप्तिज्ञानके कारण होनेसे परार्थानुमान कहे जा सकते हैं।

परार्थानुमानके अंग और अवयव :

धर्मभूषणकी एक विशेषता और उल्लेख्य है। उन्होंने[1] स्वार्थानुमानकी तरह परार्थानुमानके भी अंगोंका निर्देश किया है। अर्थात् परार्थानुमान भी स्वार्थानुमानकी भांति धर्मी, साध्य और साधन इन तीन अथवा पक्ष और हेतु इन दो अंगों से सम्पन्न होता है। यह ज्ञानात्मक परार्थानुमानके सम्बन्धमें उनका विवेचन है। पर वचनात्मक परार्थानुमान (परार्थानुमान-प्रयोजक-वाक्य) के उन्होंने[2] दो अवयव बतलाये हैं—(१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु। और इनका समीक्षा पूर्वक प्रतिपादन किया है। इनपर हम आगे 'अवयव विमर्श' प्रकरण में विशेष विचार करेंगे।

इस प्रकार जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ यही दो भेद अभिमत हैं।

●

---

१. तस्यैतस्य परार्थानुमानस्यांगसम्पत्तिः स्वार्थानुमानवत्।
—न्या० दी० पृष्ठ ७९।

२. परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य द्वावयवौ, प्रतिज्ञा हेतुश्च।
—वही, पृष्ठ ७६।

द्वितीय परिच्छेद

व्याप्ति-विमर्श

(क) व्याप्ति-स्वरूप :

अनुमानका मूलाधार व्याप्ति है। अतएव उसका यहाँ विशेषतया स्वरूप विवेचित किया जाता है।

'व्याप्ति' (वि + आप्ति) का शाब्दिक अर्थ है विशेष प्राप्ति—विशेष सम्बन्ध। उस विशेष सम्बन्धका नाम व्याप्ति है जो न विच्छिन्न होता है और न व्यभिचरित। प्रश्न है कि वह विशेष सम्बन्ध क्या है ? तर्कशास्त्रमें यह विशेष सम्बन्ध उन दो पदार्थोंके नियत साहचर्यको कहा गया है जिनमें गम्यगमकभाव या साध्यसाधनभाव विवक्षित है। अथवा लिंग-लिंगी या साधन-साध्यमें गमक-गम्यभाव या साधन-साध्यभावका प्रयोजक जो सम्बन्ध है वह विशेष सम्बन्ध है। यथा—विशिष्ट मेघ और वृष्टिका सम्बन्ध। सामान्यतया साहचर्य दो प्रकारका है—(१) अनियत और (२) नियत। अनियतका अर्थ है व्यभिचरित और नियतका अव्यभिचरित। वह्नि और धूमका सम्बन्ध अनियत सम्बन्ध है, क्योंकि कदाचित् वह्निके रहते हुए भी धूम नहीं होता। जैसे अंगारे या कोयलेकी अग्नि। इस सम्बन्धमें एकको उपस्थिति दूसरेके बिना भी सम्भव है। अतएव इस प्रकारका साहचर्य-सम्बन्ध अनियत या व्यभिचरित कहलाता है। यहाँ अनियम या व्यभिचारका अर्थ ही है एकके अभावमें दूसरेका सद्भाव। पर जिन दोका साहचर्य नियत (अव्यभिचरित) होता है उनमें विशेष सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति मानी गयी है।[1] यथा—धूम और वह्निका सम्बन्ध। जहाँ धूम होता है वहाँ वह्नि अवश्य होती है, जैसे—पाकशाला। और जहाँ वह्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसे—जलाशय। इस प्रकार धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है—उस (वह्नि) के होनेपर ही वह (धूम) होता है, न होनेपर नहीं होता। अतः धूम और वह्निका साहचर्य सम्बन्ध नियत एवं अव्यभिचरित सम्बन्ध है। तात्पर्य यह कि जिस साधन और साध्यके साहचर्य सम्बन्धमें अनियम या व्यभिचार न पाया जाए उसे नियत एवं अव्यभिचरित सम्बन्ध कहा गया है और ऐसे सम्बन्धका नाम ही व्याप्ति है।

विचारणीय है कि प्राचीन न्यायग्रन्थोंमें व्याप्तिका स्वरूप क्या बतलाया है ?

---

१. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।
—अन्नम्भट्ट, तर्कसं० पृष्ठ ५४। केशव मिश्र, तर्कभा० पृष्ठ ७२।

व्याप्तिसमीक्षण-प्रकरणमें यह कहा जा चुका है कि गौतमके न्यायसूत्र, वात्स्यायन-के न्यायभाष्य और उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें व्याप्तिको स्वीकार नहीं किया। अतः इन ग्रन्थोंमें व्याप्तिका स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति[1] और उनके व्याख्याकार अर्चटने[2] अवश्य उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि व्यापकके होने पर ही व्याप्यका होना अथवा व्याप्यके होने पर व्यापकका होना ही हेतुकी व्याप्ति है। यहाँ व्यापक और व्याप्य दोनोंके धर्मको व्याप्ति कहा गया है। जब यह कहा जाता है कि व्यापकके होने पर ही व्याप्यका होना व्याप्ति है तब व्याप्य-धर्म व्याप्ति विवक्षित है। और जब यह प्रतिपादन किया जाता है कि व्याप्यके होने पर व्यापकका होना ही व्याप्ति है तब व्यापक-धर्म व्याप्ति अभिप्रेत है।

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकाकार वाचस्पतिने यद्यपि व्याप्तिको लक्ष्य मानकर उसका स्वरूप नहीं दिया, क्योंकि उन्हें न्यायपरम्परानुसार व्याप्ति स्वीकार्य नहीं है, पर उन्होंने[3] साध्यके साथ साधनका स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर उसका जैसा विवेचन किया है वह व्याप्ति जैसा है। उदयनने[4] उनके आशयका उद्घाटन व्याप्तिपरक किया है। वाचस्पतिने लिखा है कि कोई सम्बन्ध हो, वह जिसका स्वाभाविक एवं नियत है वही गमक और इतर सम्बन्धी गम्य होता है। और स्वाभाविकका अर्थ है कोई उपाधि न होना। जैसे धूमादिकका वह्न्यादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि उसमें कोई उपाधि नहीं है। पर वह्न्यादिका धूमादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह्न्यादि धूमादिकके बिना भी उपलब्ध है। अतः यहाँ आर्द्रेन्धनादि उपाधिका अनुभव किया जाता है। तात्पर्य यह कि वाचस्पतिके[5] अभिप्रायानुसार निरुपाधिक स्वाभाविक सम्बन्धका नाम व्याप्ति है। उदयनने[6] वाचस्पतिका अनुसरण करते हुए स्पष्टतया स्वाभा-

---

१. तस्य व्याप्तिर्हि व्यापकस्य तत्र भाव एव। व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।
—हेतुबि० पृ० ५३।

२. तस्य पक्षधर्मस्य सतो व्याप्तिः—यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तदुभयधर्मतया प्रतीते:।
—हेतुबि० टी० पृष्ठ १७–१८।

३. तस्माद्यो वा स वाऽस्तु सम्बन्धः, केवलं यस्यासौ स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतर: सम्बन्धीति युज्यते।...।
—न्या० वा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५।

४. न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६७६।

५. तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः।
—न्या० वा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।

६. ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम। अनौपाधिकः सम्बन्ध इति ब्रूमः।
—किरणा० पृ० २६७ तथा ३००।

त्रिकका अर्थ अनौपाधिक किया है और उपाधिके विशदीकरणके साथ उसके भेदों-का भी विवेचन किया है[1]।

वाचस्पति और उदयनके इस निरूपणसे अवगत होता है कि साध्य-साधन या गम्य-गमकरूपसे अभिमत दो वस्तुओंमें नियत सम्बन्धका कारण अनौपाधिकता है और अनियतसम्बन्धका कारण औपाधिकता (उपाधि)। उपाधि न होनेसे साधन साध्यका नियमसे अनुमापक होता है और उपाधिके रहनेसे साधन साधन न रह-कर साधनाभास हो जाता है और वह साध्यका सम्यक् गमक नहीं होता। उदा-हरणार्थ 'अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः' इस अनुमानमें आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है। अतएव 'वह्नि' हेतु सोपाधिक होनेसे व्याप्यत्वासिद्ध या व्यभिचारी हेत्वाभास माना गया है। और इसलिए उससे यथार्थ अनुमिति सम्भव नहीं है। अतः साध्य-साध-नमें नियत सम्बन्धके निर्णयार्थ उसका उपाधिरहित होना आवश्यक है।

(ख) उपाधि :

यतः नियतसम्बन्ध—व्याप्तिका उपर्युक्त स्वरूप उपाधिघटित है, अतः उपाधि-का विश्लेषण आवश्यक है। इसका अभिधेयार्थ है—'उप समीपवर्तिनि आदधाति स्वकीयं रूपमिति उपाधि'[2]—जो समीपवर्ती वस्तुमें अपना रूप आरोपित करे वह उपाधि है। उदाहरणके लिए जपाकुसुमको लिया जा सकता है। यदि जपाकुसुमको स्वच्छ स्फटिकमणिके समीप रख दें तो उसकी लालिमा उसमें आरोपित हो जाती है। यतः वह लालिमा जपाकुसुमरूप उपाधिके संसर्गसे उसमें आयी है, अतः वह औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। इसी प्रकार वह्नि हेतुसे धूमानुमान करनेमें धूम-सामग्री (आर्द्रेन्धनसंयोग) उपाधि है, क्योंकि उसके संसर्गसे 'वह्नि' में धूमव्याप्तिका आरोप (आधान) होता है। अतः 'वह्नि' हेतु आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधियुक्त होनेके कारण साध्यका गमक नहीं है।

उपाधिकी उदयनकृत परिभाषाके[3] अनुसार भी आर्द्रेन्धनसंयोग साध्यका व्यापक और साधनका अव्यापक होनेसे उपाधि है और उपाधिसहित होनेके कारण 'वह्नि' हेतु धूम-साध्यका साधक नहीं है। इसी तरह 'स श्यामो मैत्री-

---

१. वही, पृ० ३००, ३०१।

२. हेत्वाभासविशेषप्रयोजकीभूतोऽर्थः (उपाधिः)। यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्य-भिचारित्वं सः। उदयनाचार्यमते उपाधिपदं योगरूढम्। अत्र व्युत्पत्तिः। उप समीपव-र्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः, इति।…यथा स्फटिकलौहित्ये जपा-कुसुममुपाधिरित्यत्र लौहित्यसंक्रामकत्वम्।…।

—भीमाचार्य, न्यायकोश पृष्ठ १७७, 'उपाधि' शब्द।

३. साध्यव्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वमिति।

—किरणाव० पृष्ठ ३००।

तनयत्वात्, इतरतनयवत्'[1] इस असद्-अनुमानमें भी अन्नपानादिपरिणतिविशेष या शाकपाकजन्यत्व उपाधि विद्यमान होनेसे मैत्रीतनयत्वहेतु अपने श्यामतासाध्यका अनुमापक नहीं है।

उदयनके पश्चात् केशवमिश्र[2], अन्नम्भट्ट[3], विश्वनाथ[4] आदि अनेक नैयायिकोंने भी व्याप्ति और उपाधिपर चिन्तन एवं निबन्धन किया है। किन्तु सर्वाधिक विचार और लेखन गंगेश उपाध्याय (१२०० ई०)ने किया है। उन्होंने[5] पूर्वपक्षमें प्रथमतः उन व्याप्तिलक्षणोंको प्रस्तुत करके उनकी समीक्षा की है, जो या तो अन्य तार्किकों द्वारा अभिमत हैं या उन्होंने स्वयं अपनी प्रतिभाके बलपर उनकी समालोचनार्थ परिकल्पना की है। तदनन्तर सिद्धान्तपक्षके रूपमें अपना परिष्कृत व्याप्ति-लक्षण उपस्थित किया और उसमें सम्भाव्य दोषोंका परिहार करके उसे निर्दुष्ट सिद्ध किया है। ये सभी व्याप्तिलक्षण नव्यन्यायपद्धतिसे वर्णित हैं। इनपर रघुनाथ शिरोमणिने दीधिति, मथुरानाथ तर्कवागीशने माथुरी, जगदीश तर्कालंकारने जागदीशी और गदाधर भट्टाचार्यने गादाधरी व्याख्याएं लिखकर उन्हें विस्तृत, जटिल और दुरवबोध बना दिया है। पर दुरवबोधके कारण उनका अध्ययन-अनुशीलन अवरुद्ध नहीं हुआ, वह मिथिला और नवद्वीपसे बाहर आकर धीरे-धीरे महाराष्ट्र, मद्रास और काश्मीरमें होता हुआ प्रायः सारे भारतमें प्रसृत हो गया।[6] आजसे एक पीढ़ी पूर्व तक उक्त अध्ययनकी धारा बहती रही, परन्तु अब वह क्षीण होती जा रही है।

(ग) उपाधि-निरूपणका प्रयोजन :

प्रश्न है कि व्याप्ति-निरूपणके साथ उपाधि-निरूपणका प्रयोजन क्या है? इसका समाधान करते हुए गंगेश आदि तार्किकोंने[7] कहा है कि यदि किसी अनुमानमें उपाधिका सद्भाव है तो स्पष्ट है कि हेतु साध्यव्यभिचारी है, क्योंकि जो साध्यके

---

१. न च श्यामादिषु मैत्रतनयादीनां स्वाभाविकप्रतिबन्धसम्भवः, अन्नपानपरिणतिभेदस्योपाधेः श्यामतायां मैत्रतनयसम्बन्धं प्रति विद्यमानत्वेन मैत्रतनयत्वस्यागमकत्वात्।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६७।

२. तर्कभा० पृष्ठ ७२, ७५, ७६।

३. तर्कसं० पृष्ठ ७८-८२ तथा ६२।

४. सि० मु० पृ० ५३-७८ तथा १२२।

५. त० चि०, जागदी० पृ० ७८-८२, ८६-८६, ९९-१२१, १७१, १७७, १७८, १८१, १८६, १९७, २०१, २०२, २०६, तथा २०९-३६०।

६. विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, तर्कभाषा-भूमिका, पृष्ठ ४८।

७. तथाहि-समव्याप्तस्य विषमव्याप्तस्य वा साध्यव्यापकस्य व्यभिचारेण साधनस्य साध्यव्यभिचारः स्फुट एव, व्यापकव्यभिचारिणस्तद्व्याप्यव्यभिचारनियमात्।
—त० चि० उपाधिवाद, पृष्ठ ३४५।

व्यापकका व्यभिचारी होता है वह साध्य (व्याप्य)का व्यभिचारी अवश्य होता है। उदाहरणार्थ 'धूमवान् वह्नेः' यहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है[1]। आर्द्रेन्धनसंयोग धूम (साध्य)का व्यापक (समव्याप्त) है और वह्नि (हेतु) आर्द्रेन्धनसंयोग-का व्यभिचारी है—वह उसके अभाव (अयोगोलक आदि)में भी रहता है। अतः 'वह्नि' हेतु 'धूम' साध्यके व्यापक (आर्द्रेन्धनसंयोग)का व्यभिचारी होनेसे धूम (साध्य-व्याप्य)का भी व्यभिचारी है। तात्पर्य यह कि उपाधिके सद्भावसे हेतुमें व्यभिचार और उपाधिके अभावसे उसमें अव्यभिचारका अनुमान होता है।[2] अतः यदि किसी हेतुमें उपाधि उपलब्ध होती है तो उससे उस हेतुमें व्यभिचारका निश्चय होता है और व्यभिचारके निश्चयसे तज्जन्य अनुमान दूषित-अनुमान समझा जाता है और यदि उपाधि नहीं पायी जाती तो उसके अभावसे हेतुमें अव्यभिचार-का निर्णय किया जाता है और अव्यभिचारके निर्णयसे तदुत्पन्न अनुमान निर्दोष माना जाता है।[3] यही उपाधि-विचारका प्रयोजन है।

एक प्रश्न और है। वह यह कि उपाधिके सद्भाव और असद्भावका निर्णय कैसे होता है ? इस सम्बन्धमें वाचस्पतिका[4] मत है कि प्रयत्नसे उपाधिका अन्वेषण किया जाए। यदि अन्वेषण करने पर वह उपलब्ध न हो तो 'उपाधि नहीं है' ऐसा अवगत करके विवक्षित साधनके सम्बन्धको स्वाभाविकता (अनौपाधिकता)का निश्चय कर सकते हैं। उदयन[5] वाचस्पतिके इस मन्तव्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष-गम्य उपाधियोंका निराकरण तो योग्यानुपलब्धिसे हो जाता है और प्रमाणान्तरगम्य व्यापक-अव्यापक नित्य-अनित्य सम्भाव्य उपाधियोंका निरास परीक्षा (सर्वशङ्का-निवर्त्तक तर्क) द्वारा होता है। यही कारण है कि उपाधिको न देखने पर विरोधि-प्रमाणके होने-न-होनेके निश्चयमें व्यग्र रहनेके कारण अनुमाता अनुमितिमें कुछ कालका विलम्ब कर देते हैं। अन्ततोगत्वा उपाधिके अनुपलम्भसे उसके अभावका

---

१. उदयन, किरणावली, पृष्ठ ३०१।

२. व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम्।
—विश्वनाथ, सि० मु० का० १४०, पृ० १२३।

३. तस्मादुपाधावावश्यं व्यभिचारोऽनुपाधावावश्यमव्यभिचारः...
—न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६७२ तथा किरणावली पृष्ठ ३००।
त० चि० उपाधिवाद, पृ० ३९४-९५।

४. तस्मादुपाधिं प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तीत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५।

५. प्रत्यक्षोपलम्भास्तावद्योग्यानुपलब्धेरेव निरस्ताः। प्रमाणान्तरपरिदृष्टानामपि व्यापका-नामुपाधित्वे वह्नेः सार्वत्रिकत्वप्रसंगः अव्यापकानामपि नित्यानामुपाधित्वे···। अत एवो-पाधिमपश्यन्तो··· मुहूर्तमनुमितौ विलम्बामहे।···।
—न्यायवा० ता० परिशु० १।१।५, पृ० ६६२-९५। तथा किरणा० पृ० ३०१।

निश्चय हो जाता है। यथा धूमके स्वाभाविक सम्बन्धमें उपाधिके अनुपलम्भसे उसके अभावका निश्चय किया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी दृष्टव्य है। उक्त स्पष्टीकरणके पश्चात् भी एक शंका बनी रहती है, जिसकी ओर वर्द्धमानो-पाध्यायने संकेत किया है[1]। वह यह कि उक्त प्रकारसे प्रत्यक्षगम्य उपाधियोंके अभावका निश्चय होने पर भी अतीन्द्रिय (अयोग्य) या शंकित उपाधियोंके अभावका निश्चय कैसे होगा? उदयनने[2] इसका भी समाधान प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि विपक्षबाधक तर्कसे उक्त प्रकारकी उपाधियोंके अभावका भी निश्चय हो जाता है। इस सन्दर्भमें केशव मिश्रका[3] समाधान भी उल्लेखनीय है। उनका कहना है कि अतीन्द्रिय उपाधियोंकी आशंका नहीं हो सकती, क्योंकि उनके अतीन्द्रिय होनेसे वे उपाधि-आविष्कर्त्ताको ज्ञात नहीं हैं और अज्ञात स्थितिमें उनके सद्भावकी शंका निर्मूल है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसिद्ध उपाधिकी आशंका की जानी चाहिए।[4] अन्यथा भोजनादिमें भी विषादिके सद्भावकी शंका रहने पर उनमें लौकिकोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी।[5] निष्कर्ष यह कि प्रमाणोपपन्न उपाधि-के निश्चयसे व्यभिचारका निश्चय और व्यभिचारके निश्चयसे विवक्षित साध्य-साधनमें व्याप्तिके अभावका निर्णय होता है। तथा उपाधिके अभावनिश्चयसे व्यभिचारके अभावनिश्चयका और व्यभिचारके अभावनिश्चयसे व्याप्तिका निश्चय होता है।

(घ) जैन दृष्टिकोण :

माणिक्यनन्दि[6] आदि जैन तार्किकोंने व्याप्तिका स्वरूप देते हुए लिखा है— 'इसके होने पर ही यह होता है, नहीं होने पर नहीं ही होता' यह व्याप्ति है। इसीको अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं। अतएव साधनको अवि-

---

१. वर्द्धमानोपाध्याय, न्यायवा० तात्प० परि० न्यायनिबन्धप्रकाशटी० पृ० ६९५।

२. तर्कश्च सर्वशंकानिराकरणपटीयान् विराजते (विजयते)।
—उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।२।५, पृ० ६९५, तथा किरणा० पृष्ठ ३०१।

३. अयोग्यस्य शंकितुमशक्यत्वात्।...।—केशवमिश्र, तर्कभा० पृ० ७६।

४. व्यभिचार एव प्रतिबन्धाभावः। उपाधेरेव व्यभिचारशंका, प्रमाणनिश्चित एवोपाधित्वेन शंकनीयः।—उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृ० ६७६-७७,।

५. यथा चाप्रामाणिकोपाधिशंकया व्यभिचारित्वशंकयानुमानादिनिवृत्तिस्तथाऽप्रामाणिका-नर्थशंकयैव विशिष्टाहारभोजनादिनिवृत्तिः।
—वही, पृ० ६७६, तथा पृष्ठ ६७५।

६. इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव।
यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।१२, १३।

नाभावी अथवा अन्यथानुपपन्न बतलाया गया है।[1] इसका अर्थ है जो साधन साध्य-के अभावमें न हो, उसके होने पर ही हो वही गमक है और उसका साध्य गम्य।[2] पर जो साधन साध्यके अभावमें उपलब्ध है वह उस साध्यका साधन नहीं और वह साध्य भी उस साधनका गम्य (विषय) नहीं—दोनों ही क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास हैं।[3] वस्तुतः इस अविनाभावके रहनेसे ही धूम, अग्नि-का गमक होता है। अतः धूम साधन है और वह्नि साध्य। किन्तु 'अयोगोलक धूमवाला है, क्योंकि उसमें वह्नि है' इस अनुमानमें हेतुरूपसे प्रयुक्त वह्नि धूमके अभावमें भी पायी जाती है। इस कारण वह धूमको अविनाभाविनी न होनेसे वह उसकी गमक नहीं है। अतः वह साधनाभास है और धूम साधनाभासका विषय होनेसे साध्याभास। प्रत्यक्ष है कि अयोगोलकमें वह्नि होने पर भी धूम नहीं होता। अतएव 'अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह द्रव्य है' इस अनुमानगत अनुष्णत्वसाध्य-की तरह उक्त अनुमानमें प्रयुक्त धूम-साध्य प्रत्यक्षविरुद्ध—साध्याभास है। तथा उसे सिद्ध करनेके लिए दत्त 'अग्नि' हेतु प्रत्यक्षबाधित नामक कालात्ययापदिष्ट साधनाभास है। उसमें आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधिकी कल्पना करके उसके सद्भावसे अग्निमें व्यभिचारका निश्चय और व्यभिचारके निश्चयसे व्याप्तिके अभावका निश्चय जैन तार्किक नहीं करते। उनका मन्तव्य है कि उसमें मात्र परम्परा-परिश्रम और अन्योन्याश्रय है[4]। यह देखना चाहिए कि वह्निका धूमके साथ अविनाभाव है या नहीं? स्पष्ट है कि वह्नि अंगारे आदिमें धूमके बिना भी उपलब्ध होती है। अतः वह्निका धूमके साथ अविनाभाव नहीं है और अविनाभाव न होनेसे वह साध-नाभास है। इसी तरह 'गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वात्' यहाँ भी मैत्रीतनयत्वहेतुका श्यामत्वसाध्यके साथ अविनाभाव नहीं है और अवि-नाभावके न होनेसे मैत्रीतनयत्वहेतु हेत्वाभास है[5]। प्रकट है कि गर्भस्थ पुत्रको मैत्रीका पुत्र होनेसे श्याम होना चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है, क्योंकि उसके गोरे

---

१. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
 —प० मु० ३।१५।
 साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे।
 —अकलंक, न्यायविनि० २।२६६ तथा प्रमाणसं० ३।२१।
२. तत्रान्यत्रापि वाऽसिद्धं वह्निना वह्निहन्यते।
 तत्र तद्गमकं तेन साध्यधर्मी च साधनम्॥
 —न्यायवि० २।२२१।
३. वही, २।३४६, २।१७२।
४. धर्मभूषण, न्या० दी० पृ० ११०।
५. वही, पृ० ९२।

होनेकी भी सम्भावना है। यथार्थमें[1] मैत्रीतयत्वहेतुका श्यामत्वसाध्यके साथ न सहभावनियम है और न क्रमभावनियम, क्योंकि कोई यदि यह व्यभिचार-शंका करे[2] कि गर्भस्थ पुत्रमें 'मैत्रीका पुत्रपन' तो हो, किन्तु 'कालापन' न हो, तो इस व्यभिचार-शंकाका निवर्तक ऐसा अनुकूल तर्क नहीं है कि 'यदि गर्भस्थ पुत्रमें कालापन न हो तो उसमें 'मैत्रीका पुत्रपन' भी नहीं हो सकता, क्योंकि गर्भस्थ मैत्रीपुत्रमें 'मैत्रीके पुत्रपन' के रहने पर भी कालापन सन्दिग्ध है। और विपक्षमें बाधकप्रमाणों—व्यभिचार-शंका निवर्त्तक अनुकूल तर्कोंके बलसे हेतु और साध्यमें व्याप्तिका निश्चय होता है और व्याप्तिके निश्चयसे सहभाव अथवा क्रमभावका निर्णय होता है। तथा सहभाव और क्रमभावनियम ही अविनाभाव है।[3] अतः मैत्रीतनयत्वहेतुमें शाकपाकजन्यत्व उपाधिके सद्भावसे व्यभिचार और व्यभिचारसे व्याप्तिका अभाव नहीं है, अपितु व्यभिचारशंकानिवर्त्तक अनुकूल तर्कके न होनेसे ही उसमें व्याप्तिका अभाव है। यही दृष्टिकोण जैन तार्किकोंने सभी सद्-असद् अनुमानोंमें अपनाया है। तात्पर्य यह कि जैन तर्कशास्त्रमें हेतुकी गमकता और अगमकतामें प्रयोजक क्रमशः उसके साध्याविनाभावका निश्चय और साध्याविनाभावके अभावका निश्चय स्वीकृत है। तथा अविनाभावका निश्चय एकमात्र तर्कप्रतिष्ठित है,[4] जैसा कि आगे विवेचित है।

(क) व्याप्ति-ग्रहण :

इस व्याप्तिके ग्रहण (निश्चय) का ऊहापोह चार्वाकके अतिरिक्त शेष सभी भारतीय विचारकोंने किया है। चार्वाक[5] व्याप्ति-ग्रहणको असम्भव बतलाकर अनुमानके प्रामाण्यका निषेध करता है और प्रत्यक्षको ही एकमात्र ज्ञानोपलब्धिका साधन मानता है। किन्तु अन्य समस्त अनुमानप्रमाणवादी अनुमानके आधारभूत व्याप्ति-ग्रहणको सम्भव बतलाते और उसके ग्रहण-प्रकारका प्रतिपादन करते हैं। यहाँ दार्शनिकोंके व्याप्तिग्रहणसम्बन्धी मतोंपर विचार किया जाता है।

---

१. न हि मैत्रीतनयत्वस्य हेतुत्वाभिमतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा नियमोऽस्ति, येन मैत्रीतनयत्वं हेतुः श्यामत्वं साध्यं गमयेत्।
—न्या० दी० पृष्ठ ९२।

२. वही, पृष्ठ ९३।

३. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।
—माणिक्यनन्दि, प० मु० ३।१६।

४. सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते॥
—अकलंक, न्या० वि० २।३२१।

५. प्रभाचन्द्र, प्र० क० मा० २।१, पृष्ठ १७७, द्वितीय संस्करण।

(१) बौद्ध व्याप्ति-ग्रहण :

धर्मकीर्तिके[1] अनुसार व्याप्ति दो सम्बन्धोंपर आधृत है—(१) तदुत्पत्ति और (२) तादात्म्य।

जिन दो वस्तुओंमें कार्यकारणभाव होता है उनमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध माना गया है। जैसे धूम और वह्नि। तथा जिन दोमें व्याप्यव्यापकभाव होता है उनमें तादात्म्य स्वीकार किया गया है। यथा सत्त्व और क्षणिकत्व अथवा शिंशपात्व और वृक्षत्व। इन दो सम्बन्धोको छोड़कर अन्य कोई सम्बन्ध या प्रमाण अविनाभावका नियामक (स्थापक) नहीं है। न ही दर्शन (अन्वय या प्रत्यक्ष) से उसकी स्थापना सम्भव है और न अदर्शन (व्यतिरेक या अप्रत्यक्ष-अनुपलम्भ) से। अर्चटने[2] धर्मकीर्तिके इस कथनका समर्थन करते हुए लिखा है कि तादात्म्य और तदुत्पत्तिके साथ अविनाभाव और अविनाभावके साथ वे दोनों व्याप्त हैं। जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति उनमें अविनाभाव नही होता।

परन्तु पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि कितने हो ऐसे हेतु हैं जिनमे न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति, फिर भी उनमें अविनाभाव रहता है तथा अविनाभाव रहनेसे उन्हें गमक स्वीकार किया गया है। उदाहरणार्थ[3] 'श्व. सविताऽऽदेता अद्यतन-सवितुरुदयात्', 'शकटं उदेष्यति कृत्तिकोदयात्', 'उद्‌गाद्‌भरणिः कृत्तिकोदयात्', 'रसलमानकालं रूपं जातं रसात्', 'चन्द्रोदयो जात. समुद्रवृद्धेः' इत्यादि हेतुओंमें न तादात्म्य है और न कार्यकारणभाव। पर अविनाभाव है और इसलिए वे गमक है।[4]

---

१. कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्।
अविनाभावनियमो दर्शनान्न नादर्शनात्॥
—प्र० वा० १।३०।

२. तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामविनाभावो व्याप्तः, तयोस्तत्रावश्यंभावात्। तस्य च तयोरेव भावादतत्स्वभावस्यातदुत्पत्तेश्च (तदनायत्तत) या तदव्यभिचारनियमाभावात्।
—हे० बि० टी० पृष्ठ ८।

३. चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा॥
न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।
भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्।
श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति॥
—लघीय० का० १३, १४।

४ तदेतस्मिन् प्रतिबन्धनियमे कथं चन्द्रादेरर्वाग्भागदर्शनात् परभागोऽनुमीयेत ? नान्योः कार्यकारणभावः सहैव भावात्। न च तादात्म्यं, लक्षणभेदात्। अलमन्यथानुपपत्तेरनवद्यमनुमानम्।
—सिद्धिवि० ६।२, पृष्ठ ३७३।

उल्लेखनीय है[1] कि सर्वदर्शनसंग्रहकारने बौद्धोंके कार्यकारणभावनिश्चयके प्रकारका भी निर्देश किया है। वह प्रकार है 'पंचकारणी'। उन्होंने लिखा है कि बौद्ध नैयायिक पंचकारणी प्रक्रियाके द्वारा कार्यकारणभावका निश्चय करते हैं और कार्यकारणभावके निश्चयसे अविनाभावका निश्चय[2]। यह प्रतिपादन धर्मकीर्तिका है, जिसे उन्होंने हेतुबिन्दुमें[3] किया है। परन्तु धर्मकीर्ति और उनके टीकाकारोंने अविनाभावको कार्यकारणभाव और स्वभाव (तादात्म्य) इन दोमें ही नियन्त्रित कर उसके व्यापक स्वरूप एवं क्षेत्रको संकुचित बना दिया है, फलतः उक्त पूर्वचरादि हेतुओंमें व्याप्तिकी स्थापना नहीं हो सकती।

(२) वेदान्त व्याप्ति-स्थापना :

वेदान्त दर्शनमें[4] व्याप्तिका ग्रहण प्रत्यक्ष द्वारा माना गया है। उसका मत है कि साध्य-साधनके साहचर्यको ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष भूयोदर्शन, व्यभिचारादर्शन आदि सहकारियोंसे सहकृत हो कर व्याप्तिका निश्चय करता है। जहां पूर्वसंस्कार प्रबल रहते हैं वहां व्याप्तिका निर्णय अनुमान और आगम द्वारा भी होता है। यथा—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'गोर्न पादाः स्पृष्टव्याः' जैसे स्थलोंमें व्याप्तिका ग्रहण आगमद्वारा ही सम्भव है।

बौद्धों और वेदान्तियोंकी व्याप्तिस्थापनामें यह अन्तर है कि बौद्धोंके[5] अनुसार

---

१. तस्मात्तदुत्पत्तिनिश्चयेनाविनाभावो निश्चीयते। तदुत्पत्तिनिश्चयश्च कार्यहेत्वोः प्रत्यक्षोपलम्भानुपलम्भपंचकनिबन्धनः। कार्यस्योत्पत्तेः प्रागनुपलम्भः, कारणोपलम्भे सति उपलम्भः उपलब्धस्य पश्चात् कारणानुपलम्भादनुपलम्भ इति पंचकारण्या धूमधूमध्वजयोः कार्यकारणभावो निश्चीयते।
—माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह बौद्धदर्श० पृष्ठ २०।

२. देवसूरि, स्याद्वादरत्नाकर ३।८, पृष्ठ ५१३, ५१४ भी द्रष्टव्य है।

३. कार्यहेतौ कार्यकारणभावसिद्धिः यदेदमस्योपलम्भे उपलभ्यते उपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलब्धमुपलभ्यते, सत्स्वप्यन्येषु हेतुषु अस्याभावे न भवतीति यस्तद्भावे भावस्तदभावेऽभावश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनः कार्यकारणभावः तस्य सिद्धिः।
—हेतु० बि० पृष्ठ ५४।

४. वेदान्तिनस्त्वाहुः। प्रत्यक्षं व्याप्तिग्राहकम्। तथा च साहचर्यग्राहिणः प्रत्यक्षस्य भूयोदर्शनव्यभिचारादर्शनोपाध्यभावनिश्चयाः सहकारिणः। एवमनुमानागमावपि व्याप्तिग्राहकौ। तत्रागमेन व्याप्तिग्रहस्तु 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'गोर्न पादाः स्पृष्टव्याः' इति। अत्र दृष्टान्तापेक्षा नास्ति।
—न्यायकोश, पृ० ८३३।

५. (क) अथ प्रत्यक्षपृष्ठभाविविकल्पात् साकल्येन साध्यसाधनभावप्रतिपत्तेन प्रमाणान्तरं तदर्थं मृग्यमित्यपरः।
—प्र० र० मा० २।२, पृष्ठ ५६।

(ख) यस्यानुमानमन्तरेण सामान्यं न प्रतीयते तस्यायं दोषोऽस्माकं तु प्रत्यक्षपृष्ठभाविनापि विकल्पेन प्रकृतिविभ्रमात् सामान्यं प्रतीयते।
—हेतुबिन्दुटी०, पृष्ठ २३, २४। तथा मनोरथ० पृष्ठ ७।

निर्विकल्पक प्रत्यक्षके बाद होने वाला सविकल्पक व्याप्तिग्राहक है, जो उक्त दो सम्बन्धोंपर निर्भर है। पर वेदान्तदर्शनमे भूयोदर्शनादि सहकृत निर्विकल्पक अनुभव व्याप्तिको ग्रहण करता है।

(३) सांख्य व्याप्ति-ग्रहण :

सांख्यदर्शनमें[1] व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष द्वारा माना गया है। पर भाष्यकार विज्ञानभिक्षु[2] नियम (अव्यभिचार—व्याप्ति)का ग्रहण अनुकूल तर्क द्वारा भी प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य और साधन दोनोके अथवा केवल साधनके नियत साहचर्यका नाम व्याप्ति है और इस व्याप्तिका ग्रहण व्यभिचारशंकानिवर्तक अनुकूल तर्क सहकृत दर्शनसे होता है। अतएव व्याप्तिदर्शनके अनन्तर जो वृत्तिरूप साध्यज्ञान होता है उसे अनुमान कहा गया है।

(४) मीमांसा व्याप्ति-ग्रह :

प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने[3] अव्यभिचारको व्याप्ति कह कर उसका ग्रहण असकृद्दर्शनसे बतलाया है। उनका अभिमत है कि जिस प्रमाणसे साधन सम्बन्धविशिष्ट गृहीत होता है उसी प्रमाणसे उस साधनका व्याप्ति-सम्बन्ध भी गृहीत हो जाता है। उसके ग्रहणके लिए प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नही होती। उदाहरणार्थ 'यह धूम अग्नि सम्बद्ध है' ऐसा प्रत्यक्ष (असकृद्दर्शन)से ज्ञान होने पर उसकी सम्बन्धिता (धूमनिष्ठ व्याप्तिसम्बन्ध) का भी ज्ञान उसीसे हो जाता है। अतः असकृद्दर्शन व्याप्तिग्राहक है।

भट्ट कुमारिलने[4] भाष्यकार शबरके अनुमानलक्षणगत 'सम्बन्धको' व्याप्ति

---

१. प्रबन्धदृश' प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। प्रतिबन्धो व्याप्तिः। व्याप्तिदर्शनाद् व्यापकज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणमिति।
—सा० द० प्र० भा० १-१००।

२. नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः। ···तथा चोभयोः साध्यसाधनयोरेकतरस्य साधनमात्रस्य वा नियतः अव्यभिचरितो यः सहचारः स व्याप्ति···नियमश्चानुकूलतर्केण ग्राह्य इति···।
—विज्ञानभिक्षु, वही ५।२९।

३. अव्यभिचारो हि व्याप्तिः···। ···यद्वस्तु येन प्रमाणेन सम्बन्धविशिष्टं गृह्यते—यथा प्रत्यक्षेण धूमोऽग्निसम्बन्धविशिष्टः तस्य तेनैव प्रमाणन सम्बन्धे व्याप्यतापि गम्यते। ···अव्यभिचारस्त्वसकृद्दर्शनगम्यः।
—प्र० पंचिका १।१।५, पृष्ठ ९५-९६।

४. सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टाऽत्र लिंगधर्मस्य लिंगिना।
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते॥
भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः।
—मी० श्लो० १।१।५, अनु० परि०, पृष्ठ १४८।

बतलाते हुए उसे भूयोदर्शनगम्य प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि चाहे सम-व्याप्ति हो या विषमव्याप्ति, दोनोंमें व्याप्य ही गमक होता है और व्यापक ही गम्य, क्योंकि व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान अवश्य होता है। परन्तु व्यापकके ज्ञानसे व्याप्यका नहीं। अतः व्याप्यमें व्याप्यता (व्याप्ति) और व्यापकमें व्यापिता (व्यापकता) है। जब-जब धर्म्यन्तर (महानस)में धूम देखा गया तब-तब वहां वह्नि भी देखी गयी। इसलिए धर्म्यन्तर (सपक्ष) में हुआ धूम और वह्निका अनेक-बारका सहदर्शन (भूयोदर्शन) ही धूम और वह्निमें व्याप्ति-सम्बन्धका निश्चय कराता है। विशेष यह कि कुमारिल[1] उस व्याप्ति-सम्बन्धको केवल पूर्वदृष्ट महानसादिगत ही मानते तथा उसे ही अनुमानांग कहते हैं, सकलदेशकालगत नहीं। पार्थसारथि[2] कुमारिलके आशयको व्यक्त करते हुए कहते हैं कि बहुत दर्शनोंसे धूम और वह्निके साहित्य (साहचर्य)का ज्ञान होने और उनमें व्यभि-चारका ज्ञान न होने पर महानसादिमें अग्निके साथ धूमकी व्याप्ति अवगत हो जाती है। किन्तु उसके पश्चात् जो ऐसा ज्ञान होता है कि 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है,' वह परोक्षरूप होनेसे आनुमानिक है। इससे प्रतीत होता है कि कुमारिल और उनके अनुवर्ती मीमांसक तार्किक व्याप्तिको केवल सपक्षगत मानते है, उसे सर्वोपसंहारवती नही। इसी कारण वे उसे प्रत्यक्ष (भूयोदर्शन) गम्य बतलाते है।

(५) वैशेषिक व्याप्ति-ग्रह :

वैशेषिकदर्शनमें सर्वप्रथम प्रशस्तपादने[3] अन्वय और व्यतिरेक द्वारा व्याप्तिग्रह प्रतिपादन किया है। वे कुमारिलकी तरह व्याप्तिको केवल सपक्षगत नही मानते;

---

१. तेन धर्म्यन्तरेष्वेषा यस्य येनैव यादृशी।
देशे यावति काले वा व्याप्यता प्राङ्निरूपिता॥
तस्य तावति तादृक्स दृष्टो धर्म्यन्तरे पुनः।
व्याप्यांशो व्यापकांशस्य तथैव प्रतिपादकः॥
—मी० श्लो० वा० १।१।५, अनुमानपरि० श्लो० १०, ११।

२. बहुभिस्तु दर्शनैर्बहुषु देशेषु धूमस्याग्निना साहित्यं गम्यते, तस्मिंश्चावगते व्यभिचारे चानवगते यथादृष्टेषु धूमस्याग्निना व्याप्तिरवगता भवति।···तावतैव बहुशोऽवगताग्नि-साहित्यस्य धूमस्य परिदृष्टेषु देशकालेषु वह्निनियमोऽवगतो भवति, तावदेवानुमानांग, तदनन्तर तु यत्र यत्र धूमः तत्र तत्राग्निरिति योऽवगमः सोऽप्यानुमानिक एव परोक्ष-रूपत्वात् तस्य तु प्रत्यक्षत्वं संविविरुद्धं।
—वही, न्या० रत्ना० १।१।५, अनु० प० १०, ११, पृष्ठ ३५०।

३. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमयस्या-सन्दिग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात्तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतं इतरस्य लिंगम्।
—प्रश० भा० पृ० १०२, १०३।

अपितु समस्त देश और समस्त कालानुयायी बतलाते हैं। उदाहरणार्थ 'जहां धूम होता है वहां अग्नि होती है और जहा अग्नि नही होती वहां धूम भी नहीं होता।' इस अन्वय-व्यतिरेक प्रदर्शक उदाहरणसे प्रशस्तपादका अभिप्राय व्याप्तिको सर्वोपसंहारवती बतलानेका स्पष्ट ज्ञात होता है। अन्वयका अर्थ दर्शन और व्यतिरेकका अर्थ अदर्शन है[1]। इन दर्शन-अदर्शनसे व्याप्ति-निश्चय किया जाता है। प्रशस्तपादभाष्यके टीकाकार उदयनका[2] मत है कि साधन और साध्य दोनों सम्बन्धी हैं और दोनों महानसादिमें प्रत्यक्षसे अवगत हैं, अतः उनकी व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध) बाह्येन्द्रियजन्य-सविकल्पकप्रत्यक्षग्राह्य ही है। संज्ञा और स्मरण उसके प्रकारान्तर भी सम्भव है। टिप्पणकारने[3] भूयोदर्शनसहकृत अन्वय-व्यतरेकको व्याप्तिग्रहोपाय सूचित किया है।

(६) न्याय व्याप्तिग्रह :

न्यायदर्शनमें व्याप्तिग्रहणपर कुछ अधिक विस्तृत विचार मिलता है। गौतमने[4] अनुमानका कारण प्रत्यक्ष बतलाया है। वात्स्यायन[5] उनके प्रत्यक्षपदसे लिंगलिंगीके सम्बन्धदर्शन तथा लिंगदर्शनका ग्रहण करते हैं। साथ ही सम्बद्ध लिंग-लिंगीके दर्शनसे उन्हें लिंगस्मृति अभीष्ट है और इस तरह वात्स्यायन स्मृति और लिंगदर्शन पूर्वक अप्रत्यक्ष अर्थका अनुमान मानते है।। 'सम्बन्धदर्शन' पदसे उन्हें 'व्याप्तिदर्शन' विवक्षित जान पडता है। यदि ऐसा हो तो कहा जा सकता है कि उन्होंने व्याप्तिका ज्ञान प्रत्यक्षसे स्वीकार किया है। उद्योतकरने[6] वात्स्यायनका ही समर्थन किया है। उनका वैशिष्ट्य है कि उन्होंने लिंगलिंगीसम्बन्धदर्शनको[7] प्रथम प्रत्यक्ष, लिंग-

---

१. उदयन, किरणाव० पृ० ३०१।

२. किं पुनर्व्याप्तिग्रहण प्रमाणं···तस्माद् व्याप्तिः प्रत्यक्षयोस्सम्बन्धिनोर्बाह्येन्द्रियजन्यसविकल्पकग्राह्यैव सज्ञास्मरणस्य चात्र प्रकारान्तरेणापि सम्भवात्···।
—उदयन, वही, पृष्ठ ३०१, ३०२।

३ विधिरित्यति। अविनाभावग्रहणप्रकारस्त्वित्यर्थः। अनेन भूयोदर्शनसहकृतावन्वयव्यतिरेकावेव तद्ग्रहोपाय इति सूचितम्।
—ढुण्ढिराज शास्त्री, प्रश० भा० टि० पृष्ठ १०२।

४. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५।

५. 'तत्पूर्वकम्' इत्यनेन लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २१।

६. उद्योतर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४४।

७. लिंगलिंगिसम्बन्धदर्शनमाद्यप्रत्यक्षं लिंगदर्शनं द्वितीयम्।····तदिदं अन्तिमं प्रत्यक्षं पूर्वाभ्यां प्रत्यक्षाभ्यां स्मृत्या चानुगृह्यमाणं परामर्शरूपमनुमानं भवति।
—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४४।

दर्शनको द्वितीय प्रत्यक्ष, लिंगदर्शनके अनन्तर होने वाली स्मृति और स्मृतिके बाद होने वाले 'यह धूम है' इस प्रकारके ज्ञानको तृतीय (अन्तिम) प्रत्यक्ष कह कर उन्हें अनुमितिकी सामग्री बतलाया है और उक्त दोनों प्रत्यक्षों तथा स्मृतिसे अनुगृहीत तृतीय लिंगदर्शनको, जिसे परामर्श कहा है, अनुमान प्रतिपादन किया है। यद्यपि उद्योतकरने[1] प्रसंगतः कतिपय अन्य अनुमानपरिभाषाओंकी समीक्षा भी प्रस्तुत की है। पर व्याप्तिग्रहणपर कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला। वाचस्पति मिश्रने अवश्य व्याप्तिग्रहोपायपर चिन्तन किया है। साथ ही तदुत्पत्ति और तादात्म्यसे व्याप्तिकी स्थापना करने वाले बौद्धोंकी मीमांसा भी की है[2]। साध्य-साधनके स्वाभाविक सम्बन्धपर बल देते हुए उन्होंने प्रतिपादन किया है कि जहाँ कोई उपाधि उपलब्ध नहीं होती वहा स्वाभाविक सम्बन्ध होता है[3]।

प्रश्न है कि इस स्वाभाविक सम्बन्धका ग्रहण होता कैसे है ? वाचस्पतिका[4] मत है कि जहा सम्बन्धी (साधन-साध्य) प्रत्यक्ष हैं वहां उनके सम्बन्धका ग्रहण प्रत्यक्षसे होता है और जहा सम्बन्धी (साधन-साध्य) प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाणोंसे विदित हैं वहा उनके स्वाभाविक सम्बन्धका निर्णय भूयोदर्शन सहकृत अन्य प्रमाणोंसे सम्पन्न होता है। उन अन्य प्रमाणोंमें मुख्य तर्क है। वह तर्क इस प्रकार है—'जो हेतु स्वभावतः अपने साध्यके साथ प्रतिबद्ध हैं वे यदि साध्यके बिना हो जाएं तो वे स्वभावसे ही च्युत हो जाएंगे' इस प्रकारके तर्ककी सहायतासे जिनके साध्याभावमें रहनेका सन्देह निरस्त हो जाता है वे हेतु अपने साध्यके उपस्थापक (गमक)

---

१. (क) अपरे तु ब्रुवते नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानमिति। (ख) एतेन तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तं। (ग) अपरे तु मन्यन्ते—अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये सद्भावो नास्तिताऽसतीत्यनुमानम्।···।

—उद्योतकर न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५४, ५५।

२. अपि च रसादन्यद्रूपं रससमानकालमनुमिमतेऽनुमातारः, न चानयोरस्ति कार्यकारणभावः तादात्म्यं वा।···अपि चाद्यतनस्य सवितुरुदयस्य श्वस्तनेन सवितुरुदयेन चन्द्रोदयस्य च समानकालस्य समुद्रवृद्ध्या, मध्यनक्षत्रवृष्ट्या चाष्टमास्तमयोदयस्य न कार्यकारणभावस्तादात्म्यं वा, अथ च दृष्टो गम्यगमकभावः।

—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६१, १६२। तथा उदयन, न्यायवा० ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ६६७-६६९।

३. वही, पृ० १६५।

४. केन पुनः प्रमाणेन स्वाभाविकः सम्बन्धो गृह्यते। प्रत्यक्षसम्बन्धिषु प्रत्यक्षेण।···एवं मानान्तरविदितसम्बन्धिषु मानान्तराण्येव यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि। स्वभावतश्च प्रतिबद्धा हेतवः स्वसाध्येन यदि साध्यमन्तरेण भवेयुः, स्वभावादेव प्रच्यवेरन्निति तर्कसहाया निरस्तसाध्यव्यतिरेकवृत्तिसन्देहा यत्र दृष्टास्तत्र स्वसाध्यमुपस्थापयन्त्येव।

—वही, पृष्ठ १६६, १६७।

अवश्य होते हैं। तात्पर्य[1] यह कि प्रत्यक्षसम्बन्धिस्थलमें भूयोदर्शनजन्य संस्कारसे युक्त इन्द्रिय ही धूमादिका अग्न्यादिके साथ स्वाभाविक सम्बन्ध ग्रहण कर लेती है। पर प्रमाणान्तरगम्य सम्बन्धियोंके स्वाभाविक सम्बन्धका निश्चय भूयोदर्शनसहकृत तर्क द्वारा होता है। उल्लेख्य है कि वाचस्पति[2] भूयोदर्शनकी सूक्ष्म विशेषताओंको व्यक्त करनेके लिए उत्तमजातिके मणिका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार उत्तम जातिका मणि अपनी विभिन्न विशेषताओंके कारण विविध व्यवहारोंका प्रयोजक एवं धारयिताके भिन्न-भिन्न फलविशेषोंका सम्पादक अनुमित होता है और उसकी उन सूक्ष्म विशेषताओंका निर्णय जौहरी कर लेते हैं उसीप्रकार भूयोदर्शनोंकी सूक्ष्म विशेषताएं भी परीक्षक-अनुमाताओं द्वारा विदित हो जाती हैं। सर्वप्रथम भूयोदर्शन काकतालीयन्यायका निरास करता है। इसके अनन्तर धूमगत सातत्य-उर्द्धवगत्यादिका विशेष ज्ञान करता है और उसके पश्चात् उपाधि-शंकाको दूर करता है। वारसंख्याका उसमें नियम नहीं है। यह प्रतिपत्ताओंपर निर्भर है कि उन्हें कितने भूयोदर्शन अपेक्षित हैं। क्योंकि वे कोमल, मध्य और तीव्र बुद्धिके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। अतः भूयोदर्शनकी संख्या कम-बढ़ भी हो सकती है। तात्पर्यपरिशुद्धिमें उदयनने[3] वाचस्पतिके इस आशयका वैशद्येन उद्घाटन किया है। स्मरण रहे वाचस्पतिको स्वाभाविक सम्बन्धसे व्याप्ति अभिप्रेत है, जिसे उदयनने स्पष्ट किया है।

वर्द्धमानोपाध्यायने[4] भूयोदर्शनकी मीमासा करते हुए अपने पिता (गंगेश उपाध्याय) के मतानुसार व्यभिचारज्ञान-विरहसहकृत सहचारदर्शनको व्याप्तिग्राहक प्रतिपादन किया तथा सत्तर्कसे व्याप्तिप्रमा और तर्काभाससे व्याप्ति-अप्रमाका वर्णन किया है।[5] उन्होंने[6] तर्कपर विशेष बल देते हुए यहा तक कहा है कि जो

१-२. तस्मादभिजातमणिभेदतत्त्ववद् भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहितमिन्द्रियमेव धूमादीना वह्न्यादिभिः स्वाभाविकसम्बन्धग्राहीति युक्तमुत्पश्यामः।

—न्यायवा० ता० टी० १।१।५ पृष्ठ १६७।

३. यथा मणियैर्विशेषैस्तत्तद्व्यवहारविषयो भवति धारयितुश्च तत्तत्फलभेदसम्पादकश्चोन्नीयते ते ते सूक्ष्मा विशेषाः परीक्षकैरुन्नीयन्ते भूयोदर्शनैस्तथात्रापीति। तथा हि प्रथमतस्तावद्भूयोदर्शनं काकतालीयन्यायव्युदासाय। तत : "मृदुमध्यातिमात्रबुद्धिभेदेन पुंसां विचित्रशक्तित्वात्।

—उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृष्ठ ७०१,७०२।

४. वही, वर्द्धमान उपाध्याय, न्यायनिबन्धप्र० टी० पृष्ठ ६९९-७०२।

५. तथा च सत्तर्कात् व्याप्तिप्रमा, तदभावादप्रमेति न काचित् क्षतिः।
—वही, १।१।५, पृष्ठ ७०१।

६. येषांच तर्कं विनैव सहचारदर्शनादेव व्याप्तिग्रहः तेषां पक्षेतरत्वमुपाधिः स्यादित्युक्तम्।
—वही, पृष्ठ ७०१।

तर्कके बिना मात्र सहचारदर्शनसे ही व्याप्तिग्रह मानते हैं उनके अनुमानोंमें 'पक्षेतरत्व' उपाधि होती है। जहां व्यभिचारज्ञानविरहसहकृत सहचार दर्शन नहीं है वहां शब्द और अनुमानसे व्याप्तिग्रह होनेका भी उन्होंने उल्लेख किया है।[1]

वर्द्धमान उपाध्यायके जिस प्रतिपादनका ऊपर उल्लेख किया गया है वह गंगेशने[2] तत्त्वचिन्तामणिमें विस्तारपूर्वक दिया है। उन्होंने मीमांसकादिद्वारा अभिमत भूयोदर्शनादि व्याप्तिग्रहोपायोंकी समीक्षा करते हुए भूयोदर्शनको संशायक और तर्कको अनवस्थाग्रस्त निरूपित किया है और उत्तरपक्षके रूपमें व्यभिचारज्ञानविरहसहकृत सहचारदर्शनको व्याप्तिग्राहक बतलाया है। उनका मत है कि व्यभिचारनिश्चय और व्यभिचारशंका दोनोंका अभाव कहीं तो विपक्षबाधक तर्कसे और कही स्वयं ही सिद्ध होता है। जब तक व्यभिचारकी आशंका रहती है तब तक तर्क अपेक्षित होता है। अतः तर्कको किसी सीमा तक व्याप्तिग्राहक माननेपर अनवस्थाका प्रसंग नही आता। इसी प्रकार जहा विरोधी प्रमाणके प्रदर्शनसे शंका ही अवतरित नही होती, वहा तर्कके बिना ही व्याप्तिग्रह हो जाता है।

विश्वनाथ[3], केशव[4], अन्नम्भट्ट[5], प्रभृति नैयायिकोंने प्रायः गंगेशका ही अनुसरण किया है। संक्षेपमे न्यायदर्शनमें व्याप्तिग्रहके निम्न साधन वर्णित हैं—

(१) भूयः सहचारदर्शन
(२) व्यभिचारज्ञानविरह

---

१. इयं च प्रत्यक्षव्याप्तिग्रहसामग्री तदभावेऽपि शब्दानुमानाभ्यां व्याप्तिग्रहादिति संक्षेपः।
—वही, पृष्ठ ७०२।

२. अत्रोच्यते। व्यभिचारविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम्। ज्ञानं निश्चयः शंका च। सा च क्वचिदुपाधिसन्देहात् क्वचिद्विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद्विपक्षबाधकतर्कात्, क्वचित् स्वतः सिद्ध एव। तर्कस्य व्याप्तिग्रहमूलकत्वेनानवस्थेति चेत्। न। यावदाशंकं तर्कानुसरणात्। यत्र च व्याघातेन शंकैव नावतरति तत्र तर्कं विनैव व्याप्तिग्रहः।
—त० चि०, जागदीशी, व्याप्तिग्रहोपाय, पृ० १७८।

३. व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे, तर्कः क्वचिच्छंकानिवर्तकः॥
—सि० मु० का० १३७, पृष्ठ १२१, १२२।

४. ··इति तर्कसहकारिणाऽनुपलम्भसनाथेन प्रत्यक्षेणैवोपाध्यभावोऽवधार्यते। तथा च उपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते।
—तर्कभा० अनु० पृष्ठ ७६।

५. स्वयमेव भूयोदर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतः···।
—त० सं० पृष्ठ ५८।

(३) तर्क (विपक्षबाधक अथवा व्यभिचारशंकानिवर्तक प्रमाणप्रदर्शन)
(४) अनुपलम्भ (व्यतिरेक)
(५) भूयोदर्शनजनित संस्कार
(६) सामान्यलक्षणा
(७) शब्द और अनुमान

इनमें प्रथमके दो साधन प्रत्यक्ष-सम्बन्धी स्थलोंमें और शेष अन्यत्र व्यस्त या समस्त रूपमें यथायोग्य अपेक्षित हैं ।

व्याप्तिग्रहके उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्ष एवं तथ्य पर पहुँचते हैं कि निःसन्देह सार्वत्रिक और सार्वदिक व्याप्तिके ग्रहणकी एक समस्या रही है और सम्भवतः इसीसे चार्वाक, जयराशिभट्ट, श्रीहर्ष आदिने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया ।[1] पर यह समस्या ऐसी नहीं है, जिसका समाधान न हो । हम ऊपर देख चुके हैं कि सभी अनुमान-प्रमाणवादी दार्शनिकोंने उसे सुलझानेका प्रयास किया है । प्रशस्तपादने[2] अन्वय और व्यतिरेक द्वारा तथा धर्मकीर्तिने[3] तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति द्वारा व्याप्तिग्रहण प्रतिपादन किया है । अन्य सभी दार्शनिकोंने भूयोदर्शन या सहचारदर्शनरूप प्रत्यक्षको व्याप्तिग्राहक बतलाया है । सांख्यदर्शनमें विज्ञानभिक्षु[4] और न्यायदर्शनमें वाचस्पति[5] ये दो ऐसे तार्किक हैं जिन्होंने तर्कको भी व्याप्तिग्रहणकी सामग्रीमें सहायकरूपमें निविष्ट किया है । उनके बाद उदयनने[6] उसका विशेष समर्थन किया है । वर्द्धमानोपाध्याय[7] तो तर्कपर अधिक बल देते हुए यहां तक कहते हैं कि जो तर्कके बिना ही मात्र सहचारदर्शनसे व्याप्तिग्रह मानते हैं उनके अनुमानोंमें 'पक्षेतरत्व' उपाधिका होना अनिवार्य है, जिसका निवारण तर्कके बिना सम्भव नहीं है । पिछले सभी तार्किकोंने व्याप्तिग्रहको सामग्रीमें तर्कको विशेष स्थान दे कर उसे आवश्यक रूपमें मान लिया है ।

(ख) जैन विचारकोंका मत :

जैन विचारकोंने आरम्भसे ही तर्कको व्याप्तिका निश्चायक प्रतिपादन किया है । जैनागमोंमें अनुमानको अव्यवहित[8] पूर्ववर्ती सामग्रीके रूपमें 'चिन्ता' शब्दसे

---

१. प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० २।१, पृष्ठ १७७ ।
२. प्रश० भा० पृ० १०२ ।
३. प्रमाणवा० १।३० ।
४. सांख्यद० प्र० भा० ५।२९ ।
५. न्यायवा० ता० टी० १।१५, पृष्ठ १६६, १६७ ।
६. किरणा० पृष्ठ ३०१ ।
७. न्यायवा० ता० टी० परिशु० न्यायनिब० प्र० १।१५, पृष्ठ ७०१ ।
८. षट्खं० ५।५।४१, तथा त० सू० १।१३ ।

उसका निर्देश मिलता है। चिन्तन, ऊह, ऊहापोह और तर्क उसीके पर्याय हैं। अकलंकने[1] चिन्तन और तर्कको, विद्यानन्द[2], माणिक्यनन्दि[3], प्रभाचन्द्र[4], देवसूरि[5], और हेमचन्द्रने[6] तर्क, ऊह तथा ऊहापोहको चिन्ताका पर्याय प्रतिपादन किया है। भारतीय तार्किकोंमें जैन तार्किक अकलंक[7] ही ऐसे प्रथम तार्किक प्रतीत होते हैं जिन्होंने तर्कका व्याप्तिग्राहकरूपमें सर्वप्रथम समर्थन किया और उसका सबलताके साथ प्रामाण्य स्थापित किया है। यद्यपि गौतम अक्षपादने[8] तर्कको सोलह पदार्थोंमें परिगणित किया है, पर उन्होंने उसे मात्र तत्त्वज्ञानार्थ माना है और उनके व्याख्याकार वात्स्यायन[9] तथा उद्योतकरने[10] उसे जिज्ञासात्मक, प्रमाण-सहायक, प्रमाणानुग्राहक या संशय और निर्णयका मध्यवर्ती बतलाया है, उसे व्याप्ति-ग्राहक नहीं कहा। किन्तु अकलंकके बाद वाचस्पति, उदयन, वर्द्धमान आदि प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों और विज्ञानभिक्षु आदि दार्शनिकोंने उसे भी व्याप्तिग्राहक-सामग्रीमें स्थान दिया तथा व्याप्तिग्राहकरूपमें दृढतासे मान लिया है। पर उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया।

अकलंकने तर्कके प्रामाण्य, स्वरूप, विषय और क्षेत्रविस्तारका भी निर्धारण किया है। उन्होंने[11] उसे प्रमाण सिद्ध करते हुए युक्तिपूर्वक कहा कि उसे प्रमाण न मानने पर उससे उत्पन्न होने वाले लैंगिक (अनुमान) का प्रामाण्य भी असन्दिग्ध एवं निरापद नहीं रह सकेगा। दूसरे, प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह वह भी संवादी है, अतः उसे अवश्य प्रमाण मानना चाहिए। तर्कका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने[12]

---

१. 'चिन्तनं चिन्ता।'
 —तत्त्वा० वा० १।१३, पृष्ठ ५८।
 'चिन्तायाः तर्कस्य।'
 —लघी० स्वोप० वृ० १।२।१०, पृ० ५।

२. त० श्लो० १।१३, पृ० १८८, १९४, १९६।

३. प० मु० १।११, १६।

४. प्र० क० मा० १।११, १६।

५. प्र० न० त० ३।७।

६. प्र० मी० १।२।५, ११।

७. न्या० वि० का० ३२९, ३३०। लघीय का० १०, ११, ४९। प्र० सं० का० १२।

८. न्यायसू० १।१।४०।

९. न्या० भा० १।१।१। पृष्ठ ९, १।१।४०, पृ० ५४, ५५, ५६।

१०. न्या० वा० १।१।४०, पृ० १४१-१४२।

११. न्या० विनि० का० ३३०, ३३१, तथा लघी० का० ४९ और प्र० सं० स्वो० वृ० का० १२।

१२. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः। अन्यथासम्भवासिद्धेरनवस्थानुमानतः॥
 —प्रमाण सं० का० १२, अकलंकग्र० पृ० १००।

प्रतिपादन किया कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ पूर्वक जो 'उसके बिना वह सम्भव नहीं' इस प्रकारका सम्भव प्रत्यय (ज्ञान) होता है वह तर्क है। यहा 'प्रत्यक्ष' से उन्हें उपलम्भ (अन्वयज्ञान) अर्थ अभिप्रेत है तथा उपलम्भसे प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण विवक्षित हैं, क्योंकि प्रत्यक्षगम्य साध्य-साधनोंकी तरह अनुमेयादि साध्य-साधनोंमें भी व्याप्ति होती है। सूर्यमें गतिशक्ति गतिमत्वहेतुसे और गतिमत्व देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुसे अनुमित होता है। अकलंकके प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द यद्यपि प्रशस्तपादके अन्वय और व्यतिरेकके स्मारक हैं। पर उनमें अन्तर है। अकलंकके प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्द ज्ञान-परक हैं और प्रशस्तपादके अन्वय और व्यतिरेक ज्ञेयसूचक। यतः जैन दर्शनमें ज्ञानको ही ज्ञानका कारण माना गया है, ज्ञेयको नही। अत. अनुमानका उत्पादक तर्क और तर्कके उत्पादक प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ज्ञानात्मक हैं। तथ्य यह[1] कि व्याप्ति अविनाभाव (अर्थात् साध्य के अभावमें साधनका न होना और साध्यके सद्भावमें ही साधनका होना) रूप है और उसे तर्क ही ग्रहण कर सकता है, क्योंकि वह सर्वोपसंहारवती (अर्थात् जितना धूम है वह अन्य कालो और अन्य देशोंमें अग्निका ही कार्य है, अनग्निका नहीं, इस प्रकार सर्वदेश और सर्वकाल वर्तिनी) होती है। उसका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नही है[2], कारणकि प्रत्यक्ष सन्निहित और वर्तमानको ही जानता है, असन्निहित एवं अवर्तमान (अतीत-अनागत) को नही। अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ग्रहण असम्भव है, क्योकि व्याप्तिज्ञान हुए बिना अनुमानकी उत्पत्ति नही हो सकती। अन्य अनुमानसे व्याप्तिग्रहण मानने पर अनवस्था आती है। आगमादि प्रमाणोंका विषय भिन्न होनेसे उनके द्वारा भी व्याप्तिनिश्चय अशक्य है। अतः व्याप्तिज्ञानके लिए परोक्षात्मक तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार करना अनिवार्य है[3]।

---

१ सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः। अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥
सहदृष्टेश्च धर्मैस्तत्र विना तस्य सम्भवः। इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैंगिकम् ॥
तस्माद् वस्तुबलादेव प्रमाण ···।
—न्यायविनि० का० ३२९ ३३१, अ० ग्र० पृष्ठ ७४।

२. अविकल्पधिया लिंगं न किंचित्सम्प्रतीयते।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥
न हि प्रत्यक्ष 'यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्य' इतीयतः व्यापारान् कर्तुं समर्थं सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्। नाप्यनुमानान्तरम्, सर्वत्राविशेषात्। न हि साकल्येन लिंगस्य लिंगिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किंचिदनुमानं नाम।
—लघीय० स्वो० वृ० का० ११, १२, अ० ग्र० पृष्ठ ५।

३ व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः, साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशो।
लघीय० का० ४९, अ० ग्र०।

अकलङ्कके इस विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भपूर्वक सर्वदेश और सर्वकालके उपसंहाररूप अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करनेवाला ज्ञान तर्क है और वह प्रमाण है। इसमें प्रत्यक्ष[1], स्मरण और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान परम्परा सहायक हैं।

तर्कका क्षेत्र व्यापक और विशाल है। प्रत्यक्ष जहां सन्निहितको, अनुमान नियत देश-काल में विद्यमान अनुमेयको, उपमान सादृश्यको और आगम शब्दसंकेतादिपर निर्भरितको जानते हैं वहां तर्क सन्निहित-असन्निहित, नियत-अनियत देश-कालमें विद्यमान साध्य-साधनगत अविनाभावको विषय करता है। तात्पर्य यह कि तर्क केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य-साधनोंके अविनाभावको ही नहीं, अपितु अनुमेय एवं आगमगम्य साध्य-साधनोंके भी अविनाभावको उपलम्भ और अनुपलम्भके आधारसे अवगत करता है[2]।

परवर्ती विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति सभी जैन तार्किकोंने अकलंकदेवका अनुसरण करते हुए तर्क द्वारा ही व्याप्तिग्रहणका कथन किया है। विद्यानन्द कहते हैं कि प्रतिपत्ता[3] साध्य और साधनोंके व्याप्ति-सम्बन्धका जिस प्रत्यय (ज्ञान) द्वारा निश्चय करके अनुमानके लिए प्रवृत्त होता है वह तर्क है तथा व्याप्तिसम्बन्धमें संवादी होनेसे वह प्रमाण है। यदि वह संवादी न हो तो तदुत्पन्न अनुमान भी संवादी नहीं हो सकता। यतः अनुमान संवादी है अतः व्याप्ति-सम्बन्धग्राही तर्क भी अवश्य संवादी है। यदि उसके सम्वादमें सन्देह किया जाए तो अनुमाताको निःशंक अनुमिति नहीं हो सकती। अगर कहा

---

१. समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम्।
—प्रमाणस० स्वो० वृ० का० १२, अ० ग्र० पृष्ठ १००।

२. तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमाननिश्चयानिश्चयहेतुकसम्बन्धबोधस्यापि संप्रज्ञाता व्याप्तिः। यथा 'अस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टसुखादिसद्भावान्यथानुपपत्तेः', इत्यादौ, 'आदित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यादौ च। न खलु धर्मविशेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत्तुं शक्यः, नाप्यतोऽनुमानादन्यतः कुतश्चित्प्रमाणादादित्यस्य···इति।
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।११, पृ० ३४८।

३. येन हि प्रत्ययेन प्रतिपत्ता साध्यसाधनार्थाना व्याप्त्या सम्बन्धं निश्चित्यानुमानाय प्रवर्त्तते स तर्कः सम्बन्धे संवादात्प्रमाणमिति मन्यामहे···। न हि तर्कस्यानुमाननिबन्धने सम्बन्धे संवादाभावेऽनुमानस्य संवादः सम्भवी।···तर्कसंवादसन्देहे निःशंकानुमितिः क्व ते।··· गृहीतग्रहणात्तर्कोऽप्रमाणमिति चेन्न वै।··· प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां सम्बन्धो देशतो गतः। साध्यसाधनयोस्तर्कात्सामस्त्येनेति चिन्तितम्॥···प्रमाणमूह···प्रमाणं तर्क···साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे साक्षात्स्वार्थनिश्चायने फले साधकतमस्तर्कः···।
—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० १।१३।८४-११६।

जाए कि गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष परिच्छित्ति करनेके कारण वह अपूर्वार्थग्राही है। स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ द्वारा साध्य और साधनका सम्बन्ध एकदेशसे ही जाना जाता है और तर्कसे वह सामस्त्येन अवगत किया जाता है। दूसरी बात यह है कि समारोप-व्यवच्छेदक होनेसे भी तर्क प्रमाण है। अतः साध्य और साधनके सम्बन्ध (अविनाभाव) विषयक अज्ञानको दूर करने रूप फलमें साधकतम होनेसे तर्क प्रमाण है।

माणिक्यनन्दिने[1] अकलंक और विद्यानन्दका समर्थन करते हुए प्रतिपादित किया है कि व्याप्तिका निश्चय तर्कसे होता है जो उपलम्भ तथा अनुपलम्भपूर्वक होता है। उसका उन्होंने उदाहरण दिया है—जैसे अनलके होनेपर ही धूमका होना और अनलाभावमें धूमका न होना। इनकी विशेषता है कि इन्होंने[2] उस व्याप्तिसम्बन्ध—अविनाभावको सहभाव और क्रमभाव नियमरूप बतलाया है। सहचारियों (रूपरसादिको) और व्याप्य-व्यापकों (शिंशपात्व-वृक्षत्वादिकों) में सहभावनियम होता है तथा पूर्वचर-उत्तरचरों और कार्यकारणोंमें क्रमभावनियम। प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने धर्मकीर्ति द्वारा व्याप्तिस्थापकरूपमें प्रतिपादित तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धोंके स्थानमें सहभाव और क्रमभावनियमकी स्थापना करके उनके उक्त सम्बन्धोंको अव्याप्त बतलाया है। प्रकट है कि रूपरसादि सहचरों और शकटोदय-कृत्तिकोदयादि पूर्वोत्तरचरोंमें न तादात्म्य सम्भव है और न तदुत्पत्ति। पर उनमें अविनाभाव होनेसे गम्यगमकभाव माना गया है। प्रभाचन्द्रने भी अपनी व्याख्या द्वारा उनके प्रतिपादनकी सम्पुष्टि की है।

देवसूरिने[4] व्याप्तिसम्बन्धको त्रिकालवर्ती बतलाते हुए कहा है कि उसका ग्रहण सन्निहितग्राही प्रत्यक्षसे और नियतदेशग्राहक अनुमानसे सम्भव नहीं है। उसका ज्ञान एकमात्र तर्क (ऊह) से ही हो सकता है। उनका उदाहरण माणिक्यनन्दिके ही समान है।

---

१. प० मु० ३।१९, ११, १२, १३, १६, १७, १८।

२ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः। सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः। पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।

—प० मु० ३।१६, १७, १८।

३. प्रमेयक० मा० ३।१९, ११, १२, १३।

४. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन्सत्येव भवतीत्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः इति।...यथा यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति...।

—प्र० न० त० ३।७, ८ तथा इसकी टीका स्याद्वा० र० पृ० ५०४-५१५।

अनन्तवीर्यने[1] प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव अनुपलम्भ, कारणानुपलम्भ, व्यापकानुपलम्भ और प्रत्यक्षफल ऊहापोहविकल्पसे व्याप्तिग्रहकी सम्भावनाओंको भी निरस्त करके तर्कको ही व्याप्तिग्राहक सिद्ध किया है। उनका मन्तव्य है कि आगम संकेतद्वारा वस्तुको, उपमान सादृश्यको, अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थको और अभाव अभावको विषय करता है। इनमें सार्वत्रिक और सार्वदिक व्याप्तिको कोई ग्रहण नहीं करता। सबका विषय सर्वथा भिन्न-भिन्न है। अनुपलम्भ उपलम्भकी तरह प्रत्यक्षका विषय अथवा स्वयं प्रत्यक्ष है और कारणानुपलम्भ तथा व्यापकानुपलम्भ दोनों लिंगरूप होनेसे तज्जनित ज्ञान अनुमान है और प्रत्यक्ष एवं अनुमान व्याप्तिग्रहमें असमर्थ हैं। ऊहापोहविकल्पको, जिसे वैशेषिक प्रत्यक्षका फल मानते हैं, प्रत्यक्ष या अनुमानके अन्तर्गत माननेपर उनके द्वारा व्याप्तिग्रह असम्भव है। अतः उसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे पृथक् प्रमाण मानना ही उचित है। प्रत्यक्षका फल होनेसे उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैशेषिकोंने स्वयं विशेषणज्ञानको सन्निकर्षका फल होनेपर भी विशेष्यज्ञानरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण स्वीकार किया है। उसी तरह ऊहापोहविकल्प, जो तर्कसे भिन्न नहीं है, अनुमानज्ञानका कारण होनेसे प्रमाण माना जाना चाहिए।

हेमचन्द्रका[2] ऊहलक्षण और उसका व्याप्तिनिश्चायकत्व प्रतिपादन माणिक्यनन्दिके प्रतिपादनसे शब्दशः मिलता है। हाँ, उन्होंने माणिक्यनन्दि और देवसूरिकी तरह उदाहरणका प्रदर्शन नहीं किया, किन्तु बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति[3] अभिहित एवं अर्चट[4] द्वारा समर्थित व्याप्ति-लक्षण अवश्य संगृहीत किया है। वे लिखते हैं कि व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक दोनोंका धर्म है। जब व्यापक (गम्य)का धर्म व्याप्ति विवक्षित हो तब व्यापकका व्याप्यके होनेपर होना ही व्याप्ति है और जब व्याप्य (गमक) का धर्म व्याप्ति अभिप्रेत हो तब व्याप्यका व्यापकके होनेपर ही होना व्याप्ति है। इस प्रकार हेमचन्द्रने[5] व्याप्तिके दो रूप प्रदर्शित किये हैं। प्रथम रूपमें अयोगव्यवच्छेदरूपसे व्याप्तिकी प्रतीति होती है और दूसरेमें अन्ययोगव्यवच्छेदरूपसे। व्याप्तिके इन रूपोंको अन्य जैन तार्किकोंने प्रस्तुत नहीं किया।

---

१. प्र० रत्न० २-२, पृष्ठ ५७-६२।

२. हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।५, ६, १०।

३, ४. हेतुबिन्दुटी० पृ० १७, १८।

५. व्याप्तिर्व्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।...पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम्, उत्तरत्रान्ययोगव्यवच्छेदेनेति...।

—हेमचन्द्र, प्र० मी० १।२।६ तथा इसीकी व्याख्या।

पं० सुखलाल जी संघवीका[1] मत है कि धर्मकीर्ति और अर्चटसे प्रभावित होकर ही हेमचन्द्रने यह निरूपण अपनाया है।

धर्मभूषणने[2] भी व्याप्तिका प्रकाशक तर्कको ही माना है। उनका कहना है कि व्याप्ति सर्वोपसंहारवती होती है। अर्थात् 'जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है' इस उदाहरणमें धूमके होने पर अनेकबार अग्निकी उपलब्धि और अग्निके अभावमें धूमकी अनुपलब्धि पायी जानेपर 'सब जगह और सब कालमें धुआं अग्निका व्यभिचारी नहीं है—अग्निके होनेपर ही होता है और अग्निके अभाव में नहीं होता' इस प्रकारके सर्वदेश और सर्वकाल व्यापी व्यापारका नाम व्याप्ति है। उसका ग्रहण प्रत्यक्षादिसे सम्भव नहीं है। इन्द्रियप्रत्यक्ष नियत और वर्तमान ग्राही है। वह इतने लम्बे व्यापारको नहीं कर सकता। मानसप्रत्यक्ष यद्यपि उसे ग्रहण कर सकता है किन्तु वह ज्ञान विशदज्ञान है और उपर्युक्त सर्वोपसंहारी व्याप्ति-ज्ञान अविशद है। अतः उसे मानस प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता। अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि अनुमानकी उत्पत्ति स्वयं व्याप्ति-ज्ञानके अधीन है। अतः स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बारका हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करते है जो व्याप्तिके ग्रहण करनेमें समर्थ है और वह तर्क है।

योगिप्रत्यक्ष द्वारा[3] व्याप्तिग्रहणकी बात इसलिए निरर्थक है, क्योंकि योगी तो प्रत्यक्षसे ही समस्त साध्य-साधनोको जान लेता है, अतः उसे न व्याप्तिग्रहणकी आवश्यकता है और न अनुमानकी ही। व्याप्तिग्रहण और अनुमानकी आवश्यकता अल्पज्ञोंके लिए है। अतएव अल्पज्ञोंको व्याप्तिका अविशद किन्तु अविसंवादी ज्ञान करानेवाला तर्कप्रमाण ही है।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे[4] अग्नित्वेन समस्त अग्नियों और धूमत्वेन सकल धूमोंका ज्ञान हो सकता है, पर उनके व्याप्तिसम्बन्धका ज्ञान उससे सम्भव नहीं

---

१. पं० सुखलाल संघवी, प्र० मी० भाषाटि० पृष्ठ ७९।

२. व्याप्तिज्ञानं तर्कः।...स च तर्कस्ता व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति... यत्र यत्र धूमवत्वं तत्र तत्राग्निमत्वमिति...सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः।...प्रत्यक्षस्य सन्निहितदेश एव धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्।...अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसंभाव्यमेव।

—न्या० दी० पृ० ६२-६४।

३. (क) त० श्लो० १।१०।१५६, पृष्ठ १७९।

(ख) प्रमेयक० मा० ३।१३, पृ० ३५१।

(ग) जैनदर्शन, पृष्ठ १०७।

४. सि० मु० प्रत्यक्षखण्ड पृष्ठ ४९, तथा उक्त जैन दर्शन पृष्ठ १०७, द्वि० संस्करण।

है। अतः साध्य-साधनव्यक्तियोंका ज्ञान सामान्यलक्षणा द्वारा हो जानेपर भी 'धूम वह्निव्याप्य है, देशान्तर-कालान्तरमें वह्निके बिना नहीं होता' इस प्रकारका ज्ञान चिन्ता अथवा तर्क या ऊह द्वारा ही सम्भव है और वह संवादी होनेसे प्रमाण है। प्रमाणके विषयका परिशोधक या प्रमाणानुग्राहक माननेपर[1] भी उसे प्रमाण अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि अप्रमाणसे न तो प्रमाणविषयका परिशोधन ही हो सकता है और न प्रमाणोंका अनुग्रह। अन्यथा संशयादिसे भी वह हो जाना चाहिए।

निष्कर्ष

अनुमानप्रमाणके लिए आवश्यक साध्य-साधनोंके अविनाभाव (व्याप्ति)का निश्चय जैन तार्किक जिस तर्क द्वारा स्वीकार करते हैं वह भारतीय वाङ्मयमें अपरिचित नहीं है। ऋग्वेदमें[2] ऊह् धातुसे उसका उल्लेख है। पाणिनि व्याकरणसूत्रमें[3] भी ऊह् धातुसे उसका निर्देश है। स्वयं तर्क शब्द कठोपनिषद्[4] और रामायणके[5] अतिरिक्त जैनागमों,[6] पिटकों[7] और दर्शनसूत्रोंमें[8] उपलब्ध है। जैनागमोंमें[9] उसके लिए 'चिन्ता और ऊहा 'शब्द भी आये हैं, उनका सामान्य अर्थ एक ही है और वह है विचारात्मक ज्ञानव्यापार। उसी अथवा कुछ भिन्न भावका द्योतक ऊह शब्द जैमिनीयसूत्र और उसके शाबरभाष्य आदिमें[10] भी पाया जाता है।

---

१. प्रमेयक० मा० ३।१३, पृ० ३५२, ३५३।
२. ऋग्वेद २०।१११।१०।
३. 'उपसर्गाद्धस्व ऊहतेः।'
—पा० सू० ७।४।२३।
४. 'नैषा तर्केण मतिरपनेया।'
—कठो० २।९।
५. रामायण ३।२५।१२।
६. 'तक्का जत्थ न विज्जइ।
—आचा० सू० १७०।
७. 'विहिंसा वितक्कं।'
—मज्झि० सब्बासवसु० २।६।
८. 'तर्काप्रतिष्ठानात्।'
—ब्रह्मसू० २।१।११।
९. 'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि।'
—षट्खं० ५।५।४१।
ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा।
—वही ५।५।३८।
१०. त्रिविधश्च ऊहः।
—शाबरभा० ९।१।१।

न्यायसूत्रमें[1] तर्कको एक स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें माना गया है और उसके लक्षणके साथ ऊह शब्द भी प्रयुक्त है। परन्तु उसे न्यायसूत्रकारने न प्रमाण माना है और न व्याप्तिग्राहक। वाचस्पतिने[2] अवश्य उसे व्याप्तिज्ञानमें बाधक होनेवाली व्यभिचारशंकाको हटाकर व्याप्तिनिर्णयमें सहायता करनेवाला स्वीकार किया है, पर उसे प्रमाण उन्होंने भी नहीं माना। बौद्धतार्किक[3] भी तर्कात्मक विकल्पज्ञानको व्याप्तिज्ञानोपयोगी मानते हुए भी उसे प्रमाण नहीं मानते। इस तरह तर्कको प्रमाणरूप माननेकी मीमांसकपरम्परा और अप्रमाणरूप स्वीकार करनेकी नैयायिक तथा बौद्ध परम्परा है।

जैन परम्परामें प्रमाणरूपसे माने जानेवाले मतिज्ञानके एक भेदका नाम ऊहा है,[4] जो वस्तुतः गुण-दोषविचारणात्मक ज्ञान-व्यापार ही है। उसके लिए चिन्ता, ईहा, अपोहा, मीमांसा, गवेषणा, मार्गणा और तर्क ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं। अकलंकने[5] तर्कको सर्वप्रथम व्याप्तिग्राहक प्रतिपादनकर उसका प्रामाण्य एवं स्पष्टतया स्थापित किया है। उनके पश्चात् वाचस्पति आदि नैयायिकों और विज्ञानभिक्षु आदि दार्शनिकोंने उसे व्याप्ति-ग्राहक सामग्रीमें स्थान देकर भी उसका प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया। अकलंकका अनुसरण जैन परम्पराके परवर्ती सभी तार्किकोंने किया है। यों तो तत्त्वार्थसूत्रकार[6] उसका परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत 'चिन्ता' पदके द्वारा प्रतिपादन कर चुके थे। पर तार्किकरूपमें उसकी परोक्ष प्रमाणोंमें परिगणना सर्वप्रथम अकलंकने[7] की है। इस प्रकार जहाँ अन्य तार्किक व्याप्तिका ग्रहण मानसप्रत्यक्ष, भूयोदर्शन, व्यभिचाराग्रहसहित सहचारदर्शन, अन्वय-व्यतिरेक, सामान्यलक्षणा और तादात्म्य-तदुत्पत्ति सम्बन्धोंसे मानते हैं वहाँ जैन तार्किक एकमात्र तर्कसे स्वीकार करते तथा संवादी होनेसे उसे प्रमाण वर्णित करते हैं।

---

१. न्या० सू० १।१।४०।
२. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६६, १६७।
३. हेतुबि० टी० पृ० २४।
४. षट्ख० ५।५।३८।
५. व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयैकत्र दृष्टिः,
   साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः तत्कृतार्थैकदेशे।
   —लघीय० का० ४९, अ० प्र०। तथा न्या० विनि० का० ३२६, ३०।
६. त० सू० १।१३।
७. (क) 'परोक्षं शेषविज्ञानं।
   —लघीय० का० ३।
   (ख) 'परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि।'
   —प्र० सं० २, तथा लघीय० का० १०, २१, ६१।

(छ) व्याप्ति-भेद :

समव्याप्ति-विषमव्याप्ति :

तर्कग्रन्थोंमें व्याप्तिके अनेक प्रकारसे भेद उपलब्ध होते हैं। कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें[1] सम और विषमके भेदसे व्याप्तिके दो भेद मिलते हैं। जब व्याप्य व्यापकके देश और कालकी अपेक्षा सम देश-कालवृत्ति होता है तब उसे समव्याप्त और उसमें रहनेवाली व्याप्तिको समव्याप्ति कहा गया है[2] और जब वह व्यापकके देश-कालसे न्यून देश-कालवृत्ति होता है तब उसे विषमव्याप्त तथा उसमें विद्यमान व्याप्तिको विषमव्याप्ति प्रतिपादित किया गया है[3]। पर ध्यान रहे, व्यापक व्याप्यके सम और अधिक देश-कालवृत्ति होता है, व्याप्य नहीं; अतः व्याप्य तो व्यापकका गमक हो सकता है, पर व्यापक व्याप्यका नहीं। अतएव व्याप्यको ही गमक और व्यापकको ही गम्य माना गया है। व्याप्तिके इस द्विविध प्रकारका उल्लेख कुमारिलके परवर्ती जयन्तभट्ट[4], उदयन[5] और गंगेशने[6] भी किया है।

अन्वयव्याप्ति-व्यतिरेकव्याप्ति :

अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्तिके भेदसे भी व्याप्तिके दो भेद पाये जाते हैं। इन भेदोंका सर्वप्रथम संकेत प्रशस्तपादने[7] किया है, जिसका स्पष्टीकरण एवं समर्थन उदयने[8] किया है। जयन्तभट्ट[9], गंगेश,[10], केशवमिश्र[11], विश्वनाथ पंचा-

---

१, २, ३. यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत्।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽभ्यधिकोऽपि वा ॥
व्याप्यस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते।
तेन व्याप्ये गृहीतेऽर्थे व्यापकस्तस्य गृह्यते।
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः ॥
—मी० श्लो० अनुमा० परि० श्लो० ५, ४, ६ पृष्ठ ३४८।

४. न्यायम० पृ० १४०।

५. न्यायवा० ता० परि० १।१।५, पृष्ठ ७०५।

६. त० चि० उपाधिवाद पृ० ३१६, ३१७, ३१६, ३४५।

७. प्रश० भाष्य पृष्ठ १०२।

८. तदनेनान्वयव्यतिरेकौ एव भूयोदर्शनसहचारिणौ तद्ग्रहणोपाय इति दर्शितम्। अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां प्रथमदर्शने एव व्याप्तिर्गृह्यते।
—किरणा० पृ० २६५।

९. व्याख्यातः प्रतिबन्धश्च व्यतिरेकान्वयात्मकः।
—न्यायमं० पृ० ११६।

१०. अन्वयव्याप्त्यभिधायकावयव ···व्यतिरेकव्याप्त्यभिधायकपद···।
—त० चि० पृष्ठ ७३५, ५८९-५९३।

११. तर्कभा० पृ० ८०,८१।

भट्ट[1] और अन्नम्भट्ट[2] प्रभृति नैयायिकों द्वारा यही व्याप्ति-द्वैविध्य अधिक आदृत हुआ है। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्त्ति, अर्चट आदिने भी इसी व्याप्तिद्वैविध्यका उल्लेख किया है[3]। साध्य-साधनके भावात्मक रूपको अन्वयव्याप्ति और उनके अभावात्मक रूपको व्यतिरेकव्याप्ति कहा गया है। इन्हींको साधर्म्यव्याप्ति और वैधर्म्यव्याप्ति नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

जैन तार्किकोंने[4] इन्हें क्रमशः तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति संज्ञाओंसे प्रतिपादित किया है। साध्यके होने पर ही साधनका होना तथोपपत्ति है और साध्यके न होनेपर साधनका न होना अन्यथानुपपत्ति है। यथा—वह्निके होनेपर ही धूमका होना और वह्निके न होनेपर धूमका न होना। यथार्थमें उनके मतसे ये व्याप्तिके दो भेद नहीं हैं—व्याप्ति तो एक ही प्रकारकी है। किन्तु उसका प्रदर्शन या प्रयोग दो तरहसे होता है—तथोपपत्तिरूपसे अथवा अन्यथानुपपत्तिरूपसे। यही कारण है कि इन दो प्रयोगोंमेंसे अन्यतर प्रयोगको ही पर्याप्त माना गया है[5]। माणिक्यनन्दिने[6] व्याप्तिके आधार सहभावी और क्रमभावी पदार्थ होनेसे व्याप्तिके सहभावनियम और क्रमभावनियमरूपसे द्वैविध्यका वर्णन किया है। इसका समर्थन अभिनवचारुकीर्तिने[7] भी किया है।

---

१. द्वैविध्य भवेद्व्याप्तरन्वयव्यतिरेकतः।
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते॥
—सि० मु० का० १४२, पृ० १२५।

२. यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसमित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति यथा ह्रद इति व्यतिरेकव्याप्तिः।
—तर्कसं० पृष्ठ ६२।

३. "अन्वयो व्यतिरेको वा उक्तः" वेदितव्य इति सम्बन्धः। अन्वयव्यतिरेकरूपत्वाद् व्याप्तेरिति भावः।
—हेतुबिन्दु तथा उसकी टीका पृ० १६।

४ सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिरिति। असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति।
—देवसूरि, प्रमाणनयतत्त्वा० ३।३०, ३१।

५. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।
—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।९४। हेमचन्द्र, प्रमाणमी० २।१।५६।

६. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।
—परीक्षामु० ३।१६।

७. प्रमेयरत्नालंकार ३।१६, पृ० १०६।

व्याप्तिके उपर्युक्त भेदोंके अतिरिक्त जैन तर्कग्रन्थोंमें[1] उसके तीन भेदोंका भी प्रतिपादन है। वे हैं—(१) बहिर्व्याप्ति, (२) सकलव्याप्ति और (३) अन्तर्व्याप्ति। सपक्षमें साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति है और पक्ष तथा सपक्ष दोनोंमें साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति होना सकलव्याप्ति है। पक्ष-सपक्ष न हों अथवा उनमें हेतु न रहे—केवल साध्यके साथ साधनका अविनाभाव होना अन्तर्व्याप्ति है[2]। इन त्रिविध व्याप्तियोंमें आद्य दोनों व्याप्तियोंके न होनेपर भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलसे जैन तार्किकोंने साधनको साध्यका गमक माना है[3]। यदि अन्तर्व्याप्ति न हो तो अन्य दोनों व्याप्तियाँ निरर्थक हैं। 'स श्यामः तत्पुत्रत्वात्, इतरतत्पुत्रवत्' इस अनुमानमें बहिर्व्याप्ति और सकलव्याप्ति दोनों हैं, पर अन्तर्व्याप्तिके न होनेसे 'तत्पुत्रत्व' हेतु 'श्यामत्व' साध्यका साधक नहीं है। इसी प्रकार 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इस अनुमानमें न बहिर्व्याप्ति है और न सकलव्याप्ति। किन्तु साधनकी साध्यके साथ अन्तर्व्याप्ति होनेसे 'कृत्तिकोदय' हेतु शकटोदयका गमक

---

१. 'सा च त्रिधा—बहिर्व्याप्तिः', साकल्यव्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिश्चेति। ···
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।१५, पृ० ३६४। अकलंक, सिद्धिवि० ५।१५, १६, प्रमाणसं० ३२, ३३, पृ० १०६। देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८, ३९। यशोविजय, जैन तर्कभा० पृ० १२।

२. (क) पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः, अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिरिति।···बहिः पक्षीकृताद्विषयादन्यत्र तु दृष्टान्तधर्मिणि तस्य तेन व्याप्तिर्बहिर्व्याप्तिरभिधीयते।
—देवसूरि, प्रमाणनयत० ३।३१।

(ख) पक्षे सपक्षे च सर्वत्र साध्यसाधनयोः व्याप्तिः सकलव्याप्तिः।
—सि० वि० टी० टिप्प० ५।१६, पृष्ठ ३४७।

(ग) पक्ष एव साधनस्य साध्येन व्याप्तिः अन्तर्व्याप्तिः।
—वही, पृ० ३४६।

३. (क) अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धौ बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात्तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥
—सिद्धसेन, न्यायाव० का० २०।

(ख) विनाशी भाव इति वा हेतुनैव प्रसिद्ध्यति।
अन्तर्व्याप्तावसिद्धायां बहिर्व्याप्तिरसाधनम्।
साकल्येन कथं व्याप्तिरन्तर्व्याप्त्या विना भवेत्।
—अकलंक, सि० वि० ५।१५, १६, पृ० ३४५-३४७। प्रमाणसं० ३२-३३।

(ग) अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् इति
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।३८, पृ० ५९१।

है। अतएव सिद्धसेन[1], अकलंक[2], विद्यानन्द[3], वादीभसिंह[4], देवसूरि[5] आदि जैन विचारकोंने यथार्थमें अन्तर्व्याप्तिको ही व्याप्ति और उसे ही साध्यसाधक माना है तथा अन्य दोनोंको उसके बिना न व्याप्ति कहा है और न उन्हें साध्यका गमक ही बतलाया है। यशोविजयने[6] बहिर्व्याप्तिसे सहचारमात्रताका लाभ और अन्तर्व्याप्ति-को हेतुका अव्यभिचारि लक्षण बतलाते हुए भी व्याप्तिभेदको नहीं माना।

---

१. न्यायाव० का० २०।

२. सिद्धिवि० ५।१५, १६ तथा प्रमाणसं० का० ३२, ३३, पृ० १०६।

३. त० श्लो० १।१३।१५५–१५९, १७५, १८७।

४. किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः ॥
तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते।
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः ॥
अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी।
तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता ॥
सा च हेतोः स्वरूपं तत् अन्तर्व्याप्तिश्च विद्धि नः।
—स्या० सि० ४।८२–८४, ४।७८, ७६।

५. प्र० न० त० ३।३८, पृष्ठ ५६२।

६. जैनतर्कभा० पृष्ठ १२।

अध्याय : ४ :

प्रथम परिच्छेद

अवयव-विमर्श

अवयवोंका विकासक्रम :

अनुमानके सर्वाङ्गीण विचारके हेतु अवयवोंका विवेचन आवश्यक है। जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानके अवयवोंका सर्वप्रथम संकेत हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें मिलता है। गृद्धपिच्छने अनुमानका उल्लेख अनुमानशब्द द्वारा नहीं किया। न उन्होंने अवयवोंका निर्देश भी अवयवरूपमें किया है। पर उनके द्वारा सूत्रोंमें प्रतिपादित आत्माके ऊर्ध्वगमन-सिद्धान्तसे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव फलित होते हैं। सूत्रकारने मुक्तजीवके ऊर्ध्वगमनकी सिद्धि तर्क-पुरस्सर करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

(१) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।

(२) पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च।

(३) आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।[1]

इन सूत्रोंमें ऊर्ध्वगमनरूप प्रतिज्ञा (पक्ष), 'पूर्वप्रयोगात्', 'असङ्गत्वात्', 'बन्धच्छेदात्' और 'तथागतिपरिणामात्' ये चार हेतु तथा इन चार हेतुओंके समर्थनके लिए क्रमशः 'आविद्धकुलालचक्रवत्', 'व्यपगतलेपालाबुवत्', 'एरण्ड-बीजवत्' और 'अग्निशिखावत्' ये चार दृष्टान्त प्रयुक्त हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार्य गृद्धपिच्छने अनुमानके तीन अवयवोंका यहाँ संकेत किया है।

---

१. त० सू० १०।५, ६, ७।

हमारे उक्त कथनकी सम्पुष्टि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिसे भी होती है। उसमें उक्त सूत्रोंकी व्याख्या देते हुए उन्होंने[1] बताया है कि हेतुके कथन किये बिना ऊर्ध्वगमन (प्रतिज्ञा)का निश्चय नहीं हो सकता। तथा पुष्कल हेतुओंका प्रयोग होनेपर भी वे दृष्टान्तके समर्थन बिना अभिप्रेतार्थकी सिद्धि करनेमें असमर्थ हैं। अतएव सूत्रकारने प्रतिज्ञा (ऊर्ध्वगमन)को सिद्ध करनेके लिए हेतु और दृष्टान्त प्रतिपादित किये हैं।

पूज्यपादके उक्त व्याख्यानसे निम्नलिखित निष्कर्ष निःसृत होते हैं :—

(१) गृद्धपिच्छने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तका शब्दविषया कथन भले ही न किया हो, पर अपने अभिप्रेत अर्थको सिद्ध करनेके लिए उनका अर्थतः निर्देश अवश्य किया है।

(२) पूज्यपादने सूत्रकारके कथनका समर्थन न्यायसरणिका अनुसरण करके किया है। अतः नामतः निर्देश न होनेपर भी सूत्रकार अवयवत्रयसे परिचित थे। यतः व्याख्याकार या भाष्यकार अपने युगके विचारोंके आलोकमें प्राचीन तथ्योंके स्पष्टीकरणके साथ नवीन तथ्योंको प्रस्तुत करता है। अतः प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तके स्पष्टीकरणको हम पूज्यपादकी विचारधारा नहीं मान सकते। पूज्यपादने गृद्धपिच्छकी मान्यताका ही स्फोटन कर उक्त अवयवत्रयकी उनकी मान्यताको अंकित किया है।

(३) गृद्धपिच्छके अवयवत्रयके संकेतको पूज्यपादने तर्क (अनुमान)का रूप दिया है। यही कारण है कि उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनके औचित्यका समर्थन किया है।

(४) जैन नैयायिकोंके अवयव-विचारका सूत्रपात संकेतरूपसे तत्त्वार्थसूत्र-में मिल जाता है। अतएव अवयवोंकी स्थापनाका मूल श्रेय जैन तर्कशास्त्रमें आ० गृद्धपिच्छको प्राप्त है।

ऐतिहासिक क्रमानुसार गृद्धपिच्छके अनन्तर स्वामी समन्तभद्रका स्थान आता है। समन्तभद्रने भी गृद्धपिच्छके समान उक्त अवयवत्रयका नामतः उल्लेख किये बिना अनुमेयकी सिद्धि प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीनों अवयवोंसे की है। किन्तु समन्तभद्रकी विशेषता यह है कि उन्होंने अनुमेय-सिद्धि पुष्ट तर्कके आलोक-में की है। जहाँ आ० गृद्धपिच्छ बार-बार हेतु और बार-बार दृष्टान्त उपस्थित कर साध्यकी सिद्धि करते हैं वहाँ आ० समन्तभद्र एक पुष्ट प्रतिज्ञा और उसकी

---

१. अनुपदिष्टहेतुकमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते—
आह—हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति; उच्यते—
—स० सि० १०।६, ७ की उत्थानिकाएँ।

सिद्धिके लिए एक-एक ही पुष्ट हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त करते हुए मिलते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि समन्तभद्रने प्रतिज्ञा,[1] हेतु[2] और दृष्टान्त[3] इन तीनों-का शब्दतः भी प्रयोग किया है, जो उनके ग्रन्थोंमें विशकलित उपलब्ध होते हैं। किन्तु गृद्धपिच्छने उनका विशकलित प्रयोग भी नहीं किया।

दोनों आचार्योंकी प्रतिपादनशैलीका अध्ययन करनेपर निम्न लिखित तथ्य प्रस्फुटित होते हैं :—

१. समन्तभद्रके समय तक तर्कशैली विकसित हो चुकी थी, अतः वे अपने अभिप्रेतकी सिद्धिके लिए उक्त तीनों अवयवोंका तो व्यवहार करते ही हैं, पर साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्तभेदोंका भी उपयोग करते हैं।

२. न्यायसरणिसे अवयवोंका सूक्ष्म और विशद विचार समन्तभद्रसे आरम्भ होता है। समन्तभद्रने अविनाभाव, सधर्मा, साधर्म्य, वैधर्म्य, साध्य, साधन, प्रतिज्ञा, हेतु, अहेतु, प्रतिज्ञादोष, हेतुदोष जैसे तर्कशास्त्रीय शब्दोंका प्रयोग कर अवयवोपयोगी नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। अतः स्पष्ट है कि गृद्धपिच्छने जिन अवयवोंका मात्र संकेत किया था उन्हें तर्क (अनुमान)का रूप समन्तभद्रने दिया है।

३. समन्तभद्र सर्वज्ञ, अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे दार्शनिक प्रमेयोंको अनुमानकी कसौटी पर रखकर उक्त तीन अवयवोंसे उन्हें सिद्ध करते हैं। पर गृद्धपिच्छने इन प्रमेयोंपर अनुमानसे कोई विचार नहीं किया।

हम यहाँ अपने कथनकी पुष्टिके लिए समन्तभद्रके उक्त अवयवत्रयके प्रदर्शक कुछ उद्धरण उदाहरणार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(क) सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः॥

(ख) अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया॥

(ग) नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया॥

(घ) विधेय-प्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया॥[4]

१., २. न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञा-हेतुदोषतः।
—आप्तमी० का० ८०। युक्त्यनु० का० ११, १३, ४४।

३. नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते।...दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे...।
—स्वयम्भू० श्रेयांजिन० ५२, ५४।

४. आप्तमी० का० ५, १७, १८, १९।

इन चारों उद्धरणोंमें समन्तभद्रने गृद्धपिच्छसे अधिक विकसित अनुमानप्रणालीको प्रस्तुत कर उसके तीन अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) से अनुमेयकी सिद्धि की है। अतः प्रकट है कि उन्हें ये तीन अवयव मान्य रहे हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपरसे यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्होंने उक्त तीन अवयवोंका प्रयोग किस प्रकारके प्रतिपाद्य (विनेय) की अपेक्षासे किया है—व्युत्पन्न या अव्युत्पन्न ? प्रकरणके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि उनका उक्त कथन प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे हुआ है। आ० गृद्धपिच्छका भी निरूपण अविशेष रूपसे ही हुआ है।

जैन न्यायके विकासक्रममें समन्तभद्रके पश्चात् न्यायावतारकार सिद्धसेनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। सिद्धसेनने[1] न्यायावतारमें पक्षादि वचनको परार्थानुमान कहकर उसके पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंका स्पष्टतः निर्देश किया है तथा प्रत्येकका स्वरूप-विवेचन भी किया है। 'पक्षादि वचन' के प्रयोगसे सकेतित होता है कि न्यायावतारके पूर्व उक्त तीन अवयवोंकी मान्यताकी पूर्णतया प्रतिष्ठा हो चुकी थी। यतः 'आदि' शब्द द्वारा संगृह्यमाण तथ्योंका अध्याहार तभी किया जाता है जब वे सर्वमान्यरूपमे प्रसिद्ध एवं प्रचलित हो जाते हैं और वक्ता जिन्हें अभिप्रायमें रखता है। हम लोकमें देखते हैं कि जानेवाले व्यक्तियोंमें राम, श्याम आदिका कथन करने पर 'आदि' शब्द राम, श्यामके महत्त्वको तो प्रकट करता ही है, पर संगृह्यमाणोंको भी सामान्यतया प्रतिपादित करता है। अतएव यह निष्कर्ष निकालना दूरकी कड़ी मिलाना नहीं होगा कि सिद्धसेनने 'पक्षादि' शब्दके प्रयोगद्वारा त्रिरवयवकी प्रसिद्ध मान्यता[2] एवं सर्वबोधगम्यताको व्यक्त किया है।

जैन तार्किकोंमें सिद्धसेन ही प्रथम तार्किक हैं, जिन्होंने उक्त तीन अवयवोंके निरूपणमें प्रतिज्ञाके स्थानमें 'पक्ष' शब्दका प्रयोग किया है। भारतीय तर्कशास्त्रके प्रकाशमें 'पक्ष' शब्दके इतिहासको देखनेसे ज्ञात होता है कि प्रतिज्ञाके स्थानमें 'पक्ष' का प्रयोग सर्वप्रथम दिङ्नाग या उनके शिष्य शंकरस्वामीने[3] किया है। और सम्भवतः उनका अनुकरण सिद्धसेनने किया होगा।

सिद्धसेनके उक्त अवयवसम्बन्धी स्पष्ट प्रतिपादनसे उनका महत्त्व निम्न लिखित कारणोंसे बढ़ जाता है—

---

१. साध्याविनाभुवो हेतोर्वचो यत्प्रतिपादकम्।
परार्थानुमानं तत् पक्षादिवचनात्मकम्॥
—न्यायाव० का० १३। तथा १४, १७, १८ और १९ भी देखिए।

२, ३. पक्षादिवचनानि साधनम्। पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते।...एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।
—न्या० प्र० पृ० १, २।

१. उन्होंने इन अवयवोंका परिभाषाओं सहित विवेचन किया है, जो उनके पूर्व जैन तर्कशास्त्रमें उपलब्ध नहीं है।

२. प्रतिज्ञाके स्थानमें उन्होंने पक्षको रखा है और जिससे निम्न दो नये तथ्य सामने आते हैं—

(अ) गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और पूज्यपाद द्वारा अर्थतः या शब्दतः प्रतिपादित प्रतिज्ञा प्रायः पक्षके पूरे अर्थका स्पष्टीकरण करनेमें असमर्थ है, अतः सिद्धसेनने उसके स्थानमें 'पक्ष' शब्दको देकर उसकी व्याख्याद्वारा प्रतिज्ञाका स्वीकरण निर्दिष्ट किया है।

(आ) सिद्धान्तयुगमें प्रतिज्ञाशब्दका प्रयोग स्वयं सिद्धियोंकी स्वीकृतिके लिए भी होता था; अतः प्रतिज्ञासे सिद्धान्त और तर्क दोनों रूपोंका बोध किया जाता है। पर पक्षशब्दने स्वयं सिद्धियोंसे हटाकर तर्कके क्षेत्रमें विचारविनिमयको आबद्ध कर तर्कप्रणालीको पुष्ट किया एवं प्रश्रय दिया। सम्भवतः सिद्धसेनका प्रतिज्ञाके स्थानमें पक्षशब्दको रखनेका यही आशय रहा होगा।

प्रतिपाद्योंकी दृष्टिसे अवयव प्रयोग :

सिद्धसेन तक जैन चिन्तकोंने प्रतिपाद्यविशेषकी अपेक्षासे अवयवोंका विचार नहीं किया। केवल सामान्य प्राश्निकोंको लक्ष्यमें रखकर उनका प्रयोग किया है। किन्तु आगे चल कर प्रतिपाद्योंको दो वर्गोंमें विभक्त कर उनकी दृष्टिसे अवयवोंका प्रयोग स्वीकार किया गया है। प्रतिपाद्य दो प्रकारके हैं—(१) व्युत्पन्न और (२) अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे हैं जो संक्षेप या संकेतमें वस्तुस्वरूपको समझ सकते हैं और जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश है। अव्युत्पन्न वे प्रतिपाद्य हैं जो अल्पप्रज्ञ हैं, जिन्हें विस्तारसे समझाना आवश्यक होता है और जिनके हृदयमें तर्कका प्रवेश कम रहता है।

अकलङ्कदेवने अवयवोंकी समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवोंका समर्थन किया है। उनका अभिमत है कि कुछ अनुमान ऐसे भी हैं, जिनमें दृष्टान्त नहीं मिलता। पर वे उक्त दो अवयवोंके सद्भावसे समीचीन माने जाते हैं। वे पक्ष और हेतुकी समीक्षा न कर केवल दृष्टान्तकी मान्यताका आलोचन करते हुए कहते हैं[1] कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नहीं है। अन्यथा 'सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इस अनुमानमें दृष्टान्तका अभाव होनेसे क्षणिकत्व सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतएव अकलङ्कके विचारसे किन्हीं प्रतिपाद्योंके लिए या कहीं पक्ष

---

१. सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः॥
—न्या० वि० का० ३८१, अकलङ्क०।

और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त हैं। दृष्टान्त किसी प्रतिपाद्यविशेष अथवा स्थल विशेषकी अपेक्षा ग्राह्य है, सर्वत्र नहीं।

आ० विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षा[1] और पत्रपरीक्षामें[2] कुमारनन्दि भट्टारकके वादन्यायके, जो आज अनुपलब्ध है, कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें बताया गया है कि परार्थानुमानके अवयवोंके प्रयोगकी व्यवस्था प्रतिपाद्योंके अनुसार की जानी चाहिए।

कुमारनन्दिने अवयवव्यवस्थामें एक नया मोड़ उपस्थित किया। इस मोड़को हम विकासात्मक कह सकते हैं। उन्होंने अवयवोंके प्रयोगको 'प्रतिपाद्यानुरोधतः' (प्रतिपाद्यानुसार) कह कर स्पष्टतया नयी दिशा प्रदान की है। लिखा है कि जिस प्रकार विद्वानोंने प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे प्रतिज्ञाको कहा है उसी प्रकार उनकी दृष्टिसे उन्होंने उदाहरणादिको भी बतलाया है।[3]

विद्यानन्दने प्रायः कुमारनन्दिके शब्दोंको ही दोहराते और उनके आशयको स्पष्ट करते हुए कहा है कि परानुग्रहप्रवृत्त आचार्योंने प्रयोगपरिपाटी प्रतिपाद्यों-के अनुसार स्वीकार की है। यथा—

(क) प्रयोगपरिपाट्याः प्रतिपाद्यानुरोधतः परानुग्रहप्रवृत्तैरभ्युपगमात्।[4]

(ख) बोध्यानुरोधमात्रात्तु शेषावयवदर्शनात्।[5]

विद्यानन्दके इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि पक्ष और हेतु ये दो अवयव व्युत्पन्नों और शेष (दृष्टान्तादि) अवयव बोध्योंके अनुरोधसे प्रदर्शित हैं। तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिकमें उन्होंने[6] सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न ये तीन प्रकारके बोध्य (प्रतिपाद्य) बतलाये हैं तथा उनके बोधार्थ सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न रूप साध्य (पक्ष) का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। पत्रपरीक्षामें पत्रलक्षणके प्रसङ्गमें

---

१. तथा चाभ्यधायि कुमारनन्दिभट्टारकैः—
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते।
प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥
—प्र० प० पृ० ७२।

२. तथैव हि कुमारनन्दिभट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्तदाह—
प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा। प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमंग्यते। प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः॥
—प्र० प० पृ० ३।

३. पत्रप० पृ० ३ तथा उपर्युक्त १ व २ नंबरका फुटनोट।

४. प्र० प० पृ० ७२।

५. प० प० पृ० १७।

६. त० श्लो० १।१३।३५३-३६१, पृ० २१५।

विद्यानन्दने[1] विशेष (व्युत्पन्न) प्रतिपाद्यकी अपेक्षासे पक्ष और हेतु इन दो अवयवोंके प्रयोगका स्पष्ट निर्देश किया है।

माणिक्यनन्दि[2], प्रभाचन्द्र[3], देवसूरि[4] और हेमचन्द्र[5] भी अकलङ्क और विद्यानन्दका अनुगमन करते हैं। इन सभीने लिखा है कि साध्यधर्मके आधारका निर्णय और साधनके आश्रयका उद्‌घोषण करनेके लिए पक्षका प्रयोग आवश्यक है।[6] उसके अभावमें व्युत्पन्नोंको भी साध्यधर्माधारमें सन्देह हो सकता है। अतः उसे दूर करनेके लिए पक्षका प्रयोग करना चाहिए। दूसरे, त्रिरूप हेतुको कह कर उसका समर्थन करने पर तो पक्षका स्वीकार अनिवार्य है, क्योंकि पक्षके बिना समर्थन—असिद्धादि दोष परिहार नहीं हो सकता। इसी प्रकार साध्यसिद्धिके लिए तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुका प्रयोग भी अत्यन्त आवश्यक है। उसके अभावमें अभिप्रेतकी सिद्धि सम्भव नहीं। इस प्रकार पक्ष और हेतु ये दो ही परार्थानुमानके अवयव हैं। इन दोके द्वारा ही व्युत्पन्न प्रतिपाद्यको अनुमेयका ज्ञान हो सकता है।

उनके लिए दृष्टान्तादिकी अनावश्यकता बतलाते हुए माणिक्यनन्दिने[7] सयुक्तिक प्रतिपादन किया है कि दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंका स्वीकार शास्त्र (वीतराग कथा) में ही है, वाद (विजिगीषु कथा) में नहीं, क्योंकि वाद करने वाले व्युत्पन्न होते हैं और व्युत्पन्नोंको दृष्टान्तादिकी आवश्यकता ही नहीं। वे[8] कहते हैं कि दृष्टान्त न साध्यज्ञानके लिए आवश्यक है और न अविनाभावके निश्चयके लिए; क्योंकि साध्यका ज्ञान निश्चित साध्याविनाभावी हेतुके प्रयोगसे होता है और अविनाभावका निश्चय विपक्षमें बाधक रहनेसे होता है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त व्यक्तिरूप होता है और अविनाभाव (व्याप्ति)

---

१. साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः साधनस्य च। वचः प्रयुज्यते पत्रे विशेषाश्रयतो यथा।। साध्यनिर्देशसहितस्यैव हेतोः प्रयोगार्हत्वसमर्थनात्।

—प० प० पृ० ९।

२, ३. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।

—प० मु० ३।३७। प्रमेयक० मा० ३।३७

४. पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम्।

—प्र० न० त० ३।२८।

५. एतावान् प्रेक्षप्रयोगः।

—प्र० मी० २।१।९, पृ० ५२।

६. साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्। को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।

—प० मु० ३।३४, ३६। प्र० न० त० ३।२४, २५। प्र० मी० २।१।८।

७, ८. प० मु० ३।४६, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४।

सामान्यरूप। यदि दृष्टान्तगत अविनाभावमें भी सन्देह हो जाये तो उसके निराकरणके लिए दूसरे दृष्टान्तको और दूसरे दृष्टान्तमें तीसरे आदिकी अपेक्षा होगी, जिससे अनवस्था दोष आयेगा। व्याप्तिस्मरणके लिए भी उदाहरण आवश्यक नहीं है, क्योंकि व्याप्तिका स्मरण साध्याविनाभावी हेतुके प्रयोगसे ही हो जाता है। माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार चारुकीर्ति कहते हैं कि उदाहरणका प्रयोग उल्टा साध्यधर्मी (पक्ष) में साध्य और साधनके सद्भावको सन्दिग्ध बना देता है।[1] यही कारण है कि उपनय और निगमनका प्रयोग उक्त सन्देहकी स्थितिको दूर करनेके लिए होता है। यदि कहा जाय[2] कि उपनय साधनके सन्देह और निगमन साध्यके सन्देहकी निवृत्तिके लिए प्रयुक्त नहीं किये जाते, अपितु हेतुमें पक्षवृत्तिताका प्रतिपादन करनेके लिए उपनयको तथा अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्वका कथन करनेके लिए निगमनको कहा जाता है तो यह भी ठीक नहीं है,[3] यतः अविनाभावी हेतु और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध साध्यके प्रयोगसे ही हेतुमें पक्षवृतित्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व तीनोंका निश्चय हो जाता है। अतएव उपनय और निगमन अनुमानके अंग नहीं हैं। फिर भी यदि उन्हें अनुमानांग माना जाय तो उससे युक्त यह है कि समर्थन अथवा हेतुरूप अनुमानके अवयवको ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि साध्यसिद्धिमें उसका प्रयोग परमावश्यक है। स्पष्ट है कि जब तक असिद्धादि दोषोंका परिहार करके साध्यके साथ साधनका अविनाभावप्रदर्शनरूप समर्थन या अत्यन्त आवश्यक हेतुका प्रयोग नहीं किया जाएगा तबतक दृष्टान्तादि साध्यसिद्धिमें केवल अनुपयोगी ही न रहेंगे, बल्कि निरर्थक भी होंगे। अतः व्युत्पन्न प्रतिपाद्यके लिए पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव अनुमेयके ज्ञान (अनुमान) में आवश्यक हैं।

प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण आदिने माणिक्यनन्दिका ही समर्थन किया है।

तुलनात्मक अवयव-विचार :

यहाँ तुलनात्मक अवयव-विचार प्रस्तुत किया जाता है, जो ज्ञातव्य है।

---

१. उदाहरणेन महानसे साध्यसाधननिश्चयजननेऽपि पक्षे तयोर्निश्चयाजननात्।
—चारुकीर्ति, प्रमेयरत्ना० ३।४२।

२. ननु पक्षे हेतुसाध्ययोस्संशयनिरासार्थं नोपनयनिगमनयोः प्रयोगः। किन्तूपनयस्य हेतौ पक्षधर्मत्वप्रतिपादनार्थं निगमनस्य चाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षत्वप्रतिपादनार्थं। अत एव तयोरप्यनुमानांगत्वमावश्यकम्।
—वही, ३।४४ की उत्थानिका।

३. पक्षधर्मत्वस्य हेतुवाक्यादेव लाभात्। अबाधितत्वस्य हेतौ साध्यविशिष्टपक्षवृत्तित्वरूपतयाऽसत्प्रतिपक्षत्वस्य च साध्याभावव्याप्याभावविशिष्टपक्षवृत्तित्वरूपत्वेन तयोरपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव सिद्धेः।
—वही, ३।४४, पृ० ११६।

न्याय और वैशेषिक तार्किकोंने पंचावयवके प्रतिपादक वचनोंको परार्थानुमान स्वीकार किया है। पर ज्ञानको प्रमाण मानने वाले जैन[1] और बौद्ध[2] विचारकोंने वचनको उपचारसे परार्थानुमान कहा है। उनका अभिमत है कि वक्ताके स्वार्थानुमानके विषय (साध्य और साधन) को कहने वाले वचनोंसे श्रोता (प्रतिपाद्य) को जो अनुमेयार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञानात्मक मुख्य परार्थानुमान है और उसके जनक वक्ताके वचन उसके कारण होनेसे उपचारतः परार्थानुमान हैं।

विचारणीय है कि वक्ताका कितना वचनसमूह प्रतिपाद्यके लिए अनुमेयकी प्रतिपत्तिमे आवश्यक है? न्यायसूत्रकार[3] और उनके अनुसर्ता वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्तभट्ट प्रभृति न्यायपरम्पराके तार्किकों तथा प्रशस्तपाद[4] आदि वैशेषिक विद्वानोंका मत है कि प्रतिज्ञा, हेतु[5] उदाहरण[6], उपनय[7] और निगमन[8] ये पांच वाक्यावयव अनुमेय-प्रतिपत्तिमें आवश्यक हैं। इनमेंसे एकका भी अभाव रहने पर अनुमान सम्पन्न नहीं हो सकता और न प्रतिपाद्यको अनुमेयकी प्रतिपत्ति हो सकती है।[9]

सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकारने[10] उक्त पचावयवोंमें जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास इन पांच अवयवोंको और सम्मिलित करके

---

१. परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्। तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।
—माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।५५, ५६।
पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारादिति।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।२३।

२. धर्मकीर्ति, न्यायबि० तृ० परि० पृ० ४६। तथा धर्मोत्तर, न्यायबि० टी० पृ० ४६।

३. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।
—न्यायसू० १।१।३२।

४. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञाऽपदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

५, ६, ७, ८. प्रशस्तपादने हेतुके स्थानमें अपदेश, उदाहरणके लिए निदर्शन, उपनयकी जगह अनुसन्धान और निगमनके स्थानपर प्रत्याम्नाय नाम दिये हैं। पर अवयवोंकी पाँच संख्या तथा उनके अर्थमें प्रायः कोई अन्तर नहीं है।

९. असत्यां प्रतिज्ञायां अनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्तेरन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत···निगमनाभावे चानभिव्यक्तसम्बन्धानामेकार्थेन प्रवर्तनं 'तथा' इति प्रतिपादनं कस्य।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३९, पृ० ५३।

१०. युक्तिदी० का० १ की भूमिका, पृ० ३ तथा का० ६, पृ० ४७-५१।

परार्थानुमानवाक्यके दशावयवोंका कथन किया है। परन्तु माठरने[1] परार्थानुमान वाक्यके तीन (पक्ष, हेतु और दृष्टान्त) अवयव प्रतिपादित किये हैं। सांख्योंकी यही त्रिरवयवमान्यता दार्शनिकोंद्वारा अधिक मान्य और आलोच्य रही है।

बौद्ध विद्वान् दिङ्नागके शिष्य शंकरस्वामीका[2] मत है कि पक्ष, हेतु और दृष्टान्त द्वारा प्राश्निकोंको अप्रतीत अर्थका प्रतिपादन किया जाता है, अतः उक्त तीन ही साधनावयव हैं। धर्मकीर्ति[3] इन तीन अवयवोंमेंसे पक्षको निकाल देते हैं और हेतु तथा दृष्टान्त इन दो अथवा मात्र हेतुको ही परार्थानुमान वाक्यका अवयव मानते हैं।

मीमांसक तार्किक शालिकानाथ,[4] नारायणभट्ट[5] और पार्थसारथिने[6] उक्त तीन (प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त) अवयव वर्णित किये हैं। नारायणभट्ट दृष्टान्त, उपनय और निगमन इस प्रकारसे भी तीन अवयव मानते हुए मिलते हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, जैन चिन्तक प्रतिपाद्योंकी दृष्टिसे अवयवोंका विचार करते हैं। आरम्भमें प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंकी मान्यता होने पर भी उत्तरकालमें अकलङ्क, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति सभी तार्किकोंने प्रतिपाद्योंकी अपेक्षासे उनका प्रतिपादन किया है। किसी प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे दो, किसीकी अपेक्षासे तीन, किसीके अनुसार चार और किसी अन्य प्रतिपाद्यके अनुरोधसे पाँच अवयव भी कहे जा सकते हैं।

---

१. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवम्।
—माठरवृ० का० ५।

२. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति।···एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।
—न्यायप्र० पृ० १, २।

३. प्रमाणवा० १।१२८ तथा न्यायबि० तृ० परि० पृ० ९१। हेतुबि० पृ० ५५।

४ "तत्राबाधित" इति प्रतिज्ञा। "ज्ञातसम्बन्धनियमस्य" इत्यनेन दृष्टान्तवचनम्। "एकदेशदर्शनात्" इति हेत्वभिधानम्। तदेवं त्र्यवयवं साधनम्।
—प्रकरणपं० पृ० २२०।

५. तस्मात्त्र्यवयवं ब्रूमः पौनरुक्त्यासहा वयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्।
—मानमेयो० पृ० ६४।

६. न्यायरत्ना० (मी० श्लो० अनु० परि० श्लो० ५३) पृ० ३६१।

(१) प्रतिज्ञा :

प्रतिज्ञाका[1] दूसरा पर्याय पक्ष[2] अथवा धर्मी[3] है। प्रतिज्ञा शब्दका निर्देश सर्वप्रथम गौतमने[4] किया जान पड़ता है। पाँच अवयवोंमें उन्होंने[5] उसे प्रथम स्थान दिया है। उसकी परिभाषा देते हुए लिखा है[6] कि साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहते हैं। वात्स्यायनने[7] उसकी व्याख्यामें इतना और स्पष्ट किया है कि प्रज्ञापनीय (साधनीय) धर्मसे विशिष्ट धर्मीका प्रतिपादक वचन प्रतिज्ञा है। जैसे—'शब्द अनित्य है।'

प्रशस्तपादने[8] भी अनुमानवाक्यके पंचावयवोंमें प्रथम अवयवका नाम प्रतिज्ञा ही दिया है। पर उसकी परिभाषा गौतमकी प्रतिज्ञा-परिभाषासे विशिष्ट है। उसमें उन्होंने[9] 'अविरोधी' पद और देकर उसके द्वारा प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित आदि पाँच बाधितोंको निरस्त करके प्रतिज्ञाको अबाधित प्रतिपादित किया है। साथ ही उसका विशदीकरण भी किया है। लिखा है[10] कि प्रतिपि-

---

१, २, ३. (क) पक्ष. प्रसिद्धो धर्मी।
—शंकरस्वामी, न्यायप्र० पृ० १।

(ख) प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा।
—वात्स्यायन, न्या० भा० पृ० ४८, १।१।३३।

(ग) प्रतिपिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेशविषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

(घ) साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी। पक्ष इति यावत्। प्रसिद्धो धर्मी।
—माणिक्यनन्दि, परी० मु० ३।२५, २६, २७।

४, ५. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः।
—अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३२।

६. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।
—वही, १।१।३३।

७. न्यायभा० १।१।३३, पृ० ४८। तथा इसी पृष्ठका १, २, ३ नं० (ख) का फुटनोट।

८. अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा।
—प्रश० भा० पृ० ११४।

९. अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति।
—प्रश० भा० पृ० ११५।

१०. इसी पृष्ठका १, २, ३ नं० (ग) का फुटनोट।

साध्यविशिष्ट धर्मसे विशिष्ट धर्मीको हेतुका विषय प्रकट करनेके लिए उसका अभिधान करना प्रतिज्ञा है। वास्तवमें यदि वह हेतुका विषय विवक्षित न हो तो वह कोरी प्रतिज्ञा होगी, अनुमानका अवयवरूप प्रतिज्ञा नहीं।

न्यायप्रवेशकारने[1] प्रतिज्ञाके स्थानमें पक्ष शब्द दिया है। यह परिवर्तन उन्होंने क्यों किया, यह विचारणीय है, क्योंकि दोनोंका प्रयोग एक ही अर्थमें किया गया है। प्रतिज्ञाका अभिधेयार्थ स्वीकृत सिद्धान्त (कोटि) है और यही पक्षशब्दका है। पर विचार करनेपर उनमें सूक्ष्म अन्तर प्रतीत होता है। पक्षशब्द जहाँ अपने सखा सपक्ष और प्रतिद्वन्द्वी विपक्षको लिए हुए होता है वहाँ प्रतिज्ञाशब्दसे ऐसी कोई बात ध्वनित नहीं होती। प्रतिज्ञा तर्कके निकट कम है और आगमके निकट अधिक। पर पक्ष तर्कके निकट अधिक है और आगमके निकट कम। और यह प्रकट है कि अनुमानका संबल तर्क ही है—उसीपर वह प्रतिष्ठित है। अतः अनुमान-विचारमें प्रतिज्ञाशब्दकी अपेक्षा पक्षशब्द अधिक अनुरूप है। सम्भवतः यही कारण है कि न्यायप्रवेशकारके पश्चात् पक्षशब्दका अधिक प्रयोग हुआ है[2]। जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें तो प्रायः यही शब्द अधिक प्रयुक्त मिलता है।

इसकी परिभाषामें न्यायप्रवेशकारने कहा है कि धर्मविशिष्ट धर्मीका नाम पक्ष है, जो प्रसिद्धविशेषणसे विशिष्ट होनेके कारण प्रसिद्ध होता है, साध्यरूपसे इष्ट होता है और प्रत्यक्षादिसे अविरुद्ध। वृत्तिकारके अनुसार विशेषण (साध्यधर्म) की प्रसिद्धता[3] सपक्षमें सद्भावकी अपेक्षा कही गयी है, साध्यधर्मी (पक्ष) में सत्त्वकी अपेक्षा नहीं, वहाँ तो वह असिद्ध ही होता है। वस्तुतः जो सर्वथा अप्रसिद्ध हो वह खपुष्पकी तरह साध्य हो भी नहीं सकता। यही अभिप्राय न्यायप्रवेशकारका साध्यको प्रसिद्ध बतलानेका प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि जो प्रसिद्ध धर्मवाला हो, साध्य हो, अभिप्रेत हो और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध हो वह पक्ष है।

---

१. पक्षः प्रसिद्धो धर्मी प्रसिद्धविशेषेण विशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः। प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध इति वाक्यशेषः।
—न्याय प्र० पृ० १।

२. उद्योतकरसे लेकर नव्यनैयायिकों तक न्यायपरम्परामें पक्षशब्दके प्रयोगकी बहुलता दृष्टिगोचर होती है।

३. इह धर्मिणस्तावदप्रसिद्धता युक्ता विशेषणस्य त्वनित्यत्वादेर्न युज्यते। साध्यत्वात्। ···नैतदेवम्। सम्यगर्थानवबोधात्। इह प्रसिद्धता विशेषणस्य न तस्मिन्नेव धर्मिणि समाश्रीयते। किन्तु धर्म्यन्तरे घटादौ।···
—न्यायप्र० वृ० पृ० १५।

धर्मकीर्तिने[1] भी पक्षकी यही परिभाषा प्रस्तुत की है। यद्यपि वे पक्षप्रयोगको साधनावयव नहीं मानते और इसलिए उनके द्वारा उसकी परिभाषा नहीं होनी चाहिए। तथापि उनके व्याख्याकार धर्मोत्तरके[2] अनुसार पक्षशब्दसे उन्हें साध्यार्थ विवक्षित है और चूंकि कोई असाध्यको साध्य तथा साध्यको असाध्य मानते हैं, अतः साध्यासाध्यका विवाद निरस्त करनेके लिए उन्होंने पक्षका लक्षण किया है।

जैन तर्कशास्त्रमें अधिकांशतः पक्षशब्द ही अभ्युपगत है। प्रतिज्ञाशब्दका प्रयोग बहुत कम हुआ है। बल्कि कुछ तार्किकोंने[3] उसकी समीक्षा की है। सिद्धसेन[4] पक्षका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि साध्यका स्वीकार पक्ष है, जो प्रत्यक्षादिसे निराकृत नहीं है और हेतुके विषयका प्रकाशक है। सिद्धसेनके इस पक्षलक्षणमें गौतम, प्रशस्तपाद, न्यायप्रवेशकार और धर्मकीर्तिके पक्षलक्षणोंका समावेश प्रतीत होता है। 'साध्याभ्युपगमः' पदसे गौतमके 'साध्य-निर्देशः' पदका 'हेतोर्गोचरदीपकः' पदसे प्रशस्तपादके 'अपदेशविषय'का और 'प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः' विशेषणसे प्रशस्तपादके 'अविरोधी', न्यायप्रवेशकारके 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' तथा धर्मकीर्तिके 'अनिराकृत'का संग्रह किया गया है। यह उनकी संग्राहिणी प्रतिभाका द्योतक है, जो एक ही पद्यमें सबका सार समाविष्ट कर लिया है।

अकलंकदेवने[5] साध्यको पक्ष कहा है। उनकी दृष्टिमे पक्ष और साध्य दो नहीं हैं। अतएव वे न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रहमें पक्षसे अभिन्न साध्यका लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत और अप्रसिद्ध हो वह साध्य है। इससे विपरीत—अशक्य (बाधित) अनभिप्रेत और प्रसिद्धको उन्होंने साध्याभास निरूपित किया है, क्योंकि उक्त प्रकारका साध्य साधनका विषय नहीं होता। अकलंकने न्यायप्रवेशकारकी तरह पक्षलक्षणमें प्रसिद्ध विशेषण स्वीकार नही किया, क्योंकि जब वह साध्य है तो वह अप्रसिद्ध होगा और यह अप्रसिद्धता साध्यधर्मीकी अपेक्षासे ही विवक्षित है, सपक्षकी अपेक्षासे उसकी प्रसिद्धता बतलाना निरर्थक है। वादीकी अपेक्षासे अभिप्रेत, प्रतिवादीकी दृष्टिसे अप्रसिद्ध और वादी तथा प्रतिवादी दोनोंकी अपेक्षासे उसे शक्य—प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध

१,२. स्वरूपेणैव स्वयमिष्टोऽनिराकृत पक्ष इति।

—न्यायवि० तृ० परि० पृ० ६० तथा इसीकी धर्मोत्तरकृत टीका पृ० ६०।

३. विद्यानन्द, त० श्लो० वा० १।१३।१५६; पृ० २०१।

४. साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः॥
—न्यायाव० १४।

५. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥
—न्यायवि० २।१७२, प्रमाणसं० का० २०, पृ० १०२।

होना पर्याप्त है। यहाँ उल्लेखनीय है कि अकलंकने[1] धर्मकीर्तिके[2] उस मतकी मीमांसा भी की है जिसमें धर्मकीर्तिने धर्मीको उपचारसे पक्ष माना है। अकलंकका कहना है कि धर्मीको उपचारसे पक्ष माननेपर उसका धर्म साध्य भी वास्तविक सिद्ध न होगा—उपचरित सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त धर्मी (पक्ष) का धर्म होनेसे पक्षधर्म—हेतु भी उपचरित होगा।

विद्यानन्दने[3] भी अकलंकका समर्थन करते हुए उपचारसे धर्मीको पक्ष माननेके धर्मकीर्तिके मन्तव्यका समालोचन किया है। उन्होंने धर्म-धर्मीके समुदायको पक्ष कहनेके विचारकी भी समीक्षा की है और साध्यधर्मको पक्ष स्वीकार किया है। उनका मत है कि हेतुका अविनाभाव साध्य-धर्मके साथ ही है, इसलिए साध्य-धर्म ही अनुमेय (पक्ष) है।

माणिक्यनन्दिका[4] विचार है कि व्याप्तिनिश्चयकालमें धर्म साध्य होता है और अनुमानप्रयोगकालमें धर्मविशिष्ट धर्मी। तथा धर्मीका नाम ही पक्ष है। वात्स्यायन[5] और उद्योतकरने[6] भी द्विविध साध्य (धर्मीविशिष्ट धर्म और धर्मविशिष्ट धर्मी) का तथा धर्मोत्तरने[7] त्रिविध साध्य (हेतुलक्षणकालमें धर्मी, व्याप्तिनिश्चयकालमें धर्म और साध्यप्रतिपत्तिकालमें समुदाय) का प्रतिपादन किया है।

प्रभाचन्द्र[8], अनन्तवीर्य[9], वादिराज[10], देवसूरि[11], हेमचन्द्र[12], धर्मभूषण[13],

---

१ पक्षो धर्मीत्युपचारे तद्धर्मतापि न सिद्धा।...।
—सिद्धिवि० ६।२, पृ० ३७३।

२. पक्षो धर्मी अवयवे समुदायोपचारात्।
—हेतुबि० पृ० ५२ तथा प्र० वा० स्ववृ० पृ० १२, ११३।

३. तथा च न धर्मधर्मिसमुदायः पक्षो, नापि तत्तद्धर्मी तद्धर्मत्वस्याविनाभावस्वभावत्वाभावात्। किं तर्हि, साध्य एव पक्ष इति प्रतिपत्तव्यं तद्धर्मत्वस्यैवाविनाभावित्वनियमादित्युच्यते। साध्यः पक्षस्तु नः सिद्धस्तद्धर्मो हेतुरित्यपि।
—त० श्लो० वा० १।१३।१४९, १६०, पृष्ठ २०१। तथा पृ० २८१।

४. साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी। पक्ष इति यावत्।
—परीक्षामु० ३।२५, २६।

५. न्यायभा० १।१।३६, पृ० ४९।

६ न्यायवा० १।१।३६, पृ० ११४।

७. न्यायबि० टी० पृ० २४।

८, ९. प्रमेयक० मा० ३।२५, २६। प्रमेयर० मा० ३।२१, २२, पृ० १५२।

१०. प्रमाणनि० पृ० ६१।

११. प्र० न० त० ३ १४, २०।

१२. सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी साध्यं पक्षः।
—प्र० मी० १।२।१३, पृ० ४५।

१३. न्या० दी० पृ० ७२।

यशोविजय[1], चारुकीर्ति[2] प्रभृति तार्किकोंका प्रायः माणिक्यनन्दि जैसा ही मन्तव्य है। हेमचन्द्रने[3] पक्षको साध्यका ही नामान्तर बतलाया है जो सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्दके अनुरूप है। प्रभाचन्द्रके मतानुसार माणिक्यनन्दिकी तरह अनुमान-प्रयोगकालमें साध्य न अग्नि आदि धर्म होता है और न पर्वत आदि धर्मी। अपितु अग्नि आदि धर्मविशिष्ट पर्वत आदि धर्मी अनुमेय होता है और वही प्रतिपादकका प्रतिपाद्यके लिए पक्ष है। अतः साध्य (धर्मविशिष्ट धर्मी) को पक्ष कहनेमें कोई दोष नहीं है।[4]

(२) हेतु :

अनुमेयको सिद्ध करनेके लिए साधन (लिङ्ग) के रूपमें जिस वाक्यावयवका प्रयोग किया जाता है वह हेतु[5] कहलाता है। साधन और हेतुमें यद्यपि साधारणतया कोई अन्तर नहीं है और इसलिए दोनोंका प्रयोग बहुधा पर्यायरूपमें मिलता है। पर उनमें वाच्य-वाचकका भेद है। साधन वाच्य है, क्योंकि वह कोई वस्तु रूप होता है। और हेतु वाचक है, यतः उसके द्वारा वह कहा जाता है। अक्षपादने[6] हेतुका लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि उदाहरणके साधर्म्य तथा वैधर्म्यसे साध्यको सिद्ध करना हेतु है। उनके इस हेतुलक्षणसे हेतुका प्रयोग दो तरहका सिद्ध होता है—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य। वात्स्यायन[7] और उद्योतकरने[8] उनके इन दोनो प्रयोगोकी सम्पुष्टि की है। इन तार्किकोंके मतानुसार हेतुमें साध्यके उदाहरणका साधर्म्य तथा वैधर्म्य दोनो अपेक्षित हैं। अर्थात् हेतुको साध्य (पक्ष) में तो रहना ही चाहिए, साधर्म्य उदाहरण (सपक्ष) मे साध्यके साथ विद्यमान और वैधर्म्य उदाहरण (विपक्ष) में साध्याभावके साथ अविद्यमान भी होना

---

१. जैन तर्कभा० पृ० १३।

२. प्रमे० रत्नालं० ३।२५, २६।

३. 'पक्षः' इति साध्यस्यैव नामान्तरम्।

—प्र० मी० १।२।१३, पृ० ४५।

४. प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टत्वात् साध्यव्यपदेशाविरोधः। ···साध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टस्य पक्षाभिधाने दोषाभावात्।

—प्रभाचन्द्र, प्रमेयक० मा० ३।२५, २६, पृ० ३७१।

५. कणादने हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण और करण इन सबको हेतुका पर्याय बतलाया है।

—वैशे० ९।२।४।

६. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।

—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

७. न्यायभा० १।१।३४, ३५।

८. न्यायवा० १।१।३४, ३५, पृ० ११९-१३४।

चाहिए। इस प्रकारके हेतुस्वरूपके अवधारण (निश्चय) से हेत्वाभास निरस्त हो जाते हैं[1]।

काश्यप (कणाद) और उनके व्याख्याकार प्रशस्तपादका[2] भी मत है कि जो अनुमेयके साथ सम्बद्ध है, अनुमेयसे अन्वित (साधर्म्य उदाहरण—सपक्ष) में प्रसिद्ध है और उसके अभाव (वैधर्म्य उदाहरण—विपक्ष) में नहीं रहता वह लिंग है। ऐसा त्रिरूप लिंग अनुमेयका अनुमापक होता है। इससे विपरीत अलिंग (हेत्वाभास) है और वह अनुमेयकी सिद्धि नहीं कर सकता।

बौद्ध तार्किक न्यायप्रवेशकार[3] भी त्रिरूप हेतुके प्रयोगको ही अनुमेयका साधक बतलाते हैं। धर्मकीर्ति[4], धर्मोत्तर[5] आदिने उसका समर्थन किया है।

उपर्युक्त अध्ययनसे अवगत होता है कि आरम्भमें त्रिरूपात्मक हेतुका प्रयोग अनुमेयप्रतिपत्तिके लिए आवश्यक माना जाता था। पर उत्तरकालमें न्यायपरम्परामें त्रिरूप हेतुके स्थानमें पंचरूप हेतुका प्रयोग अनिवार्य हो गया। उसका सर्वप्रथम प्रतिपादन वाचस्पति मिश्र[6] और जयन्तभट्टने[7] किया है। आगे तो प्रायः सभी परवर्ती न्यायपरम्पराके विद्वानोंने[8] पंचरूप हेतुके प्रयोगका ही समर्थन किया है। किन्तु ध्यान रहे, वैशेषिक और बौद्ध त्रिरूप हेतुके प्रयोगकी मान्यतापर आरम्भसे अन्त तक दृढ़ रहे हैं।

प्रश्न है कि जैन तार्किकोंने किस प्रकारके हेतुके प्रयोगको अनुमेयका गमक स्वीकार किया है ? जैन परम्परामें सबसे पहले समन्तभद्रने हेतुके स्वरूपका निर्देश

---

१. तदेवं हेतुस्वरूपावधारणाद्धेत्वाभासा निराकृता भवन्ति।
—न्यायवा०, १।१।३४, पृष्ठ ११६।

२. यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन्प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिंगं भवति।
—प्रश० भा० पृ० १००।

३. न्यायप्र० पृ० १।

४. न्यायबिन्दु पृ० २२, २३। हेतुबि० पृ० ५२।

५. न्यायबि० टी० पृ० २२, २३।

६. तेन सूत्रस्थेन (चशब्देन) अबाधितत्वमसत्प्रतिपक्षत्वमपि रूपद्वयं समुच्चितमित्युक्तं भवति।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १७४ तथा १७१।

७. गम्यतेऽनेनेति लिंगम्, तच्च पंचलक्षणम् ···एतैः पंचभिर्लक्षणैरुपपन्नं लिंगमनुमापकं भवति।
—न्यायमं० पृ० १०१।

८. उदयन, न्यायवा० ता० परि० १।१।५। केशव, तर्कभा० पृ० ८६,।

किया है। उन्होंने[1] आप्तमीमांसामें न्यायसूत्रकारके[2] मतसे सहमति प्रकट करते हुए हेतुको अविरोधी (साध्यके साथ ही रहनेवाला—साध्याभावके साथ न रहनेवाला अर्थात् अविनाभावी—अन्यथानुपपन्न) होना विशेष आवश्यक बतलाया है। उनके व्याख्याकार अकलंकदेवने[3] उनका आशय उद्घाटित करते हुए लिखा है कि 'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात्' इस वाक्यके द्वारा समन्तभद्रने हेतुको त्रिलक्षण सूचित किया है और 'अविरोधतः' पदसे अन्यथानुपपत्तिको दिखलाकर केवल त्रिलक्षणको अहेतु प्रतिपादन किया है। उदाहरणस्वरूप 'तत्पुत्रत्व' आदि असद् हेतुओंको लिया जा सकता है, जिनमें त्रैरूप्य तो है, पर अन्यथानुपपत्ति न होनेसे वे गमक नहीं हैं। किन्तु अन्यथानुपपन्न हेतुओंमें उन्होंने गमकता स्वीकार की है। अतएव 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते' (आप्तमी० का० ३७) इत्यादि स्थलोंमें अन्यथानुपपत्तिका ही समाश्रय लिया गया है। तात्पर्य यह कि समन्तभद्र त्रैरूप्यका निषेध तो नहीं करते। परन्तु हेतुके अविनाभावपर अधिक भार देते हैं।

पात्रस्वामी[4], सिद्धसेन[5], कुमारनन्दि[6], अकलंक[7], विद्यानन्द[8], माणिक्यनन्दि[9], प्रभाचन्द्र[10], वादिराज[11], अनन्तवीर्य[12], देवसूरि[13], शान्तिसूरि[14], हेमचन्द्र[15] धर्मभूषण[16], यशोविजय[17] और चारुकीर्ति[18] आदिने मात्र अविनाभावी—अन्यथानुपपन्न हेतुके प्रयोगको ही अनुमेयका साधक माना है।

---

१. सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः।
   —आप्तमी० का० १०६।
२. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।—न्यायसू० १।१।३४, ३५।
३. अष्टश० अष्टस० पृ० २८९ (आ० मी० का १०६ की विवृति)।
४. तत्त्वसं० पृ० ४०६ में उद्धृत पात्रस्वामीका 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद्य।
५. न्यायाव० का० २१।
६. प्रपरी० में उद्धृत कुमारनन्दिका 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण' पद्य।
७. न्या० वि० का० २६९, प्र० सं० का० २१, अक० ग्र० पृष्ठ ९६ तथा १०२।
८. प्र० परी० पृ० ७०, ७१।
९. परी० मु० ३।१५।
१०. प्रमेयक० मा० ३।१५, पृ० ३५४।
११. न्या० वि० वि० २।१ पृ० २। प्र० नि० पृ० ४२।
१२. प्रमेयर० मा० ३।११, पृ० १४१-१४३।
१३. प्र० न० त० ३।११, पृ० ५१७।
१४. न्यायाव० वा० ३।४३, पृ० १०२।
१५. प्र० मी० २।१।१२।
१६. न्या० दी० पृ० ७६।
१७. जैनतर्कभा० पृ० १२।
१८. प्रमेयरत्नालं० ३।१५, पृ० १०३।

यह हेतुप्रयोग दो तरहसे किया जाता है[1]—(१) तथोपपत्तिरूपसे और (२) अन्यथानुपपत्तिरूपसे । तथोपपत्तिका अर्थ है साध्यके होनेपर ही साधनका होना[2]; जैसे अग्निके होनेपर ही धूम होता है । और अन्यथानुपपत्तिका आशय है साध्यके अभावमें साधनका न होना ही[3]; यथा अग्निके अभावमें धूम नहीं ही होता । यद्यपि हेतुके ये दोनों प्रयोग साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेकके तुल्य हैं । किन्तु उनमें अन्तर है । साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेकके साथ एवकार नहीं रहता, अत. वे अनियत भी हो सकते हैं, पर तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिके साथ एवकार होनेसे उनमें अनियमकी सम्भावना नहीं है—दोनों नियतरूप होते है । दूसरे, ये दोनों ज्ञानात्मक हैं, जब कि साधर्म्य और वैधर्म्य अथवा अन्वय और व्यतिरेक ज्ञेयधर्मात्मक हैं । अतः जैन तार्किकोंने उन्हें स्वीकार न कर तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिको स्वीकार किया तथा इनमेंसे किसी एक-का ही प्रयोग पर्याप्त माना है[4] ।

(३) दृष्टान्त :

हम पीछे कह आये हैं कि जो प्रतिपाद्य व्युत्पन्न नहीं है, न वादाधिकारी हैं और न वादेच्छुक हैं, किन्तु तत्त्वलिप्सु हैं उन्हें अव्युत्पन्न, बाल अथवा मन्दमति कहा गया है[5] । इनकी अपेक्षा अनुमेयकी प्रतिपत्तिके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन,

---

१. व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा । अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।
—परी० मु० ३।९५ ।
हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकार इति ।
—प्र० न० त० ३।२९, पृ० ५५९ । न्यायाव० का० १७ । प्र० मी० २।१।४ ।

२. सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिरिति ।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।३० । त० श्लो० १।१३।१७५ ।

३. असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिरिति ।
—वही, ३।३१, पृ० ५६० ।

४. (क) अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोग इति ।
—प्र० न० त० ३।३३, पृ० ५६० ।
(ख) हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥
—सिद्धसेन, न्यायाव० का० १७, ।
(ग) नानयोस्तात्पर्ये भेदः । अतएव नोभयोः प्रयोगः ।
—हेमचन्द्र, प्र० मी० २।१।५, ६, पृष्ठ ५० ।

५. बालानां त्वव्युत्पन्नप्रज्ञानां… ।
प्रमेयक० मा० ३।४६ का उत्थानिकावाक्य, पृ० ३७६ ।
प्रमेयर० मा० ३।४२ का उत्थानिकावाक्य तथा उसकी व्याख्या ।
मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं… ।
—देवसूरि, प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६४, ।

उपनयसहित चार और निगमन सहित पाच अवयवोंके प्रयोगोंको भी जैन तार्किकों-ने[1] स्वीकार किया है। भद्रबाहु[2], देवसूरि[3], हेमचन्द्र[4], यशोविजय[5] आदि तार्किकों ने प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवोंके प्रयोगको भी मान्य किया है। यहां इन सब-पर क्रमशः विचार किया जाता है।

दृष्टान्तके लिए उदाहरण और निदर्शन शब्दोंका भी प्रयोग किया गया है। न्यायसूत्रकारने[6] दृष्टान्त और उदाहरण दोनों शब्द दिये हैं तथा दृष्टान्तके वचनको उदाहरणका स्वरूप बतलाया है। प्रशस्तपादने[7] निदर्शन शब्द प्रयुक्त किया है। न्यायप्रवेशकारने[8] दृष्टान्त शब्दको चुना है। धर्मकीर्तिने[9] दृष्टान्तको साधनावयव न माननेसे उसका निर्देश केवल निरासार्थ किया है।

जैन तार्किकोंने दृष्टान्त, निदर्शन और उदाहरण तीनों शब्दोंका प्रयोग किया है। सिद्धसेनने[10] दृष्टान्त, अकलंकने[11] दृष्टान्त और निदर्शन तथा माणिक्य-नन्दिने[12] दृष्टान्त, निदर्शन और उदाहरण तीनोंको दिया है।

ध्यातव्य है कि न्यायदर्शनमें दृष्टान्तको उदाहरणसे पृथक् स्वतन्त्र पदार्थके रूपमें भी प्रतिपादित किया है और उसका कारण एवं विशेष प्रयोजन यह बतलाया गया है[13]

---

१. प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात्। यथैव हि कस्यचित्प्रतिबोध्यस्यानुरोधेन साधनवाक्ये सन्धाऽभिधीयते तथा दृष्टान्तादिकमपि। कुमारनन्दिभट्टारकैरप्युक्तम्—
प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा। प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥
—विद्यानन्द, पत्रपरी० पृ० ३, माणिक्यनन्दि। देवसूरि, प्र० न० त० ३।४२। हेमचन्द्र, प्र० मी० २।१।१०। धर्मभूषण, न्या० दी० पृ० १०१। यशोविजय, जैनतर्कभा० पृ० १६।

२. दशवै० नि० गा० ५०, १३७।

३. स्या० रत्ना० ३।४२, पृ० ५६५।

४. प्र० मी० २।१।१० की स्वो० वृ० पृ० ५२।

५. जैनतर्कभा० पृ० १६।

६. न्यायसू० १।१।३६।

७. प्रश० भा० पृ० ११४, १२२।

८. न्यायप्र० पृ० १।

९. तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम ···।
—न्या० बि० तृ० परि० पृष्ठ ९१।

१०. न्यायाव० का० १८, १९।

११. अकलंकग्रन्थ० पृ० ८०, ४२, १०६, १२७।

१२. परीक्षामु० ३।२७, ४०, ४७, ४८, ४९।

१३. दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपाद्याः प्रतिषेद्धव्या भवन्ति, दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति, अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पत इति।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।२५, पृ० ४३।

कि दृष्टान्त-विरोधसे प्रतिपक्षियोंको वादमें रोका जा सकता है तथा दृष्टान्तसमाधानसे अपना पक्ष परिपुष्ट किया जाता है और अवयवोंमें उदाहरणकी कल्पना दृष्टान्तसे ही होती है।

गौतमने[1] दृष्टान्तका स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जिस अर्थमें लौकिक और परीक्षक दोनों सहमत हों वह दृष्टान्त है। इस दृष्टान्तका प्रदर्शन ही उदाहरण है[2]। उदाहरणद्वारा उन दो धर्मोंमें साध्य-साधनभाव पुष्ट किया जाता है[3] जिनके अविनाभावी एकको साधन और दूसरेको साध्य बनाया जाता है। उदाहरणसे अव्युत्पन्न प्रतिपाद्यको सरलतासे अनुमेयका बोध हो जाता है। अक्षपादने[4] दृष्टान्तके सामान्यलक्षणके अतिरिक्त एक-एक सूत्रमे साधर्म्योक्त और वैधर्म्योक्त उदाहरणका स्वरूप बताया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें उदाहरणके दो भेद विवक्षित हैं—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य।

प्रशस्तपादने[5] भी निदर्शनके दो भेदोंका निर्देश किया है और वे अक्षपाद जैसे ही है। न्यायप्रवेशकारने[6] भी अक्षपादकी तरह द्विविध दृष्टान्तोंका प्रतिपादन किया है।

जैन तार्किक सिद्धसेनने[7] दृष्टान्तके उक्त दोनो भेद स्वीकार किये हैं। जहां साध्य और साधनमें व्याप्तिका निश्चय किया जाता है उसे साधर्म्य दृष्टान्त तथा

---

१. लौकिकपरीक्षकाणा यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।
—न्यायसू० १।१।२५।

२. साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।
—वही, १।१।३६।

३. उदाह्रियतेऽनेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्।
—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३६, पृ० ५०।

४. न्यायसू० १।१।२५, १।१।३६, ३७।

५. द्विविधं निदर्शनं साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्रानुमेयसामान्येन लिंगसामान्यस्यानुविधानदर्शनं साधर्म्यनिदर्शनम्। तद्यथा—यत् क्रियावत् तद् द्रव्यं दृष्टं यथा शर इति। अनुमेयविपर्यमये च लिंगस्याभावदर्शनं वैधर्म्यनिदर्शनम्। तद्यथा—यदद्रव्यं तत् क्रियावन्न भवति यथा सत्तेति।
—प्रश० भा० पृ० १२२।

६. दृष्टान्तो द्विविधः। साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्र साधर्म्येण तावत्। यत्र हेतोः सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते। तद्यथा। यत्कृतक तदनित्यं दृष्टं यथा घटादिरिति। वैधर्म्येणापि। यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते। तद्यथा। यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं यथाकाशमिति।
—न्यायप्र० पृ० १,२।

७. न्यायाव० का० १८, १९।

है। तथा जहाँ साध्यके न होने पर साधनका न होना व्यापित किया जाता है उसे वैधर्म्य दृष्टान्त बतलाया है। विशेष यह कि इसमें उन्होंने पूर्वगृहीत व्याप्तिसम्बन्ध के स्मरणकी अपेक्षा भी बतलायी है। साथ ही वे[1] अन्तर्व्याप्तिसे ही साध्य-सिद्धि होनेपर बल देते हैं और उसके अभावमें उदाहरणको व्यर्थ बतलाते हैं।

अकलंकका[2] मत है कि दृष्टान्त अनुमेय-सिद्धिमे सर्वत्र आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ समस्त पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेमें कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सभी पदार्थ पक्षान्तर्गत हो जानेसे सपक्षका अभाव है। अतः बिना अन्वयके भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके सद्भावसे साध्य-सिद्धि सम्भव है। हाँ, जहाँ दृष्टान्त मिलता है उसे दिया जा सकता है। अकलंकने[3] दृष्टान्तका लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जहां साध्य और साधन धर्मका सम्बन्ध निर्णीत होता है वह दृष्टान्त है।

माणिक्यनन्दिने[4] भी दृष्टान्तके दो भेदोंका निरूपण किया है। अन्तर यह है कि उन्होंने साधर्म्य और वैधर्म्यके स्थानमें क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक शब्द दिये हैं। जहाँ साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति दिखाई जाए उस स्थानको अन्वयदृष्टान्त तथा जहाँ साध्यके अभावको दिखाकर साधनका अभाव दिखाया जाए उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहा है।

देवसूरि[5] व्याप्तिस्मरणके आस्पद (महानसादि)को दृष्टान्त कहते हैं। माणिक्यनन्दिने दृष्टान्तके सामान्यलक्षणका प्रतिपादक कोई सूत्र नही रचा। पर देवसूरि

---

१. अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धेर्बहिरुदाहृतिः।
व्यर्था स्यात् तदसद्भावेऽप्येवं न्यायविदो विदुः॥
—न्यायाव० का० २०।

२. सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात्।
अन्यथा सर्वभावानामसिद्धोऽयं क्षणक्षयः॥
—न्यायवि० का० ३८१।

३. सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः।
स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः॥
—न्यायवि० का० ३८०।

४. दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्।
साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः।
साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः।
—प० मु० ३।४७, ४८, ४९।

५. प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्त इति।
—प्र० न० त० ३।४३, पृ० ५६७।

ने उसका प्रतिपादक सूत्र दिया है[1]। इन्होंने[2] दृष्टान्तके द्वैविध्यमें माणिक्यनन्दि की तरह अन्वय-व्यतिरेक शब्द न देकर सिद्धसेनकी तरह साधर्म्य-वैधर्म्य शब्द प्रयुक्त किये हैं। हेमचन्द्रने[3] इस सम्बन्धमें देवसूरिका अनुसरण किया है।

धर्मभूषणने[4] दृष्टान्तके सम्यक् वचनको उदाहरण और व्याप्तिके सम्प्रतिपत्ति-प्रदेशको दृष्टान्त कहा है। जहां वादी और प्रतिवादीकी बुद्धिसाम्यता (अविवाद) है उस स्थानको सम्प्रतिपत्ति-प्रदेश कहते हैं। जैसे रसोईशाला आदि अथवा तालाब आदि। क्योंकि वहाँ 'धूमादिकके होनेपर नियमसे अग्न्यादिक पाये जाते हैं और अग्न्यादिकके अभावमें नियमसे धूमादिक नही पाये जाते' इस प्रकारकी सम्प्रतिपत्ति सम्भव है। रसोईशाला आदि अन्वय दृष्टान्त हैं, क्योंकि वहाँ साध्य और साधनके सद्भावरूप अन्वयबुद्धि होती है। और तालाब आदि व्यतिरेक-दृष्टान्त है, क्योंकि वहाँ साध्य और साधन दोनोंके अभावरूप व्यतिरेकका ज्ञान होता है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं, क्योंकि साध्य और साधन दोनोरूप अन्त—अर्थात् धर्म जहा सद्भाव अथवा असद्भाव रूपमें देखे जाते हैं वह दृष्टान्त है, ऐसा दृष्टान्त शब्दका अर्थ उनमें निहित है। धर्मभूषण[5] एक विशेष बात और कहते है। वह यह कि दृष्टान्तका दृष्टान्तरूपसे जो वचन-प्रयोग है वह उदाहरण है। केवल वचनका नाम उदाहरण नही है। इसके प्रयोगका वे निदर्शन इस प्रकार प्रस्तुत करते है—जैसे, जो जो धूमवाला होता है वह वह अग्निवाला होता है, यथा रसोईघर, और जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम भी नही है, जैसे तालाब, इस प्रकारके वचनके साथ ही दृष्टान्त-का दृष्टान्तरूपसे प्रतिपादन करना उदाहरण है।

---

१. प्र० न० त०, ३।४३, पृ० ५६७।

२. स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्चेति। यत्र साधनधर्मसत्तायामवश्यं साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्त इति। यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृ-ष्टान्त'।
—वही, ३।४४, ४५, ४६, पृ० ५६७, ५६८।

३. स व्याप्तिदर्शनभूमिः। स साधर्म्यवैधर्म्याभ्या द्वेधा। साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साध-र्म्यदृष्टान्तः साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः।
—प्रमाणमी० १।२।२०, २१, २२, २३, पृ० ४८।

४. उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्। कोऽयं दृष्टान्तो नाम ? इति चेत्, उच्यते, व्याप्ति-सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः। ''तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः—ह्रदादिस्तु व्यतिरेक-दृष्टान्तः।''' दृष्टान्तौ चैतौ दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः।
—न्यायदी० पृ० १०४-१०५। प्रमेयक० मा० ३।४७, पृ० ३७७।

५. न्यायदी० पृ० १०५।

यशोविजयने[1] मन्दमति प्रतिपाद्योंके लिए दृष्टान्तादिका प्रयोग उपयुक्त माना है। पर उनका विवेचन नहीं किया।

माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार अन्तिम जैन तार्किक चारुकीर्तिको गंगेश और उनके अनुवर्ती नव्य नैयायिकों द्वारा विकसित नव्यन्यायके चिन्तनका भी अवसर मिला है। अतः उन्होंने उससे लाभ उठाकर अन्वयि-उदाहरण और व्यतिरेकि उदाहरणके लक्षण नव्यन्यायकी पद्धतिसे प्रस्तुत किये हैं[2]। जैन परम्पराके लिए उनका यह नया आलोक है।

(४) उपनय :

उपनयका स्वरूप बतलाते हुए गौतमने[3] लिखा है कि उदाहरणकी अपेक्षा रखते हुए 'वैसा ही यह है' या 'वैसा यह नहीं है' इस प्रकारसे साध्यका उपसंहार उपनय कहलाता है। वात्स्यायनने[4] गौतमके इस कथनका विशदीकरण इस प्रकार किया है—जिस अनुमाताने साध्यके सादृश्यसे युक्त उदाहरणमें स्थाली आदि द्रव्यको उत्पत्तिधर्मक होनेसे अनित्य देखा है वह 'शब्द उत्पत्तिधर्मक है' इस अनुमानमें साध्य—स्थाली आदि द्रव्यका भी उत्पत्तिधर्मकत्वमें उपसंहार करता है। इसी तरह जिसने साध्यके वैसादृश्यसे युक्त उदाहरणमें आत्मा आदि द्रव्यको अनुत्पत्तिधर्मा होनेसे नित्य जाना है वह शब्दमें नित्यत्व न मिलनेपर अनुत्पत्तिधर्मकत्वके उपसंहार-प्रतिषेधसे उसमें उत्पत्तिधर्मकत्वका उपसंहार करता है। उपसंहारका अर्थ है दोहराना। जिस अनुमानावयवमें उदाहरणकी प्रसिद्धिपूर्वक हेतुविशिष्टत्वेन अनुमेयको दोहराया जाए वह उपनय है। वात्स्यायनने[5] गौतमके आशयानुसार उदाहरण तथा हेतुकी तरह उपनयके भी अन्वय और व्यतिरेकरूप दो भेदोंका निर्देश किया है। उद्योतकर आदि उत्तरवर्ती सभी नैयायिकोंने न्यायसूत्रकार और वात्स्यायनका समर्थन किया है।

---

१. मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते···यस्तु प्रतिबन्धग्राहिणः प्रमाणस्य न स्मरति, तं प्रति दृष्टान्तोऽपि।
—जैन तर्कभा० पृ० १६।

२. अन्वयव्याप्तिविशिष्टहेत्ववच्छिन्नपर्वतविशेष्यकसाध्यप्रकारकबोधजनकवाक्यत्वमन्वय्युदाहरणस्य लक्षणम्।···व्यतिरेकव्याप्तिविशिष्टसाधनावच्छिन्नविशेष्यकसाध्यप्रकारकबोधजनकावयवत्वं व्यतिरेकोदाहरणस्य लक्षणम्।
—प्रमेयरत्नालं० ३।४७, ४९, पृ० १२०, १२१।

३. उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः।
—न्यायसू० १।१।३८।

४. न्यायभा० १।१।३८, पृ० ५१।

५. वही, १।१।३८, पृ० ५१।

बौद्धोंने उपनयको स्वीकार नहीं किया। अतः उनके तर्कग्रन्थोंमें उसका विवेचन नहीं है। पर हाँ, धर्मकीर्तिने[1] हेतुका प्रयोग साधर्म्य और वैधर्म्यरूपसे द्विविध बतलाकर उसीके स्वरूपमें उदाहरण और उपनयको अन्तर्भूत कर लिया है। उनके हेतुका प्रयोग इस प्रकार होता है—'जो सत् है वह सब क्षणिक है। जैसे घटादिक। और सत् शब्द है। तथा क्षणिकता न होनेपर सत्त्व भी नहीं होता।' हेतुके इस प्रयोगमें स्पष्टतया उदाहरण और उपनयका प्रवेश है। पर धर्मकीर्ति उन्हें हेतुका ही स्वरूप मानते हैं[2]—उन्हें पृथक् स्वीकार नहीं करते।

अनन्तवीर्य[3] और उनके अनुसर्ता हेमचन्द्रने[4] मीमांसकोंके नामसे चार अवयवमान्यताका उल्लेख किया है, जिसमें उपनय सम्मिलित है। इससे ज्ञात होता है कि मीमांसकोंने भी उपनयको माना है। परन्तु यह मान्यता मीमांसकतर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती। सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार[5] भी अपने दशावयवोंमें उपनयका कथन करते हुए पाये जाते हैं। किन्तु माठरने[6] उपनयको स्वीकार नहीं किया। केवल पक्ष, हेतु और दृष्टान्तको उन्होंने अंगीकार किया है।

जैन परम्परामें गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और सिद्धसेनने उपनयका कोई निर्देश नहीं किया। अकलंक[7] मात्र 'उपनयादिसमम्' शब्दों द्वारा उपनयका उल्लेख तो करते हैं, पर उसके स्वरूपादिका उन्होंने कोई कथन नहीं किया। इतना अवश्य है कि वे[8] प्रतिपाद्यविशेषके लिए उसके प्रयोगका समर्थन करते जान पड़ते हैं। उपनयके स्वरूपका स्पष्ट प्रतिपादन माणिक्यनन्दिने[9] किया है। वे कहते हैं कि पक्षमें हेतुके

---

१. तस्य। हेतोः। द्विधा प्रयोगः। साधर्म्येण एकः, वैधर्म्येणापरः। यथा—यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकम्। यथा घटादयः। सश्च शब्दः। तथा, क्षणिकत्वाभावे सत्त्वाभावः। सर्वोपसंहारेण व्याप्तिप्रदर्शनलक्षणौ साधर्म्यवैधर्म्यप्रयोगौ उक्तौ।
—हेतुबि० पृ० ५५।

२. डा० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायवि० प्रस्तावना पृष्ठ १५।

३. प्रमेयर० मा० ३।३७, पृ० १६४।

४. प्र० मी० २।१।८, पृ० ५२।

५. साध्यदृष्टान्तयोरेकक्रियोपसंहार उपनयः।
—युक्तिदी० का ६, पृ० ४८।

६. माठरवृ० का० ५।

७. सम्मोहव्यवच्छेदेन तत्त्वावधारणे स्वयं साक्षात्कृतेऽपि साधनवचने कथंचिन्निश्चित्य ···वाचकं उपनयादिसमम्।
—प्र० स० का० ५१, अक० ग्रन्थ० पृ० १११।

८. तावद् प्रयोक्तव्यं यावता साध्यसाधनसमाधिकरणं प्रत्येति।
—वही, स्वो० वृ० पृ० १११।

९. हेतोरुपसंहार उपनयः।
—परीक्षामु० ३।५०।

दुहरानेका नाम उपनय है। प्रभाचन्द्रने[1] उसके प्रतिपादनका बहुत सुन्दर व्याख्यान किया है। उन्होंने लिखा है कि जिसके द्वारा साध्यधर्मीमें साध्याविनाभाविरूपसे अर्थात् पक्षधर्मरूपसे विशिष्ट हेतु उपदर्शित हो वह उपनय कहा जाता है। यथार्थ में उपनयवाक्यके द्वारा दृष्टान्त सादृश्यसे हेतुमें साध्याविनाभावित्वरूप पक्षधर्मताकी पुष्टि की जाती है। अतएव उपनयको उपमान भी कहा गया है[2]। इसका उदाहरण है—'उसी प्रकार यह धूमवाला है'। अनन्तवीर्यका[3] भी यही मत है। देवसूरि[4] माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्रका ही अनुगमन करते हैं। हेमचन्द्रने[5] उपनयके स्वरूपका प्रतिपादक सूत्र तो देवसूरि जैसा ही दिया है। पर उसकी वृत्तिमें उन्होंने[6] कुछ विशेषता व्यक्त की है। कहा है कि जिस पक्षधर्म-साधनकी दृष्टान्तधर्मीमें व्याप्ति (साध्याविनाभाव) को जान लिया है उसका साध्यधर्मीमें उपसंहार करना उपनय है और वह वचनरूप है। जैसे 'और धूमवाला यह है'। चारुकीर्तिका[7] उपनयलक्षण नव्यन्यायके परिवेशमें ग्रथित होनेसे उल्लेखनीय है। ध्यान रहे न्यायपरम्परामें जहां साध्य (पक्ष) के उपसंहारको उपनय कहा है वहां जैन न्यायमें पक्षमें हेतुके उपसंहारको उपनय बतलाया गया है। वास्तवमें उपनयका प्रयोजन प्रयुक्त हेतुमें साध्याविनाभावित्वकी सम्पुष्टि करना है। अतः पक्षनिष्ठत्वेन हेतुके पुनः अभिधानको उपनय कहा जाना युक्त है।

(५) निगमन :

परार्थानुमानका अन्तिम अवयव निगमन है। निगमनका स्वरूप देते हुए गौत-

१. उपनयो हि साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो साध्यधर्मिण्युपनीयते येनोपदर्श्यते हेतुः सोऽभिधीयते।
—प्रमेयक० मा० ३।५०, पृ० ३७७।

२. उपनय उपमानम्, दृष्टान्तधर्मिसाध्यधर्मिणोः सादृश्यात्। ··
—प्रमेयक० म० ३।३७, पृष्ठ ३७४।

३. हेतोः पक्षधर्मतयोपसंहार उपनय इति।
—प्रमेयर० मा० ३।४६, पृ० १७२।

४. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः इति। उपनीयते साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो हेतुः साध्यधर्मिण्युपदर्श्यते येन स उपनय इति व्युत्पत्तेः।
—प्र० न० त० स्या० र० ३।४७, पृ० ५६९।

५. धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः।
—प्र० मी० २।१।१४, पृ० ५३।

६. दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः उपसंहारः स उपनयः उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः, यथा धूमवांश्चायमिति।
—वही, २।१।१४, पृ० ५३।

७. प्र० रत्नालं० ३।५०, पृ० १२१।

तने[1] लिखा है कि हेतुके कथनपूर्वक प्रतिज्ञाका पुनः अभिधान करना अर्थात् दुहराना निगमन है। इसे वात्स्यायन[2] उदाहरणपूर्वक स्पष्ट करते हैं कि जिस प्रकार हेतुकथनके उपरान्त साधर्म्यप्रयुक्त अथवा वैधर्म्यप्रयुक्त उदाहरणका उपसंहार किया जाता है उसी प्रकार 'उत्पत्तिधर्मक होनेसे शब्द अनित्य है' इस तरह हेतुकथनपूर्वक प्रस्तावित पक्षको दुहराना निगमन कहलाता है। वे[3] निगमन-साध्य अर्थको बतलानेके लिए साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त अनुमानप्रयोजक वाक्योंके विश्लेषणके साथ कहते हैं—'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है, 'उत्पत्तिधर्मा होनेसे' यह हेतु है, 'उत्पत्तिधर्मा स्थाली आदि द्रव्य अनित्य होते हैं' यह उदाहरण है, 'वैसा ही यह शब्द है' यह उपनय है, 'इसलिए उत्पत्तिधर्मा होनेसे शब्द अनित्य है' यह निगमन है। यह तो साधर्म्यप्रयुक्त अनुमानप्रयोजक वाक्यका उदाहरण है। वैधर्म्यप्रयुक्त वाक्यका उदाहरण इस प्रकार है—'शब्द अनित्य है', 'क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मा है', 'अनुत्पत्तिधर्मा आत्मादि द्रव्य नित्य देखा गया है', 'यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मा नहीं है', 'इसलिए उत्पत्तिधर्मा होनेसे शब्द अनित्य है'। तात्पर्य यह कि पंचावयववाक्यमें पाँचो (प्रतिज्ञासे निगमनतक) अवयव मिलकर परस्पर सम्बद्ध रहते हुए ही अनुमेयको प्रतिपत्ति कराते है। निगमनका काम है कि वह यह दिखाये कि पहले कहे गये चारों अवयववाक्य एकमात्र अनुमेयकी प्रतिपत्ति कराने की सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं[4]। उद्योतकर[5] और वाचस्पति मिश्रने[6] उपनय और निगमनको अवयवान्तर स्वीकार न करनेवालोकी मीमांसा करते हुए उन्हें पृथक् अवयव माननेकी आवश्यकताका प्रदर्शन किया है। उनका मत है कि दृष्टान्तगत धर्मकी अव्यभिचारिताको सिद्ध करके उसके द्वारा साध्यगत धर्मको तुल्यताका बोध करानेके लिए उपनयकी और प्रतिज्ञात अर्थके प्रमाणों (चार अवयववाक्यों) से उपपन्न हो जानेपर साध्यविपरीतका प्रसंग निषेध करनेके लिए निगमनकी आव-

---

१. हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।
—न्यायसू० १।१।३९।

२. न्यायभा० १।१।३६, पृ० ५२।

३. वही, १।१।३६, पृ० ५२।

४. सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।
—न्यायभा० १।१।३९, पृ० ५३।

५. दृष्टान्तगतस्य धर्मस्याव्यभिचारित्वे सिद्धे तेन साध्यगतस्य तुल्यधर्मता एवं चार्थ कृतक इति।

प्रतिज्ञाविषयस्यार्थस्याशेषप्रमाणोपपत्तौ साध्यविपरीतप्रसंगप्रतिषेधार्थं यत् पुनरभिधानं तत् निगमनमिति।

—न्यायवा० १।१।३८, ३९, पृ० १३७।

६. न्यायवा० ता० टी० १।१।३८, ३९, पृ० २९९–३०१।

श्यकता एवं उपयोगिता है। वाचस्पति[1] कहते हैं कि प्रतिज्ञादि चार अवयवोंके द्वारा हेतुके केवल तीन अथवा दो रूपोंका प्रतिपादन होता है, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्वका नहीं और अविनाभाव पाँच अथवा चार रूपोंमें समाप्त होता है। अतः अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंका संसूचन करनेके लिए निगमन आवश्यक है।

प्रशस्तपादने निगमन शब्दके स्थानमें 'प्रत्याम्नाय' शब्द रखा है और उसका स्वरूप प्रायः वही प्रस्तुत किया है जो न्यायपरम्परामें निगमनका है। पर ध्यान देनेपर उसमें कुछ वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है।[2] उनका मन्तव्य है कि अनुमेय-रूपसे जिसका उद्देश्य किया गया है और जिसका निश्चय नहीं हुआ है, उसका दूसरों (प्रतिपाद्यों) को निश्चय करानेके लिए प्रतिज्ञाका पुनः अभिधान करना प्रत्याम्नाय है। जिन प्रतिपाद्योंने हेत्वादि चार अवयववाक्योंसे अनुमेय-प्रतिपत्तिकी शक्ति तो प्राप्त कर ली है, पर उसका निश्चय नहीं, उन्हें प्रत्याम्नायवाक्यसे ही अनुमेयका निश्चय कराया जाता है। इसके बिना अन्य सभी अथवा प्रत्येक अवयव अनुमेयका निश्चय नहीं करा सकते। अतः प्रत्याम्नायवाक्यके कहे जानेपर ही पंचावयवरूप परार्थानुमानवाक्य पूर्ण होता है और वही परार्थानुमितिमें सक्षम है।

बौद्ध और मीमांसक उपनयकी तरह निगमनको भी नहीं मानते। अतः उनके न्याय-ग्रन्थोंमें उसका समर्थन न होकर निरास ही उपलब्ध होता है। धर्मकीर्तिने तो उपनय और निगमन दोनोंको असाधनांग कहकर उनके कहने पर असाधनांग निग्रहस्थान बतलाया है। सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार निगमनको मानते हैं। पर माठर उसे स्वीकार नहीं करते।

जैन तर्कशास्त्रमें निगमनका स्पष्ट कथन माणिक्यनन्दिने आरम्भ किया है। उनके बाद देवसूरि, हेमचन्द्र आदिने भी उसका निरूपण किया है। माणिक्यनन्दिने[3]

---

१. चतुर्भिः खल्ववयवैर्हेतोस्त्रीणि रूपाणि द्वे वा प्रतिपादिते न त्वबाधितविषयत्वासत्प्रति-पक्षत्वे। पंचसु वा चतुर्षु वा रूपेषु हेतोरविनाभावः परिसमाप्यते, तस्मादबाधितत्वास-त्प्रतिपक्षितत्वरूपद्वयसंसूचनाय निगमनम्।

—न्या० वा०, १।१।३९, पृ० ३०१-३०२।

२. अनुमेयत्वेनोद्दिष्टे चानिश्चिते च परेषां निश्चयापादनार्थं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं प्रत्या-म्नायः।...न ह्येतस्मिन्नसति परेषामवयवानां समस्तानां व्यस्तानां वा तदर्थवाचकत्व-मस्ति।...तस्मात् पंचावयवेनैव...।

—प्रश० भा० पृ० १२४-१२७।

३. प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।

—परीक्षामु० ३।५१।

प्रतिज्ञाके दुहरानेको निगमन कहा है। प्रभाचन्द्र[1] उस वाक्यको निगमन बतलाते हैं जिसके द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय चारोंको साध्यरूप एक अर्थमें साधकरूपसे सम्बन्धित किया जाता है। अनन्तवीर्यको इन दोनों परिभाषाओंमें कुछ कमी प्रतीत हुई है और जो युक्त भी है। वे[2] उसमें 'पक्षधर्मविशिष्टरूपसे' इतना विशेषण और जोड़ देना आवश्यक समझते हैं। अर्थात् उनकी दृष्टिसे साध्य-धर्मविशिष्टरूपसे प्रतिज्ञाका प्रदर्शन (दुहराना) निगमन है। जैसे 'धूमवाला होनेसे यह अग्निवाला है।' देवसूरि[3] और हेमचन्द्रका[4] निगमन-स्वरूप माणिक्य-नन्दि और प्रभाचन्द्र जैसा ही है। धर्मभूषणने[5] साधनको दुहराते हुए साध्यके निश्चयरूप वचनको निगमन कहा है। चारुकीर्तिने[6] उपनयकी तरह निगमनका भी लक्षण नव्यपद्धतिसे ग्रथित किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तिम दो अवयवों पर जैन तार्किकोंने उतना बल नहीं दिया जितना आरम्भके अवयवों पर दिया है। यही कारण है कि माणिक्य-नन्दिसे पूर्व इनपर विवेचन प्राप्त नहीं होता। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पंचावयवकी मान्यता मुख्यतया नैयायिकों तथा वैशेषिकोंकी है और वह वाद तथा शास्त्र क्षेत्रमें समान रूपसे स्वीकृत है। पर जैन विचारकोंने[7] वादमें तीन या दो तथा शास्त्रमें तीन, चार और पाँच अवयवोंका समर्थन करके उन्हे दो (वाद तथा शास्त्र) क्षेत्रोंमें विभक्त किया है। अतएव अन्तिम दो या तीन अवयवोंको वादापेक्षया स्वीकार न करने पर भी शास्त्रकी अपेक्षासे उनका जैन तर्कग्रन्थोंमें स्वरूप निरूपित है।[8]

(६-१०) पंच शुद्धियाँ :

भद्रबाहुने[9] उक्त प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंके अतिरिक्त उनकी पाँच शुद्धियाँ

---

१. प्रमेयक० मा० ३।५१, पृ० ३७७।
२. प्रतिज्ञाया उपसंहारः साध्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रदर्शनं निगमनम्।
 —प्रमेयर० मा० ३।४७, पृ० १७३।
३. प्र० न० त० ३।४८, पृ० ५६९।
४. प्र० मी० २।१।१५, पृ० ५३।
५. साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्। तस्माद्वह्निमानेवेति।
 —न्या० दी० पृ० १११।
६. पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितहेतुज्ञानव्याप्यत्वविशिष्टसाध्यतावच्छेदकाव-च्छिन्नप्रकारताशालिबोधजनकवाक्यत्वं निगमनत्वमित्यर्थः।
 —प्रमेयरत्नालं० ३।५१, पृ० १२१।
७. प्रमेयर० मा० ३।४७, पृ० १७३।
८. परीक्षामु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२।
९. दशवै० नि० गा० ४९, ५०।

भी प्रतिपादित की हैं और इस प्रकार उन्होंने अधिक-से-अधिक दश अवयवोंका कथन किया है। वे इस प्रकार हैं :—१. प्रतिज्ञा, २. प्रतिज्ञाशुद्धि, ३. हेतु, ४. हेतुशुद्धि, ५. दृष्टान्त, ६. दृष्टान्तशुद्धि, ७. उपसंहार, ८. उपसंहारशुद्धि, ९. निगमन और १०. निगमनशुद्धि। देवसूरि[1], हेमचन्द्र[2], और यशोविजयने[3] भी उक्त दशावयवोंका समर्थन किया है। इन तार्किकोंका मन्तव्य है कि जिस प्रतिपाद्यको प्रतिज्ञादि पंचावयवोंके स्वरूपमें शंका हो या उनमें पक्षाभासादि दोषोंकी सम्भावना हो तो उस प्रतिपाद्यको उनके परिहारके लिए उक्त प्रतिज्ञाशुद्धि आदि पाँच शुद्धियों-का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने[4] एक दूसरे प्रकारसे भी दशावयवोंका निरूपण किया है। उनके नाम हैं—१. प्रतिज्ञा, २. प्रतिज्ञाविभक्ति, ३. हेतु, ४. हेतुविभक्ति, ५. विपक्ष, ६. विपक्ष-प्रतिषेध, ७ दृष्टान्त, ८. आशंका, ९. आशंकाप्रतिषेध और १०. निगमन। पर इन दश अवयवोंका देवसूरि आदि किसी भी उत्तरवर्ती जैन तार्किकने अनुगमन नहीं किया और न उनका उल्लेख किया है।

ध्यान रहे कि ये दोनों दशावयवोंकी मान्यताएँ श्वेताम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं। दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने उन्हें प्रश्रय नहीं दिया। इसके कारण पर विचार करते हुए पं० सुखलालजी संघवीने[5] लिखा है कि 'इस तफावतका कारण दिगम्बर परम्पराके द्वारा श्वेताम्बर आगम-साहित्यका परित्याग जान पड़ता है।' हमारा अध्ययन है कि दिगम्बर परम्पराके तार्किकोंने अपने तर्कग्रन्थोंमें न्याय और वैशेषिक परम्पराके पंचावयवों पर ही चिन्तन किया है, क्योंकि वे ही सबसे अधिक लोकप्रसिद्ध, चर्चित और सामान्य थे। यही कारण है कि वात्स्यायन द्वारा समीक्षित और युक्तिदीपिकाकार द्वारा प्रतिपादित जिज्ञासादि दशावयवोंकी भी उन्होंने कोई अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा नहीं की। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार वात्स्यायनने[6] पाँचों अवयवोंका प्रयोजन बतलाते हुए हेतु और उदाहरणकी परिशुद्धिका जिक्र किया है, जिसका आशय यह है कि दृष्टान्तगत साध्य-साधनधर्मोंमें साध्यसाधनभाव व्यवस्थित हो जाने पर साधनभूत धर्मको हेतु बनानेसे वह अनुमेयका अव्यभिचारी होता है। तात्पर्य यह कि वात्स्यायनने निर्दोष हेतु और उदाहरणके प्रयोग द्वारा ही पक्षादि दोषपरिहार हो जानेका प्रतिपादन किया है।

---

१. प्र० न० त० स्या० रत्ना० ३।४२, पृ० ५६५।
२. प्र० मी० स्वो० वृ० २।१।१५, पृ० ५३।
३. जैनतर्कभा० पृ० १६।
४. दशवै० नि० गा० १३७।
५. प्र० मी० भा० टि० पृष्ठ ९५।
६. न्या० भा० १।१।३९, पृ० ५४।

इसी तरह दिगम्बर जैन तार्किकोंने भी पक्षादि दोषोंका परिहार साध्याविनाभावी हेतुके प्रयोग और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध पक्ष (साध्य) के प्रयोग द्वारा ही हो जानेसे उन्हें स्वीकार नहीं किया ।

ध्यातव्य है कि हेमचन्द्रने[1] स्वार्थानुमानके प्रकरणमें साधन, पक्ष और दृष्टान्त का तथा परार्थानुमानके निरूपणावसरपर प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनका कथन किया है । प्रतीत होता है कि उनका यह प्रतिपादन ज्ञानात्मक स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमानके अङ्गों और शब्दात्मक परार्थानुमानके अवयवोंके विभाजनकी दृष्टिसे हुआ है । पर माणिक्यनन्दि[2] और उनके अनुगामी प्रभाचन्द्र[3], अनन्तवीर्य[4], देवसूरि[5] आदिने ऐसा पृथक् निरूपण नहीं किया । उन्होंने मात्र सामान्य अनुमानके अवयवोंका कथन किया है, शब्दात्मक परार्थानुमानके पाँच अवयवोंका नहीं । इसे आचार्योंकी एक विवक्षाधीन निरूपण-पद्धति ही समझना चाहिए ।

---

१. प्र० मी० १।२।१०, ११, २०-२३, २।१।११, १२, १३, १४, १५ ।
२. परीक्षामु० ३।३७ ।
३. प्रमेयक० मा० ३।३७, ३।५२ का उत्थानिका वाक्य पृ० ३७७ ।
४. प्रमेयर० मा० ३।३१, पृ० १९५ तथा ३।४३, ४४, ४५, ४६, ४७ और ४८ की उत्थानि० ।
५. प्र० न० त० ३।२८, ४२-४६ ।

द्वितीय परिच्छेद

हेतु-विमर्श

१. हेतु-स्वरूप :

अनुमानका प्रधान आधार-स्तम्भ हेतु है। उसके बिना अनुमानकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतएव अनुमानस्वरूप और अवयव-विमर्शके प्रसङ्गमें हेतुके प्रयोगका विचार करते हुए उसके स्वरूपपर भी यत्किंचित् लिखा गया है। यहाँ उसका कुछ विस्तारसे विचार प्रस्तुत है।

साधारणतया आममान्यता है कि हेतुका स्वरूप त्रिलक्षण अथवा पंचलक्षण है। परन्तु अध्ययनसे अवगत होता है कि हेतुका स्वरूप त्रिलक्षण अथवा पंचलक्षण ही दार्शनिकोंने नहीं माना, अपितु एकलक्षण, द्विलक्षण, चतुर्लक्षण, षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उन्होंने स्वीकार किया है।

अक्षपादने[1] उदाहरणसादृश्य तथा उदाहरणवैसादृश्यसे साध्यधर्मको सिद्ध करनेवाले साधनवचनको हेतु कहा है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वात्स्यायनने[2] लिखा है कि साध्य (पक्ष) और साधर्म्य उदाहरण (सपक्ष) में धर्म (साधन) के सद्भाव तथा वैधर्म्य उदाहरण (विपक्ष) में उसके असद्भावका प्रतिसन्धान कर साध्यको सिद्ध करनेवाला साधनताका वचन हेतु है। जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञाको सिद्ध करनेके लिए 'उत्पत्ति धर्मवाला होनेसे' ऐसे वचनका प्रयोग करना। जो उत्पत्तिधर्मवाला होता है वह अनित्य देखा गया है। जो उत्पन्न नहीं होता वह नित्य होता है—यथा आत्मादि द्रव्य। उद्योतकरने[3] न्यायसूत्रकार और भाष्यकार दोनोंका विस्तारपूर्वक समर्थन किया है।

---

१. उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्।

—न्यायसू० १।१।३४, ३५।

२. साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः···'उत्पत्ति-धर्मकत्वात्' इति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति। उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः। कथम्? अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकत्वात्, अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यम्·· यथा आत्मादिद्रव्यम्।

—न्यायभा० १।१।३४, ३५; पृ० ४८, ४९।

३. न्यायवा० १।१।३४, ३५; पृ० ११८-१२४।

द्विलक्षण : त्रिलक्षण

अक्षपाद और उनके व्याख्याता वात्स्यायन तथा उद्योतकरके उपर्युक्त हेतुलक्षण-विवेचनपर ध्यान देनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने हेतुको द्विलक्षण और त्रिलक्षण स्वीकार किया है। उद्योतकर[1] न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारके अभिप्रायका उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि प्रतिसन्धानका अर्थ है साध्यमें व्यापकत्व और उदाहरणमें सम्भव (सत्त्व)। और इस प्रकार हेतु द्विलक्षण तथा त्रिलक्षण प्राप्त होता है। जब कहा जाता है कि उदाहरणके साथ ही साधर्म्य हो तो विपक्षको स्वीकार न करनेसे द्विलक्षण हेतु कथित होता है। और जब विपक्षको अंगीकार किया जाता है तो यह फलित होता है कि उदाहरणके साथ ही साधर्म्य हो, अनुदाहरणके साथ नहीं। तात्पर्य यह कि हेतुको साध्य (पक्ष) में व्यापक, उदाहरण (सपक्ष) में विद्यमान और अनुदाहरण (विपक्ष) में अविद्यमान होना चाहिए। और इस प्रकार त्रिलक्षण हेतु अभिहित होता है। उद्योतकरने[2] एक अन्य स्थलपर भी सूत्रकारके अनुमानसूत्रगत 'त्रिविधम्' का व्यख्यान्तर देते हुए लिङ्ग (हेतु) को प्रसिद्ध, सत् और असन्दिग्ध कहकर प्रसिद्धसे पक्षमें व्यापक, सत्से सजातीयमें रहनेवाला और असन्दिग्धसे सजातीयाविनाभावि (विपक्षव्यावृत्त) बतलाया है और इस तरह हेतुको त्रिलक्षण अथवा त्रिरूप प्रकट किया है। इससे जान पड़ता है कि न्याय-परम्परामें आरम्भमें हेतुको द्विलक्षण और त्रिलक्षण माना गया है।

प्रशस्तपादने[3] काश्यपकी दो कारिकाओंको उद्धृत किया है, जिनमें लिंग और अलिंगका स्वरूप देते हुए कहा गया है कि लिंग वह है जो अनुमेयसे सम्बद्ध है, अनुमेयसे अन्वितमें प्रसिद्ध है और अनुमेयाभावमें नहीं रहता है। ऐसा लिंग अनु-

---

१ सोऽयं हेतुः साध्योदाहरणाभ्यां प्रतिसंहितः। किं पुनरस्य प्रतिसन्धानम् ? साध्ये व्यापकत्वं उदाहरणे च सम्भवः। एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते। उदाहरणेनैव साधर्म्यमित्येव ब्रुवताऽनभ्युपगतविपक्षस्याप्युदाहरणेनैव साधर्म्यमिति द्विलक्षणोऽपि हेतुर्भवतीत्युक्तम्। यदा पुनर्विपक्षमभ्युपैति तदाऽप्युदाहरणेनैव साधर्म्यं नानुदाहरणेनेति त्रिलक्षणो हेतुरित्युक्तं भवति।

—न्यायवा० १।१।१४; पृ० ११६।

२. अथवा त्रिविधमिति लिङ्गस्य प्रसिद्धसदसन्दिग्धतामाह। प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं, सदिति सजातीयेऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।

—न्यायवा० १।१।५, पृ० ४९।

३. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिंगमनुमापकम्॥
विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिंगं काश्यपोऽब्रवीत्॥

—प्रश० भा० पृ० १००।

मेयका अनुमापक होता है। इससे विपरीत अलिंग (लिङ्गाभास) है। यहाँ 'अनुमेयसे सम्बद्धका पक्षधर्म, 'अनुमेयसे अन्वितमें प्रसिद्ध' का सपक्षमें विद्यमान और 'अनुमेयाभावमें नहीं रहता है' का विपक्षमें अविद्यमान अर्थ है। काश्यपके इस प्रतिपादनसे अवगत होता है कि उन्हें हेतु त्रिरूप अभिमत है। उद्योतकरने[1] न्यायवार्तिकमें एक स्थलपर 'काश्यपीयम्' शब्दोंके साथ कणादका संशयलक्षणवाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्'[2] आदि सूत्र उद्धृत किया है। उद्योतकरका यह उल्लेख यदि अभ्रान्त है तो यह कहनेमें कोई संकोच नहीं कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जिन्होंने वैशेषिकदर्शनका प्रणयन एवं प्रवर्त्तन किया है। और तब हेतुको त्रिरूप माननेका सिद्धान्त कणादका है और वह अक्षपादसे भी पूर्ववर्ती है, यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है। प्रशस्तपादने[3] कणादका समर्थन करते हुए उसका विशदीकरण किया है।

सांख्य विद्वान माठरने[4] भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है।

बौद्ध तार्किक न्यायप्रवेशकारने[5] भी हेतुको त्रिरूप प्रतिपादन किया, जिसका अनुसरण धर्मकीर्ति[6] प्रभृति सभी बौद्ध विचारकोंने किया है।

इस प्रकार नैयायिकों, वैशेषिकों, सांख्यों और बौद्धों द्वारा हेतुका लक्षण त्रैरूप्य माना गया है। यद्यपि हेतुका त्रैरूप्य लक्षण बौद्धोंकी ही मान्यताके रूपमें प्रसिद्ध है, नैयायिकों, वैशेषिकों और सांख्योंकी मान्यताके रूपमें नहीं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि त्रैरूप्य और हेतुके सम्बन्धमें जितना सूक्ष्म एवं विस्तृत विचार बौद्धतार्किकोंने किया तथा हेतुवार्तिक[7], हेतुबिन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका प्रणयन किया, उतना अन्य विद्वानोंने न विचार ही किया और न कोई उस विषयकी स्वतंत्र कृतियोंका निर्माण किया; पर उपर्युक्त अनुशीलनसे प्रकट है कि हेतुके त्रैरूप्यस्वरूपकी मान्यता वैशेषिकों, आद्य नैयायिकों और सांख्योंकी भी रही है और

---

१. न्यायवा० पृ० ९९।
२. वैशेषिकसू० २।२।१७।
३. यदनुमेयेनार्थेन···सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र···प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च··· प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिंगं भवतीति।···

—प्रश० भा० पृ० १००, १०१

४. सांख्यका० माठरवृ० का० ५।
५. हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।

—न्यायप्र० पृ० १।

६. न्यायबि० पृ० २२, २३। हेतुबि० पृ० ५२। तत्त्वसं० का० १३६२ आदि।
७. न्यायवा० पृ० १२८ पर उल्लिखित।

वह बौद्धोंकी अपेक्षा प्रायः प्राचीन है। बौद्धोंकी त्रिरूप हेतुकी मान्यता सम्भवतः वसुबन्धु और दिङ्नागसे आरम्भ हुई है[1]।

चतुर्लक्षण : पंचलक्षण :

नैयायिकोंको द्विलक्षण और त्रिलक्षण हेतुकी जो मान्यताओंका ऊपर निर्देश किया गया है। उद्योतकर[2] और वाचस्पति मिश्रके[3] उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि न्यायपरम्परामें चतुर्लक्षण और पंचलक्षण हेतुकी भी मान्यताएँ स्वीकृत हुई हैं। वाचस्पतिने स्पष्ट लिखा है कि दो हेतु (केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी) चतुर्लक्षण हैं तथा एक हेतु (अन्वयव्यतिरेकी) पंचलक्षण। जयन्तभट्टका[4] मत है कि हेतु पंचलक्षण ही होता है, अपंचलक्षण नहीं। अतएव वे केवलान्वयीको हेतु ही नहीं मानते। शंकर मिश्रने[5] हेतुकी गमकतामें जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपोंको हेतुलक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वय-व्यतिरेकी हेतुमें पांच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। उक्त पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्वमें अबाधितविषयत्वको मिलाकर चार तथा इन चारमें असत्प्रतिपक्षत्वको सम्मिलित करके पांच रूप स्वीकार किये गये हैं। जयन्तभट्टका मत है कि गौतमने पांच हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया है, अतः उनके निरासार्थ हेतुके पांच रूप मान्य हैं[6]। वैशेषिक[7] और बौद्धोंने[8] भी हेतुके तीन रूपोंके स्वीकारका प्रयोजन अपने अभिमत तीन हेत्वाभासों (असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध) का निराकरण बतलाया है। यहाँ वाचस्पति[9] और जयन्तभट्टकी[10] एक नयी बात उल्लेखनीय है। उन्होंने जैन तार्किकों द्वारा अभिमत हेतुके एकलक्षण अविनाभावके महत्त्व एवं अनिवार्यताको

---

१. वाचस्पतिमिश्र, न्यायवा० ता० टी० १।१।३५, पृ० २८९। तथा पृ० १८९।

२. चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति।
—न्यायवा० १।१।५, पृ० ४६।

३. तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम्। एकं पंचलक्षणमिति।
—न्याय० ता० टी० १।१।५, पृ० १७४।

४. केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव अपंचलक्षणस्य हेतुत्वाभावात्।
—न्यायकलि० पृ० ९७।

५. वैशेषि० उप० पृ० ६७।

६. जयन्तभट्ट, न्यायकलि० पृष्ठ० १४।

७. वैशेषि० सू० ३।१।१५। प्रश० भा० पृ० १००।

८. न्यायप्र० पृ० ३। प्रमाणवा० १।१७।

९. यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा लिंगस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिंगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोबलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १७८।

१०. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। —न्यायकलि० २।

स्वीकार कर उसे पंचलक्षणोंमें समाप्त माना है। अर्थात् उसे पंचलक्षणरूप प्रकट किया है। वाचस्पति तो यह भी कहते हैं कि एक अविनाभावके द्वारा ही हेतुके पाँचों रूपोंका संग्रह हो जाता है। उनके इस कथनसे अविनाभावका महत्त्व स्पष्ट प्रतीत होता है। पर वे उसे तो त्याग देते हैं, किन्तु पंचलक्षण या चार लक्षण-वाली अपनी न्यायपरम्पराके मोहको नहीं छोड़ सके। इस अध्ययनसे स्पष्ट है कि न्यायपरम्परामें हेतुस्वरूपकी द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण ये चार मान्यताएँ रही हैं। उनका कोई एक निश्चित पक्ष रहा हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। पर हाँ, पाँचरूप्य हेतुलक्षण उत्तरकालमें अधिक मान्य हुआ और उसीकी मीमांसा अन्य तार्किकोंने की है।

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने[1] त्रिलक्षण हेतुका निर्देश किया है। पर उनके त्रिलक्षण अन्य दार्शनिकोंके त्रिलक्षणोंसे भिन्न हैं और वे इस प्रकार हैं—(१) नियतसम्बन्धैकदर्शन, (२) सम्बन्धनियमस्मरण और (३) अबाधितविषयत्व।

षड्लक्षण :

धर्मकीर्तिने[2] हेतुबिन्दुमें नैयायिकों और मीमांसकोंकी किसी मान्यताके आधार-पर हेतुके षड्लक्षणका निर्देश किया है। इन षड्लक्षणोंमें—(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितविषयत्व, (५) विवक्षि-तैकसंख्यत्व और (६) ज्ञातत्व ये छह रूप हैं। यद्यपि यह षड्लक्षण हेतुकी मान्यता न नैयायिकोंके यहाँ उपलब्ध होती है और न मीमांसकोंके यहाँ। फिर भी सम्भव है किसी नैयायिक और मीमांसकका हेतुको षड्लक्षण माननेका पक्ष रहा हो और उसीका उल्लेख धर्मकीर्ति तथा उनके टीकाकार अर्चटने किया हो। हमारा विचार है कि प्राचीन नैयायिकोंने जो ज्ञायमान लिङ्गको और भाट्टमीमांसकोंने ज्ञातताको अनुमितिमें करण कहा है और जिसका उल्लेख करके समालोचन विश्वनाथ पंचा-ननने[3] किया है, सम्भव है धर्मकीर्ति और अर्चटने उसीका निर्देश किया है।

१. तस्मात्पूर्णमिदमनुमानकारणपरिगणनम्—नियतसम्बन्धैकदर्शनं सम्बन्धनियमस्मरणं चाबाधकत्वं चाबाधितविषयत्वं चेति।

—प्रकर० पंचि० पृ० २१२।

२. (क) षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे। त्रीणि चैतानि अबाधितविषयत्वं विवक्षितैकसंख्यत्वं ज्ञातत्वं च।

—हेतुबि० पृ० ६८।

(ख) षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते…।

—अर्चट, हेतुबि० टी० पृ० २०५।

३. (क) प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति…।

—सिद्धान्तमु० का० ६७, पृ० ५०।

(ख) भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता तया ज्ञानमनुमीयते।

—वही, पृ० ११९।

सप्तलक्षण :

जैन तार्किक वादिराजने[1] न्यायविनिश्चयविवरणमें हेतुकी एक सप्तलक्षण मान्यताका भी सूचन करके उसकी समीक्षा की है। उनके अनुसार सप्तलक्षण इस प्रकार है—(१) अन्यथानुपपन्नत्व, (२) ज्ञातत्व, (३) अबाधितविषयत्व, (४) असत्प्रतिपक्षत्व और (५–७) पक्षधर्मत्वादि तीन। पर यह मान्यता किसकी है, यह उन्होंने नहीं बतलाया और न अन्य साधनोंसे ज्ञात हो सका।

जैन तार्किकों द्वारा स्वीकृत हेतुका एकलक्षण : अन्य लक्षण-समीक्षा :

जैन विचारकोंने हेतुका स्वरूप एकलक्षण स्वीकार किया है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और जिसकी मीमांसा उद्योतकर[2] (ई० ६००) तथा शान्तरक्षित[3] (ई० ७०५–७६३) ने की है। उसका मूल स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसागत 'अविरोधतः'[4] पदमें सन्निहित है। उनके व्याख्याकार अकलङ्कदेवने[5] उसे 'एकलक्षण' हेतुका प्रतिपादक कहा है। विद्यानन्दने[6] भी उसे हेतु-लक्षण-प्रकाशक बतलाया है।

समन्तभद्रके पश्चात् पात्रस्वामीने स्पष्टतया हेतुका लक्षण एकमात्र 'अन्यथानुपपन्नत्व' (अविनाभाव) प्रतिपादित किया और त्रैरूप्यकी समीक्षा की है, जिसका विस्तृत उद्धरण पात्रस्वामीके मतके रूपमें शान्तरक्षितने[7] तत्त्वसंग्रहमें उप-

---

१. अन्यथानुपपन्नत्वादिभिश्चतुर्भिः पक्षधर्मत्वादिभिश्च सप्तलक्षणो हेतुरिति त्रयेणेति किम्
—न्यायवि० वि० २।१५५, पृ० १७८-१८० ।

२. (क) एतेन तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरिति प्रत्युक्तम् ।
—न्यायवा० १।१।५, पृ० ५५ ।
(ख) तादृगविनाभाविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे···तादृशा विना न भवति ।
—वही, १।१।३५, पृ० १३१ ।

३. तत्त्वसं० का० १३६४-१३७९ ।

४. सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधतः ।
—आप्तमी० का० १०६ ।

५. सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, अविरोधादित्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत्। एकलक्षणस्य तु गमकत्वं···इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् ।
—अष्टश० अष्टस० पृ० २८९, आ० मी० का० १०६ ।

६. भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति ।
—अष्टस० पृ० २८९, आ० मी० का० १०६ ।

७. तत्त्वसं० का० १३६४-१३७९ ।

लब्ध है। आचार्य अनन्तवीर्यके[1] उल्लेखानुसार पात्रस्वामीने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को हेतुलक्षण सिद्ध करने और त्रैरूप्यको निरस्त करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ रचा था, जो आज अनुपलब्ध है और जिसके अस्तित्व-का मात्र उल्लेख मिलता है। पात्रस्वामीके उक्त हेतुलक्षणको परवर्ती सिद्धसेन[2], अकलङ्क[3], कुमारनन्दि[4], वीरसेन[5], विद्यानन्द[6] आदि जैन तार्किकोंने अनुसृत एवं विस्तृत किया है।

पात्रस्वामीका मन्तव्य है कि जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व (अन्यथा—साध्य-के अभावमें अनुपपन्नत्व—नहीं होना, अविनाभाव) है वह हेतु है, उसमें त्रैरूप्य रहे, चाहे न रहे, तथा जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वह हेतु नहीं है उसमें त्रैरूप्य रहनेपर भी वह बेकार है। इन दोनों (अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भाव और असद्भाव) स्थलोंके यहाँ दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) एक मुहूर्तके बाद शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। इस सद्-अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु रोहिणी नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः पक्षधर्मत्व नहीं है। पर कृत्तिकोदयका शकटोदय साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व होनेके कारण वह गमक है और सद्धेतु है।

(२) गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्रीका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह। इस असद् अनुमानमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व तीनों हैं। परन्तु तत्पुत्रत्वका श्यामत्वके साथ अविनाभाव नहीं है और इसलिए तत्पुत्रत्व हेतु श्यामत्वका गमक नहीं है और न सद्धेतु है।

फलतः सर्वत्र हेतुओंमें अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावसे गमकता और असद्भावसे अगमकता है। पात्रस्वामीके इस मतको यहां तत्त्वसंग्रहसे उद्धृत किया जाता है—

अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशंकते—
अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।
नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात्क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥
अन्यथानुपपन्नत्वं यस्यासौ हेतुरिष्यते।
एकलक्षणकः सोऽर्थश्चतुर्लक्षणको न वा॥

---

१. अनन्तवीर्य, सिद्धिवि० ६।२, पृष्ठ ३७१-३७२।
२. न्यायाव० का० २२।
३. न्यायवि० का २।१५४, १५५, पृ० १७७।
४. प्रमाणप० पृ० ७२ में विद्यानन्दद्वारा उद्धृत कुमारनन्दिका 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं' —वाक्य।
५. षट्खं० टी० धवला ५।५।५, पृ० २८० तथा ५।५।४३, पृ० २४५।
६. प्रमाणप० पृ० ७२। त० श्लो० भा० १।१३।१२३, पृ० २०५।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥
तेनैकलक्षणो हेतुः प्राधान्याद् गमकोऽस्तु नः ।
पक्षधर्मत्वादिभिस्त्वन्यैः किं व्यर्थैः परिकल्पितैः ॥[1]

उत्थानिकावाक्य सहित इन कारिकाओंसे विदित है कि पात्रस्वामीने हेतुका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व माना है ।

कुमारनन्दि भट्टारकने[2] भी अन्यथानुपपत्तिरूप एकलक्षणको ही लिंगका स्वरूप स्वीकार किया है। सिद्धसेनने[3] अन्यथानुपपन्नत्वको हेतुलक्षण माननेकी जैन तार्किकों-की प्रसिद्धिको बतलाते हुए उसे ही हेतुलक्षण अंगीकार किया है। विशेष यह कि उन्होंने[4] हेतुको साध्याविनाभावी कहकर अविनाभावको अन्यथानुपपन्नत्वका पर्याय प्रकट किया है, जिसका उल्लेख समन्तभद्र[5] पहले ही कर चुके थे। अकलंकने[6] सूक्ष्म और विस्तृत विचारणाद्वारा पात्रस्वामीके उक्त हेतुलक्षणको पुष्ट किया है। न्यायविनिश्चय[7] और प्रमाणसंग्रहमें[8] 'प्रकृताभावेऽनुपपन्नं साधनं' अर्थात् जो साध्यके अभावमें न हो वह साधन है। और लघीयस्त्रयमें[9] 'लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्' अर्थात् साध्यके साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है वह लिंग है, यह कह कर उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको ही हेतु-लक्षण समर्थित किया है। न्यायविनिश्चयमें[10] एक स्थलपर पात्रस्वामीकी 'अन्यथा-

---

१. तत्त्वसं का० १३६४, १३६५, १३६६, १३७६, पृ० ४०५-४०७ ।

२. अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिंगमग्यते ।
—उद्धृत, प्रमाणप० पृ० ७२ ।

३. अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम् ।
—न्यायाव० का० २२ ।

४. साध्याविनाभुवो हेतोः...।
—वही, का० १३ ।
साध्याविनाभुवो लिंगात्...।
—वही, का० ५ ।

५. आप्तमी० का० १७, १८, ७५ ।

६. न्यायवि० का० ३२३ ।

७. न्यायवि० का० २६९, अकलंकग्र० पृ० ६१ ।

८. प्र० सं० का० २१, अकलंकग्र० पृ० १०२ ।

९. (क) लघीय० का० १२, अकलंकग्र० पृ० ५ ।
(ख) साध्यार्थासम्भवाभावनियमनिश्चयैकलक्षणो हेतुः ।
—प्रमाणसं० स्वो० वृ० का० २१, अकलंकग्र० पृ० १०२ ।
(ग) त्रिलक्षणयोगेऽपि प्रधानमेकलक्षणं तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः। तदेव प्रतिबन्धः पूर्वदीतसंयोग्यादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकम् ।
—अष्टश० अष्टस० पृ० २८९, आ० मी० का० १०६ ।

१०. न्या० वि० का० ३२३ ।

नुपपन्नत्वं' कारिकाको उसकी ३२३ वीं कारिकाके रूपमें प्रस्तुत करके उसे ग्रन्थ-का ही अंग बना लिया है। जहां अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है उन्हें वे[1] हेत्वाभास बतलाते हैं और इस तरह परकल्पित स्वभावादि, वीतादि, संयोग्यादि और पूर्ववदादि हेतुओंको उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावमें हेतु और असद्भावमें हेत्वाभास घोषित किया है। तात्पर्य यह कि अकलंक भी अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको हेतुका प्रधान और एकलक्षण मानते हैं। तथा त्रिलक्षणोंको उसके बिना अनुपयोगी, व्यर्थ और अकिंचित्कर प्रतिपादन करते हैं।[2]

धर्मकीर्तिने[3] भी यद्यपि अविनाभावको स्वीकार किया है, पर वे उसे उक्त पक्षधर्मत्वादि तीन रूपों तथा स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि इन तीन हेतुभेदोंमें ही सीमित प्रतिपादित करते हैं। अकलंकने[4] उनके इस मतकी आलोचना करते हुए कहा है कि कितने ही हेतु ऐसे हैं जिनमें न पक्षधर्मत्वादि है और न वे उक्त तीन हेतुओंके अन्तर्गत हैं। पर उनमें अविनाभाव पाया जाता है। यथा[5]—

(१) मुहूर्त्तान्तमें शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है।

यहां कृत्तिकाका उदय हेतु पक्ष—शकटमें नहीं रहता, अतः उसमें पक्षधर्मत्व नहीं है। कोई सपक्ष न होनेसे सपक्षसत्त्व भी नहीं है। इसी प्रकार कृत्तिकाका उदय शकटोदयका न स्वभाव है और न कार्य। तथा उपलम्भरूप होनेसे उसके अनुपलम्भ होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। अतः केवल अविनाभावके बलसे वह अपने उत्तरवर्ती शकटोदयका गमक है।[6]

(२) कल प्रातः सूर्यका उदय होगा, क्योंकि आज उसका उदय है।

यहाँ आजका सूर्योदय कलके प्रातःकालीन सूर्यमें नहीं रहता, अतः पक्षधर्मत्व

---

१. न्या० वि० का० ३४३, अकलंकग्र० पृ० ७६।
२. न्या० वि० का० ३७०, ३७१, पृ० ७९।
३. हेतुबि० पृ० ५४।
४. लघीय० का० १३, १४, न्यायवि० का० ३३८, ३३९।
५. भविष्यत् प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात्। श्व आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥
—लघीय० का० १४।
६. शकटं रोहिणी धर्मी मुहूर्त्तान्ते भविष्यदुदेष्यदिति साध्यधर्मः, कुतः? कृत्तिकोदयादिति साधनम्। न खलु कृत्तिकोदयः शकटोदयस्य कार्यं स्वभावो वा, केवलमविनाभावबलाद् गमयत्येव स्वोत्तरम्।—तथा श्वः प्रातः आदित्यः सूर्यः उदेता उदेष्यति अद्यादित्योदयादिति प्रतिपद्येत। तथा श्वो ग्रहणं राहुस्पर्शो भविष्यति एवंविधफलकांक्षादिति वा प्रतिपद्येत सर्वत्राव्यभिचारात्।
—अभयचन्द्रसूरि, लघीय० ता० वृ० पृ० १३।

नहीं है। इसीतरह वह प्रातःकालीन सूर्योदयका न स्वभाव है और न कार्य। मात्र अविनाभावके कारण वह गमक है।

(३) ग्रहण पडेगा, क्योंकि अमुक फल है।

यहाँ भी न पक्षधर्मत्वादि हैं और न स्वाभावादि हेतु। केवल हेतु स्वसाध्यका अविनाभावी होनेसे उसका अनुमापक है।

अतः हेतुका त्रैरूप्य और त्रैविध्यका नियम निर्दोष नहीं है। पर अविनाभाव ऐसा व्यापक और अव्यभिचारी लक्षण है जो समस्त सद्धेतुओंमें पाया जाता है तथा असद्धेतुओंमें नहीं। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा समस्त सद्धेतुओंका संग्रह भी हो जाता है। सम्भवतः इसीसे अकलंकदेवने पात्रस्वामीकी उक्त 'अन्यथानुपपन्नत्वं' कारिकाको अपनाकर 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुका अव्यभिचारी और प्रधान लक्षण कहा है। अपिच[1], 'समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'सत्त्व' हेतुको सपक्षसत्त्वके अभावमें भी गमक माना गया है। स्पष्ट है कि सबको पक्ष बना लेने पर सपक्षका अभाव होनेसे सपक्षसत्त्व नहीं है। अतएव अविनाभाव तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्धोंसे नियन्त्रित नहीं है, प्रत्युत वे अविनाभावसे नियन्त्रित हैं। अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम और क्रमभावनियम है[2]। सहभावनियम कहीं तादात्म्यमूलक होता है और कहीं उसके बिना केवल सहभावमूलक। इसी तरह क्रमभावनियम कहीं कार्यकारणभाव (तदुत्पत्ति) मूलक और कहीं मात्र क्रमभावमूलक होता है। उदाहरणार्थ पूर्वचर[3], उत्तरचर[4], सहचर[5] आदि हेतु हैं, जिनमें न तादात्म्य है और न तदुत्पत्ति। पर मात्र क्रमभावनियम रहनेसे पूर्वचर तथा उत्तरचर और सहभावनियम होनेसे सहचर हेतु गमक हैं।

वीरसेनने[6] भी हेतुको साध्याविनाभावी और अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणसे युक्त

---

१. न्यायवि० का० ३८१, अकलंकग्र० पृ० ८०।

२. परीक्षामु० ३।१६, १७, १८।

३,४. सिद्धिवि० ६।१६, लघीय० का० १४।

५. सिद्धिवि० ६।१५, न्यायवि० का० ३३८, ३३९। अ० ग्र०, पृ० ७५।

६. हेतुः साध्याविनाभावि लिंगं अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणोपलक्षितः।

—षट्खं० टी० धव० ५।५।५०, पृ० २८७।

त्रिलक्षणं लिंगं ? अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणम्। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति एतैस्त्रिभिर्लक्षणैरुपलक्षितं वस्तु किं न लिंगमिति चेत्, न, व्यभिचारात्। तद्यथा—पक्वान्याम्रफलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्ताम्रफलवत्... इत्यादीनि साधनानि त्रिलक्षणान्यपि न साध्यसिद्धये भवन्ति। विश्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्, नभसि चन्द्रोदयात्... अन्यथानुपपत्तेः—राष्ट्रभंगः राष्ट्राधिपतेर्मरणं वा अविनाशोऽस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादीनि साधनानि

बतलाया है। तथा पक्षधर्मत्वादिको हेतुलक्षण माननेमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोनों दोष दिखाये हैं। जैसे—(१) ये आम्रफल पक्व हैं, क्योंकि एकशाखाप्रभव हैं, उपयुक्त आम्रफलकी तरह। (२) वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह। (३) वह भूमि समस्थल है, क्योंकि भूमि है, समस्थलरूपसे प्रसिद्ध भूभागकी तरह। (४) वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि पार्थिव है, काष्ठकी तरह, इत्यादि हेतु त्रिलक्षण होनेपर भी अविनाभावके न होनेसे साध्यकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं हैं। इसके विपरीत अनेक हेतु ऐसे हैं जो त्रिलक्षण नहीं हैं पर अन्यथानुपपत्तिमात्रके सद्भावसे गमक हैं। यथा—(१) विश्व अनेकान्तात्मक है, क्योंकि वह सत्स्वरूप है। (२) समुद्र बढ़ता है, क्योंकि चन्द्रकी वृद्धि अन्यथा नहीं हो सकती। (३) चन्द्रकान्तमणिसे जल झरता है, क्योंकि चन्द्रोदयकी उपपत्ति अन्यथा नहीं बन सकती। (४) रोहिणी उदित होगी, क्योंकि कृत्तिकाका उदय अन्यथा नहीं हो सकता। (५) राजा मरनेवाला है, क्योंकि रात्रिमें इन्द्रधनुषकी उत्पत्ति अन्यथा नहीं हो सकती। (६) राष्ट्रका भंग या राष्ट्रपतिका मरण होगा, क्योंकि प्रतिमाका रुदन अन्यथा नहीं हो सकता। इत्यादि हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादि त्रैरूप्य नहीं है फिर भी वे अन्यथानुपपन्नत्वमात्रके बलसे साध्यके साधक हैं। अतः 'इदमन्तरेण इदमनुपपन्नम्'—'इसके बिना यह नहीं हो सकता' यही एक लक्षण लिंगका है। अपने इस निरूपणकी पुष्टिमें वीरसेनने पात्रस्वामीका पूर्वोक्त 'अन्यथानुपपन्नत्वम्' आदि श्लोक भी प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है।

विद्यानन्दकी[1] विशेषता यह है कि उन्होंने अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अविनाभावको हेतुलक्षण माननेके अतिरिक्त धर्मकीर्तिके उस त्रैरूप्यसमर्थनकी भी समीक्षा की है जिसमें धर्मकीर्तिने[2] असिद्धके निरासके लिए पक्षधर्मत्व, विरुद्धके व्यवच्छेदके लिए सपक्षसत्त्व और अनैकान्तिकके निराकरणके लिए विपक्षासत्त्वकी सार्थकता प्रदर्शित की है। विद्यानन्दका कहना है कि अकेले अन्यथानुपपत्तिके सद्भावसे ही उक्त तीनों दोषोंका परिहार हो जाता है[3]। जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध या अनैकान्तिक

अत्रिलक्षणान्यपि साध्यसिद्धये प्रभवन्ति। ततः इदमन्तरेण इदमनुपपन्नमितीदमेव लक्षणं लिंगस्येति।

—षट्० धव०, ५।५।४३, पृ० २४५, २४६।

१. तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणं लक्षणान्तरस्य साधनाभासेऽपि भावात्। त्रिलक्षणस्य साधनस्य साधनत्वानुपपत्तेः, पंचादिलक्षणवत्।

—प्रमाणप० पृ० ७०।

२. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥

—प्रमाणवा० १।१७।

३. प्रमाणप० पृ० ७२।

होगा उसमें अन्यथानुपपत्ति रहती ही नहीं—साध्यके होनेपर ही होनेवाले और साध्यके अभावमें न होनेवाले साधनमें ही वह पायी जाती है। सच तो यह है कि जो हेतु अन्यथा उपपन्न है या साध्याभावके साथ ही रहता है या साध्याभावमें भी विद्यमान रहता है वह अन्यथानुपपन्न—साध्यके होनेपर ही होनेवाला और साध्यके अभावमें न होनेवाला कैसे कहा जा सकता है। अतः एक अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणसे ही जब उक्त तीनों दोषोंका परिहार सम्भव है तब उनके व्यवच्छेदके लिए हेतुके तीन लक्षणोंका मानना व्यर्थका विस्तार है।

इसी सन्दर्भमें विद्यानन्दने[1] उद्योतकर, वाचस्पति और जयन्तभट्टद्वारा स्वीकृत हेतुके पाँच रूपोंकी भी मीमांसा करते हुए प्रतिपादन किया है कि अविनाभावि हेतुके प्रयोग और प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध साध्यके निर्देशसे ही उक्त असिद्धादि तीन दोषोंके साथ बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष हेतुदोषोंका भी निरास हो जाता है। अतः उनके निराकरणके लिए पक्षव्यापकत्व, अन्वय, व्यतिरेक, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँच हेतुरूपोंको मानना व्यर्थ और अनावश्यक है। हाँ, उन्हें अविनाभावनियमका प्रपंच कहा जा सकता है। पर आवश्यक और उपयोगी एक-मात्र अविनाभाव ही है, जिसे उन्हें भी मानना पड़ता है। यथार्थमें जो हेतु बाधित-विषय या सत्प्रतिपक्ष होगा, उनमें अविनाभाव नहीं रह सकता। अतः यदि असा-धारण लक्षण कहना है तो अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका असाधारण लक्षण स्वीकार करना उचित एवं न्याय्य है। विद्यानन्दने पात्रस्वामीके त्रैरूप्यखण्डनके अनुकरण पर पाँचरूप्यके खण्डनके लिए भी अधोलिखित कारिकाका निर्माण किया है—

अन्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं रूपैः किं पंचभिः कृतम्॥[2]

जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पाँच रूपोंकी क्या आवश्यकता है? और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ पाँच रूप रहकर भी क्या कर सकते हैं? तात्पर्य यह कि अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें पाँच रूप अप्रयोजक है।

विद्यानन्दके उत्तरवर्ती वादिराज भी उनकी तरह पाँचरूप्य हेतुकी समीक्षा करते हुए अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका प्रधान लक्षण प्रतिपादन करते हैं—

अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाँचरूप्येण किं फलम्।
विनाऽपि तेन तन्मात्रात् हेतुभावावकल्पनात्॥
नान्यथानुपपत्तिश्चेत् पाँचरूप्येण किं फलम्।
सत्ताऽपि व्यभिचारस्य तेनाशक्यनिराकृतेः॥

---

१. प्रमाणप० पृ० ७२।

२. वही, पृ० ७२।

अन्यथानुपपत्तिश्चेत् पाँचरूप्येऽपि कल्प्यते ।
षाड्रूप्यात् पंचरूपत्वनियमो नावतिष्ठते ॥
पाँचरूप्यात्सिद्धैवेवं नान्यथानुपपन्नता ।
पक्षधर्मत्वाद्यभावेऽपि चास्याः सत्त्वोपपादनात् ॥[1]

'सहस्रमें सौ' के न्यायानुसार उनकी त्रैरूप्य-समीक्षा इसी पाँचरूप्य-समीक्षामें आ जानेसे उसका पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है।

इसी परिप्रेक्ष्यमें वादीभसिंह[2] का भी मन्तव्य उल्लेखनीय है। वे कहते हैं कि तथोपपत्ति ही अन्यथानुपपत्ति है। और उसे ही हम अन्तर्व्याप्ति मानते तथा हेतुका स्वरूप स्वीकार करते हैं। इस अन्तर्व्याप्तिके बलपर ही हेतु साध्यका गमक होता है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्तिरूप त्रैरूप्य या पांचादिरूप्यके बलपर नहीं। यही कारण है[3] कि तत्पुत्रत्वादि हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादि रहनेपर भी अन्तर्व्याप्तिके अभावसे उनमें गमकता नहीं है। और कृत्तिकोदय हेतु पक्षधर्मत्वरहित होनेपर भी अन्तर्व्याप्तिके रहनेसे अपने साध्य शकटोदयका प्रसाधक होता है। इसी तरह 'अर्ह-तवादीके भी प्रमाण हैं, क्योंकि वह इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नहीं कर सकता' इस अनुमानमें हेतु पक्षमें नहीं रहता फिर भी वह साध्यका अविनाभावी होनेसे गमक है। इस प्रकार वादीभसिंहने अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका स्वरूप प्रतिपादित किया तथा त्रैरूप्य एवं पाचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है।

माणिक्यनन्दिका[4] भी यही विचार है। जिसका साध्याविनाभाव निश्चित है उसे वे हेतु कहते हैं। और इस प्रकारका हेतु ही उनके मतसे साध्यका गमक होता है। उन्होंने अविनाभावका नियामक बौद्धोंकी तरह तदुत्पत्ति और तादात्म्यको न बतला कर सहभावनियम और क्रमभावनियमको बतलाया है, क्योंकि जिनमें तदु-त्पत्ति या तादात्म्य नहीं है उनमें भी क्रमभावनियम अथवा सहभावनियमके रहनेसे अविनाभाव प्रतिष्ठित होता है और उसके बलपर हेतु साध्यका अनुमापक होता

---

१. न्यायवि० वि० २।१७४, पृ० २१० ।
२. तथोपपत्तिरेवेयमन्यथानुपपन्नता । सा च हेतोः स्वरूपं तत् ह्यन्तर्व्याप्तिश्च विद्धि नः ॥
—स्या० सि० ४-७८, ७९ ।
३. किं च पक्षादिधर्मत्वेऽप्यन्तर्व्याप्तेरभावतः । तत्पुत्रत्वादिहेतूनां गमकत्वं न दृश्यते ॥
पक्षधर्मत्वहीनोऽपि (गमकः कृत्तिको) दयः । अन्तर्व्याप्तेरतः सैव गमकत्वप्रसाधिनी ॥
पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् । हेतुरेव, यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥
—वही, ४।८२, ८३, ८४, ८७, ८८ ।
४. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।
—प० मु० ३।१५ ।

हैं। उदाहरणस्वरूप भरणि और कृत्तिकोदयमें न तदुत्पत्ति सम्बन्ध है और न तादात्म्य। पर उनमें क्रमभावनियमके होनेसे अविनाभाव है और उसके बलसे कृत्तिकोदय हेतु भरणिके उदयरूप साध्यका गमक होता है। इसी प्रकार रूप और रसमें तादात्म्य और तदुत्पत्ति दोनों नहीं हैं। परन्तु उनमें सहभावनियमके सद्भावसे अविनाभाव है तथा उसके बलसे रस रूपका या उन्नाम नामका और अवग्भाग परभागका अनुमापक है। माणिक्यनन्दिकी[1] यह सहभाव और क्रमभाव नियमकी परिकल्पना इतनी संगत, निर्दोष और व्यापक है कि समस्त सद्धेतु इन दोनोंके द्वारा संग्रहीत एवं केन्द्रित हो जाते हैं और असद्धेतु निरस्त, जब कि तादाम्य और तदुत्पत्तिद्वारा पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतुओंका संग्रह नहीं होता।

प्रभाचन्द्र[2], अनन्तवीर्य[3], अभयदेव[4], देवसूरि[5], हेमचन्द्र[6], धर्मभूषण[7], यशोविजय[8], चारुकीर्ति[9] आदि तार्किकोंने भी त्रैरूप्य और पाचरूप्यकी मीमासा करते हुए अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुका असाधारण एवं प्रधान लक्षण बतलाया है और उसीके द्वारा त्रिविध और पंचविध आदि हेत्वाभासोंका निरास किया है। जब हेतुको अन्यथानुपपन्न कहा जाता है तो वह साध्यके साथ अवश्य सम्बद्ध रहेगा, उसके बिना वह उपपन्न नही होगा और न साध्याभावके साथ रहेगा। इस तरह असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन दोषोका परिहार हो जाता है। तथा जब शक्य (अबाधित), इष्ट और अप्रसिद्ध साध्य[10] का निर्देश किया जायगा, जो हेतुका विषय होता है, उससे विपरीत बाधित, अनिष्ट और प्रसिद्धरूप साध्या-

---

१. सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः।
सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः।
पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः।
—परीक्षामु० ३।१६, १७, १८।

२. प्रमेयक० मा० ३।१५।

३. प्रमेयर० मा० ३।११। पृ० १४२-१४४।

४. सन्मति० टी०।

५. प्र० न० त० ३।११, १२, १३।

६. प्र० मी० १।२।९,१०।

७. न्या० दी० पृ० ८३।

८. जैन तर्कभा० पृ० १२।

९. प्रमेयरत्नालं० ३।१५।

१०. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः।
—अकलंक, न्या० वि० का० १७२।

भास नहीं, तो हेतु बाधितविषय कैसे हो सकता है, जिसके निरासके लिए हेतुका अबाधितविषयत्व नामक चतुर्थ रूप कल्पित किया जाए। सच तो यह है कि अविनाभावी हेतुमें बाधाकी सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि बाधा और अविनाभावमें विरोध है।[1] प्रमाण-प्रसिद्ध अविनाभाववाले हेतुका समानबलशाली कोई प्रतिपक्षी हेतु भी सम्भव नहीं है, अतः हेतुका असत्प्रतिपक्षत्व नामका पाचवाँ रूप भी निरर्थक है।

हम ऊपर षड्लक्षण हेतुका निर्देश कर आये हैं। उनमें एक नया रूप ज्ञातत्व है, जिसका अर्थ है हेतुका ज्ञात होना। पर उसे पृथक् रूप मानना अनावश्यक है, क्योंकि हेतु ज्ञात ही नहीं, अविनाभावी रूपसे निश्चित होकर ही साध्यका अनुमापक होता है, अनिर्णीत नहीं, यह तो हेतुके लिए आवश्यक और प्राथमिक शर्त है[2]। इसी तरह विवक्षितैकसंख्यत्वका कथन भी, जो असत्प्रतिपक्षत्वरूप है, अनावश्यक है क्योंकि अविनाभावी हेतुके प्रतिपक्षी किसी द्वितीय हेतुकी सम्भावना ही नहीं है जो प्रकृत हेतुकी विवक्षित एकसंख्याका विघटन कर सके।[3] तात्पर्य यह कि विवक्षितैकसंख्यत्व असत्प्रतिपक्षत्वरूप है और वह उपर्युक्त प्रकारसे अनावश्यक है।

कर्णकगोमिने[4] रोहिणीके उदयका अनुमान कराने वाले कृत्तिकोदय हेतुमें काल या आकाशको पक्ष बना कर पक्षधर्मत्व घटानेका प्रयास किया है। विद्यानन्दने[5] इसकी मीमांसा करते हुए कहा है कि इस तरह परम्पराश्रित पक्षधर्मत्व सिद्ध करनेसे तो पृथिवीको पक्ष बना कर महानसगत धूमसे समुद्रमें भी अग्नि सिद्ध करनेमें वह पक्षधर्मत्वरहित नहीं होगा। व्यभिचारी हेतुओंमें भी काल, आकाश और पृथिवी आदिकी अपेक्षा पक्षधर्मत्व घटाया जा सकेगा। और इस तरह कोई व्यभिचारी हेतु अपक्षधर्म न रहेगा।

उपर्युक्त अध्ययनसे प्रकट है कि जैन चिन्तकोंने द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण, पंचलक्षण, षड्लक्षण और सप्तलक्षणको अव्याप्त तथा अतिव्याप्त होनेसे उन्हें हेतुका स्वरूप स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उनकी विस्तृत समीक्षा की है। उन्होंने एक-

---

१. हेतुबि० पृ० ६८, हेतुबि० टी० पृ० २०६।
२. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
—परीक्षामु० ३।१५।
३. डा० महेन्द्रकुमार जैन, सिद्धिवि० प्र० भा० प्रस्ता० पृ० ११६।
४. प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ११।
५. विद्यानन्द, प्र० परी० पृ० ७१। त० श्लो० भा० १।१३, पृ० २०१।

लक्षण अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका स्वरूप माना है। इसके रहने पर अन्य रूप हों या न हों वह हेतु है, न रहनेपर नहीं।[1]

२. हेतु-भेद :

जैन तर्कशास्त्रमें हेतुके आरम्भमें कितने भेद स्वीकृत हैं और उत्तरकालमें उनमें कितना विकास हुआ है, इसपर विचार करनेसे पूर्व उचित होगा कि भारतीय दर्शनोंके हेतुभेदोंका सर्वेक्षण कर लिया जाय।

हेतुभेदोंका सर्वेक्षण :

कणादने[2] अपने वैशेषिकसूत्रमें हेतुके पांच भेद गिनाये हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) समवायी और (५) विरोधी। उनके व्याख्याकार प्रशस्तपाद[3] इतना और संकेत करते हैं कि उक्त भेद निदर्शनमात्र है। अर्थात् 'पांच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं है, क्योंकि कई हेतु ऐसे हैं जो न कार्य हैं न कारण, न संयोगी न समवायी और न विरोधी। उदाहरणार्थ चन्द्रोदयसे व्यवहित समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकाशका व शरत्कालीन जलप्रसादसे अगस्त्योदयका अनुमान होता है। पर ये हेतु न अहेतु (हेत्वाभास) हैं और न उक्त कार्यादि हेतुओंमेंसे किसीमें अन्तर्भूत हैं। अतः प्रशस्तपाद कणादके 'अस्येदं' इस सूत्रवचनको सम्बन्धमात्रका बोधक बतलाकर उसके द्वारा उक्त प्रकारके और भी हेतुओंके संग्रहकी सूचना करते है। तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके अभिप्रायानुसार वैशेषिक दर्शनमें पाचसे अधिक भी हेतु मान्य है। परन्तु प्रशस्तपादने यह नहीं बतलाया कि वे अमुक संज्ञक हेतु हैं। कणादने[4] विरोधि लिङ्गके (१) अभूतभूत, (२) भूतअभूत और (३) भूतभूत इन तीन भेदोंका भी कथन किया है। शंकरमिश्रने[5] उपस्कारमें इनका सोदाहरण विवेचन किया है।

---

१. वादिराज, न्यायवि० वि० २।१५५; पृ० १७७-१८० तथा २।१७४ पृ० २१०।

२. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ६।२।१।

३. शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—अध्वर्युरोंश्रावयन् व्यवहितस्य हेतुलिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च शरदि जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति। एवमादि, तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम्।
—प्रश० भा० पृ० १०४।

४. विरोध्यभूतं भूतस्य। भूतमभूतस्य। भूतो भूतस्य।
—वैशे० सू० ३।१।११, १२, १३।

५. शंकरमिश्र, वैशे० सू० उपस्का० ३।१।११, १२, १३; पृ० ८८-८९।

न्यायपरम्पराके प्रतिष्ठाता अक्षपादने[1] कणादकथित उक्त पांच हेतुभेदोंको अङ्गीकार नहीं किया। उन्होंने हेतुके अन्य तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं। वे ये हैं—(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। इनमें प्रथम दो (पूर्ववत् और शेषवत्) वस्तुतः कणादके कार्य और कारणरूप ही हैं, केवल नामभेद है, अर्थभेद नहीं। सामान्यतोदृष्ट भी, जो अकार्यकारणरूप है, कहीं संयोगी, कहीं समवायी और कहीं विरोधीके रूपमें ग्रहण किया जा सकता है। वात्स्यायनने[2] न्यायसूत्रकारके साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त द्विविध हेतुप्रयोगकी अपेक्षासे हेतुके दो भेदोंका भी उल्लेख किया है—(१) साधर्म्यहेतु और (२) वैधर्म्यहेतु। यथार्थमें ये हेतुके भेद नहीं हैं, मात्र हेतुका प्रयोगद्वैविध्य है। उद्योतकरने[3] अवश्य हेतुके ऐसे तीन भेदोंका कथन किया है जो नये हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी और (३) अन्वयव्यतिरेकी। उद्योतकरने[4] वीत और अवीतके भेदसे भी हेतुके दो भेदोंका निर्देश किया है।

ईश्वरकृष्ण[5] और उनके व्याख्याकारोंने[6] न्यायसूत्रकारकी तरह ही हेतुके तीन भेदोंका प्रतिपादन किया और उन्हींके स्वीकृत उनके नाम दिये हैं। विशेष यह कि युक्तिदीपिकाकारने[7] उद्योतकरकी तरह हेतुके वीत और अवीत द्वैविध्यका भी कथन किया है। पर वह द्वैविध्य उन्होंने प्रयोगभेदसे सामान्यतोदृष्टका बतलाया है, सामान्य हेतुका नहीं। वाचस्पति मिश्रने[8] सांख्यतत्त्वकौमुदीमें हेतु (अनुमान) के प्रथमतः वीत और अवीत दो भेद प्रदर्शित किये और उसके बाद अवीतको शेषवत् तथा वीतको पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविध निरूपित किया है। सांख्यदर्शनके इन हेतुभेदोंपर न्यायसूत्रकार और उद्योतकरका प्रभाव लक्षित होता है।

---

१. न्यायसू० १।१।५।

२. द्विविधस्य पुनर्हेतोर्द्विविधस्य चोदाहरणस्योपसंहारद्वैते च समानम्…।
—न्यायभा० १।१।३९ का उत्थानिकावाक्य, पृ० ५१।

३. अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी चेति।
न्यायवा० १।१।५; पृ० ४६।

४. तावेतौ वीतावीतहेतू लक्षणाभ्यां पृथगभिहिताविति।
—वही, १।१।३५, पृ० १२३।

५. सांख्यका० ५।

६. युक्तिदी० सांख्यका० ५, पृ० ३।

७. तस्य प्रयोगमात्रभेदाद् द्वैविध्यम्—वीतः अवीत इति।
—वही पृ० ४७।

८. तत्र प्रथमं (प्रथमतः) तावत् द्विविधम्—वीतमवीतं।…तत्रावीतं शेषवत्…। वीतं द्वेधा पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च।
—सां० त० कौ० का० ५, पृ० ३०-३१।

धर्मकीर्तिने[1] भी हेतुके तीन भेद बतलाये हैं। पर उनके तीन भेद उपर्युक्त भेदोंसे भिन्न हैं। वे हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य और (३) अनुपलब्धि। अनुपलब्धिके भी तीन भेदोंका उन्होंने[2] निर्देश किया है—(१) कारणानुपलब्धि, (२) व्यापकानुपलब्धि और (३) स्वभावानुपलब्धि। प्रमाणवार्तिकमें अनुपलब्धिके चार और न्यायबिन्दुमें प्रयोगभेदसे उसके ग्यारह भी भेद कहे हैं[3]। धर्मकीर्तिने कणाद स्वीकृत हेतुभेदोंमेंसे कार्य और विरोधी (अनुपलब्धि) ये दो अंगीकार किये हैं तथा कारण, संयोगी और समवायी ये तीन भेद छोड़ दिये हैं, क्योंकि संयोग और समवाय बौद्धदर्शनमें स्वीकृत नहीं हैं, अतः उनके माध्यमसे होनेवाले संयोगी और समवायी हेतु सम्भव नही हैं। कारणके सम्बन्धमें धर्मकीर्तिका[4] मत है कि कारण कार्यका अवश्य अनुमापक नही होता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि कारण होने पर कार्य अवश्य हो, पर कार्य बिना कारणके नही होता। अतः कार्य तो हेतु है, किन्तु कारण नही। उनके अनुपलब्धिके तीन भेदोंकी संख्या कणादके अभ्युपगत विरोधिके तीन प्रकारोंकी संख्याका स्मरण दिलाती है। ध्यान रहे, धर्मकीर्तिने[5] उपर्युक्त तीन हेतुओंमें स्वभाव और कार्यको विधिसाधक तथा अनुपलब्धिको प्रतिषेधसाधक ही वर्णित किया है। धर्मोत्तर[6], अर्चट[7] आदि व्याख्याकारोंने उनका समर्थन किया है।

जैन परम्परामें हेतुभेद :

जैन परम्परामें षट्खण्डागममें[8] श्रुतके पर्यायोंके अन्तर्गत 'हेदुवाद' (हेतुवाद) नाम आया है। पर उसमें हेतुके भेदोंकी कोई चर्चा उपलब्ध नही होती।

---

१. एतल्लक्षणो हेतुस्त्रिप्रकार एव। स्वभावः, कार्यम्, अनुपलब्धिश्चेति।
—हेतुबि० पृ० ५४। न्यायबि० पृ० २५। प्रमाणवा० १।३,४,५।

२. सेयमनुपलब्धिस्त्रिधा। सिद्धे कार्यकारणभावे सिद्धाभावस्य कारणस्यानुपलब्धिः, व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ सिद्धाभावस्य व्यापकस्यानुपलब्धिः, स्वाभावानुपलब्धिश्च।
—हेतुबि० पृ० ६८।

३. (क)—अनुपलब्धिश्चतुर्विधा।
—प्र० वा० १।६।
(ख) सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा।
—न्यायबि० पृ० ३५।

४. न्यायबि० पृ० ३५।

५. अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ। एकः प्रतिषेधहेतुः।
—वही, पृ० २६।

६. वही, पृ० २५। धर्मोत्तरटी०।

७. हेतुबि० टी० ५४।

८. भूतबली-पुष्पदन्त, षट्खं० ५।५।५१।

व्याख्याकार वीरसेनने[1] अवश्य 'हेतुवाद' पदकी व्याख्या करते हुए हेतुको दो प्रकारका कहा है—(१) साधनहेतु और (२) दूषणहेतु।

स्थानाङ्गसूत्रनिर्दिष्ट हेतुभेद :

स्थानाङ्गसूत्रमें[2] हेतुके चार प्रकारोंका निर्देश है। ये चार प्रकार दार्शनिकोंके पूर्वोक्त हेतुभेदोंसे भिन्न हैं। इनके अध्ययनसे अवगत होता है कि यतः हेतु और साध्य दोनों अनुमानके प्रयोजक हैं और दोनों कहीं विधिरूप होते हैं, कहीं निषेधरूप, कहीं विधिनिषेधरूप और कहीं निषेधविधिरूप। इन चारके अतिरिक्त अन्य राशि सम्भव नहीं है। अतः हेतुके उक्त प्रकारसे चार भेद मान्य हैं। साध्य और साधन दोनोंके विधि (सद्भाव) रूप होनेपर (१) विधि-विधि, दोनोंके निषेध (अभाव) रूप होनेपर (२) निषेध-निषेध, साध्यके विधिरूप और साधनके निषेधरूप होनेपर (३) विधि-निषेध तथा साध्यके निषेधरूप और साधनके विधिरूप होनेपर (४) निषेधविधि ये चार भेद फलित होते हैं। इन्हें और विशदतासे निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

१. विधिविधि—हेतुके जिस प्रकारमें हेतु और साध्य दोनों सद्भावरूप हों। जैसे—इस प्रदेशमें अग्नि है, क्योंकि धूम है। यहा साध्य (अग्नि) और साधन (धूम) दोनों सद्भावरूप है। इसे 'विधसाधकविधिरूप' हेतु कहा जा सकता है।

२. निषेधनिषेध—जिसमें साध्य और साधन दोनों असद्भावरूप हों। यथा—यहां धूम नही है क्योंकि अनलका अभाव है। यहां साध्य (धूम नहीं) और साधन (अनलका अभाव) दोनों असद्भावरूप हैं। इस हेतुको 'निषेधसाधकनिषेधरूप' नाम दिया जा सकता है।

३. विधिनिषेध—जिसमें साध्य सद्भावरूप हो और साधन असद्भावरूप। जैसे—इस प्राणीमें रोगविशेष है, क्योंकि उसकी स्वस्थ चेष्टा नहीं है। यहा साध्य (रोगविशेष) सद्भावरूप है और साधन (स्वस्थ चेष्टा नहीं) असद्भावरूप। इसे 'विधिसाधकनिषेधरूप' हेतु कह सकते हैं।

४. निषेधविधि—जिसमें साध्य असद्भावरूप हो और साधन सद्भावरूप। यथा—यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। यहां साध्य (शीतस्पर्श नहीं) असद्भावरूप है और हेतु (उष्णता) सद्भावरूप। इस हेतुको 'निषेधसाधकविधिरूप' हेतुके नामसे व्यवहृत कर सकते हैं।

इन हेतुभेदोंपर न कणादके हेतुभेदोंका प्रभाव लक्षित होता है, न अक्षपाद और न धर्मकीर्तिके। साथ ही इस वर्गीकरणमें जहां कार्य, कारण आदि सभी

---

१. षट्०, धवला टीका ५।५।५१; पृ० २८०।

२. स्थाना० सू० पृ० ३०९-३१० तथा यही 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानविचार' पृ० २१ भी।

प्रकारके हेतुओंका समावेश सम्भव है वहां यह अविदित रहता है कि विधिविधि आदि सामान्यरूपके सिवाय हेतुका विशेष (कार्य, कारण, व्याप्य आदि) रूप क्या है ? जब कि कणाद[2], अक्षपाद और धर्मकीर्तिके हेतुभेदनिरूपणमें विशेष रूप ही दिखायी देता है। अतः हेतुभेदोका यह वर्गीकरण अधिक प्राचीन हो तो आश्चर्य नहीं, क्योंकि सामान्य कल्पनाके बाद ही विशेष कल्पना होती है। यद्यपि कणादने[1] विरोधी हेतुके जिन अभूतभूत, भूत अभूत और भूतभूत तीन भेदोंका कथन किया तथा विद्यानन्दने[2] वैशेषिकोंकी ओरसे अभूतअभूत नामक चौथे भेदको भी कल्पना की है उनका इन हेतुभेदोंके साथ कुछ साम्य हो सकता है। तब भी स्थानाङ्गसूत्रगत हेतुभेदोकी परम्परा सामान्यरूप होनेसे प्राचीन तो है ही।

अकलङ्कप्रतिपादित हेतुभेद :

स्थानाङ्गसूत्रके उक्त हेतुभेदोंको विकसित करने और उन्हें जैन तर्कशास्त्रमे विशदतया निरूपित करनेका श्रेय भट्ट अकलङ्कदेवको प्राप्त है। अकलङ्कदेवने[3] हेतुके मूलमें दो भेद स्वीकार किये है—(१) उपलब्धि (विधिरूप) और (२) अनुपलब्धि (निषेधरूप)। ये दोनो हेतु भी विधि और प्रतिषेध दोनो तरहके साध्योको सिद्ध करनेसे दो-दो प्रकारके कहे गये है। उपलब्धिके सद्भावसाधक और सद्भावप्रतिषेधक तथा अनुपलब्धिके असद्भावसाधक और असद्भावप्रतिषेधक। इनमें सद्भावसाधक उपलब्धिके भी (१) स्वभाव (२) स्वभावकार्य, (३) स्वभावकारण, (४) सहचर, (५) सहचरकार्य और (६) सहचरकारण ये छह अवान्तर भेद है। सिद्धिविनिश्चयके[4] अनुसार उसके छह भेद यों दिये गये हैं—(१) स्वभाव, (२) कार्य, (३) कारण, (४) पूर्वचर, (५) उत्तरचर और (६) सहचर। इनमेंसे धर्मकीर्तिने केवल स्वभाव और कार्य ये दो ही हेतु माने है। कणादने कार्य और कारणको स्वीकार किया है। पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर इन तीन हेतुओंको किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलंकने उनका स्पष्ट निर्देशके साथ प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी मौलिक देन कही जा सकती है। उन्होंने स्वभाव और कार्यके अतिरिक्त कारणहेतु तथा इन तीनोंको सयुक्तिक स्वतंत्र हेतु सिद्ध करके उनका निरूपण निम्न प्रकार किया है—

---

१. वैशे० सू० ३।१।११, १२, १३।

२. प्रमाणप० पृ० ७४।

३. सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥
तथा सद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः। सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥
—प्रमाणसं० का २९,३०। तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति, अकलंकग्र० पृ० १०४-१०५।

४. सि० वि० स्वो० वृ० ६।९, १४, १६।

(१) कारणहेतु[1]—वृक्षसे छायाका ज्ञान या चन्द्रसे जलमें पड़नेवाले उसके प्रतिबिम्बका ज्ञान करना कारणहेतु है। यद्यपि यह तथ्य है कि कारण कार्यका अवश्य उत्पादक नहीं होता, किन्तु ऐसे कारणसे, जिसकी शक्तिमें कोई प्रतिबन्ध न हो और अन्य कारणोंकी विकलता न हो, कार्यका अनुमान हो तो उसे कौन रोक सकता है ? अनुमाताकी अशक्ति या अज्ञानसे अनुमानको सदोष नहीं कहा जा सकता।

(२) पूर्वचर[2]—जिन साध्य और साधनोंमें नियमसे क्रमभाव तो है पर न तो परस्पर कार्यकारणभाव है और न स्वभावस्वभाववान् सम्बन्ध है उनमें पूर्वभावीको हेतु और पश्चाद्भावीको साध्य बना कर अनुमान करना पूर्वचर हेतु है। जैसे—एक मुहूर्तके बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है।

(३) उत्तरचर[3]—उक्त क्रमभावी साध्य-साधनोंमें उत्तरभावीको हेतु और पूर्वभावीको साध्य बना कर अनुमान करना उत्तरचर है। यथा—एक मुहूर्त पहले भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। यहा 'कृत्तिकाका उदय' हेतु भरणिके अनन्तर होनेसे उत्तरचर है।

(४) सहचर हेतु[4]—तराजूके एक पलडेको उठा हुआ देख कर दूसरे पलड़ेके नीचे झुकनेका अनुमान या चन्द्रमाके इस भागको देख कर उस भागके अस्तित्वका अनुमान सहचरहेतु जन्य है। इनमें परस्पर न तादात्म्य सम्बन्ध है, न तदुत्पत्ति, न संयोग, न समवाय और न एकार्थसमवाय, क्योंकि एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नही करता, किन्तु दोनों एकसाथ होते है, अतः अविनाभाव अवश्य है।

इस अविनाभावके बलपर ही जैन न्यायशास्त्रमें[5] उक्त पूर्वचर आदि हेतुओंको गमक माना है। और अविनाभावका नियामक केवल सहभावनियम तथा क्रमभावनियमको स्वीकार किया है, तादात्म्य, तदुत्पत्ति, संयोग, समवाय और एकार्थसमवायको नहीं, क्योंकि उनके रहने पर भी हेतु गमक नही होते और उनके न रहने पर भी मात्र सहभावनियम और क्रमभावनियमके वशसे वे गमक देखे जाते हैं।

---

१. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा। न चात्र विसंवादोऽस्ति। चन्द्रादेर्जलचन्द्रादिप्रतिपत्तिस्तथानुमा। न हि जलचन्द्रादेः चन्द्रादिः स्वभावः कार्यं वा।
—लघीय० स्वो० वृ० का० १२, १३ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ३।९, १५।

२. वही, का० १४ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ६।१६।

३. लघीय० स्वो० वृ० का० १४ तथा सि० वि० स्वो० वृ० ६।१६।

४. सिद्धिवि० स्वो०वृ० ६।१५, ३, न्यायवि० २।३३८, प्र० सं० का० २८, पृ० १०७।

५. सिद्धिवि० स्ववृ० ६।३।
लघीय० स्वो०वृ० का० १२, १३, १४।

जैसाकि उपर्युक्त उदाहरणोंसे विदित है। इसीसे जैन दर्शनमें हेतुका एकमात्र अविनाभाव ही सम्यक् लक्षण इष्ट है।

सद्भावप्रतिषेधक तीन उपलब्धियां अकलंकने[1] इस इस प्रकार बतलायी हैं—

(१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि—यथा–पदार्थ कूटस्थ नहीं है, क्योंकि परिणमनशील है। यहाँ हेतु सद्भावरूप है और साध्य निषेधरूप। तथा पदार्थका स्वभाव परिणमन करनेका है।

(२) कार्यविरुद्धोपलब्धि—यथा–लक्षणविज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि विसंवाद है। यहाँ भी हेतु सद्भावरूप है और साध्य निषेधरूप। विसंवाद अप्रमाणका कार्य है।

(३) कारणविरुद्धोपलब्धि—यथा–यह परीक्षक नहीं है, क्योंकि सर्वथा अभावको स्वीकार करता है। अपरीक्षकताका कारण सर्वथा अभावका स्वीकार है।

अकलंकने[2] धर्मकीर्तिके इस कथनकी कि 'स्वभाव और कार्य हेतु भावसाधक हैं तथा अनुपलब्धि अभावसाधक' समीक्षा करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य दोनों हेतुओंको भाव तथा अभाव उभयका साधक तथा अनुपलब्धिको भी दोनोंका साधक सिद्ध किया है। ऊपर हम उपलब्धिरूप हेतुको सद्भाव और असद्भाव दोनोंका साधक देख चुके हैं। आगे अनुपलब्धिको[3] भी दोनोंका साधक देखेंगे। इसके प्रथम भेद असद्भावसाधक प्रतिषेधरूपके ६ भेद बतलाये हैं। यथा—

(१) स्वभावानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं होता।

---

१. यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धि.—नाविचलितात्मा भावः परिणामात्।···कार्यविरुद्धोपलब्धिः—लक्षणविज्ञान न प्रमाणं विसंवादात् प्रमाणान्तरापेक्षणे। कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलम् अभावैकान्तग्रहणात्।

—प्र० सं० स्वबृ० का० ३०, पृ० १०५, अकलंकग्र०।

२. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी ···।

—प्र० सं० का० ३०।

३. स्वभावानुपलब्धि ··यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः।···कार्यानुपलब्धिः···अत्र कार्याभावात्···। कारणानुपलब्धि :—अत्रैव कारणाभावात्···। स्वभावसहचरानुपलब्धिः—अत्र व्यापारव्याहारविशेषाभावात्।·· सहचरकारणानुपलब्धिः···अत्रैव आहाराभावात्।···।

—वही, स्वबृ० का० ३०, पृ० १०५।

(२) कार्यानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नहीं है, क्योंकि उसका कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता।

(३) कारणानुपलब्धि—क्षणिकैकान्त नही है, क्योंकि कोई कारण नहीं है।

(४) स्वभावसहचरानुपलब्धि—इसमें आत्मा नहीं है, क्योंकि रूपादि-विशेषका अभाव है।

(५) सहचरकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीमें आत्मा नहीं है, क्योंकि व्यापार-व्याहारविशेषका अभाव है।

(६) सहचरकारणानुपलब्धि—इस शरीरमें आत्मा नहीं है, क्योंकि भोजन-का अभाव है।

अनुपलब्धिके दूसरे भेद असद्भावप्रतिषेधक (सद्भावसाधक) प्रतिषेधक-रूप अनुपलब्धिके कितने भेद उन्हें अभीष्ट है, इसका अकलंकने स्पष्ट निर्देश नहीं किया। पर उनके प्रतिपादनसे संकेत अवश्य मिलता है कि उसके भी उन्हें अनेक भेद अभिप्रेत हैं।

इस प्रकार अकलंकने सद्भावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह ९ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियोंका कण्ठतः वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोंका संकेत किया है। तथा उन्हें इन्हींमें अन्तर्भाव हो जानेका उल्लेख किया है।

विद्यानन्दोक्त हेतु-भेद :

विद्यानन्दका हेतुभेदनिरूपण अकलंकके हेतुभेदनिरूपणका आभारी और उपजीव्य है। किन्तु विद्यानन्दकी निरूपणसरणि एवं समीक्षात्मक अनुशीलन अतिस्पष्ट और आकर्षक है। उन्होने[1] अन्यथानुपपत्तिरूप एकलक्षणसामान्यकी अपेक्षा हेतुको एक प्रकारका कह करके भी विशेषकी अपेक्षा अतिसंक्षेपमें विधि-साधन और निषेधसाधनके भेदसे द्विविध तथा संक्षेपमें कार्य, कारण और अकार्य-कारणके रूपमें त्रिविध प्रतिपादन किया और अन्य प्रकारोंका इन्हींमें अन्तर्भाव होनेका निर्देश किया है। उनका[2] वह निरूपण अघः प्रस्तुत है—

---

१. तच्च साधनं एकलक्षणसामान्यादेकविधमपि विशेषतोऽतिसंक्षेपाद्द्विविध विधिसाधनं निषेधसाधनं च। सक्षेपास्त्रिविधमभिधीयते—कार्यं कारणस्य, कारणं कार्यस्य, अकार्य-कारणमकार्यकारणस्येति ··।

—प्रमाणप० पृ० ७२।

२. वही, पृ० ७२ से ७५ तथा त० श्लो० १।१३, पृ० २०८-२१४।

(१) कार्यहेतु—यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है। कार्यकार्य आदि परम्परा हेतुओंका इसीमे अन्तर्भाव किया गया है।

(२) कारणहेतु—यहा छाया है, क्योंकि छत्र है। कारणकारण आदि परम्पराकारणहेतुओंका इसीमें अनुप्रवेश है। स्मरण रहे कि न तो केवल अविशिष्ट कारणको और न अन्तिम क्षण प्राप्त कारणको कारणहेतु कहा जाता है, जिससे प्रतिबन्धके सद्भाव और कारणान्तरकी विकलतासे वह व्यभिचारी हो तथा दूसरे क्षणमे कार्यके प्रत्यक्ष हो जानेसे अनुमान निरर्थक हो, किन्तु जो कार्यका अविनाभावी निर्णीत है तथा जिसकी सामर्थ्य किसी प्रतिबन्धकसे अवरुद्ध नही है और न वाछनीय सामग्रीकी विकलता है, ऐसे विशिष्ट कारणको हेतु माना गया है।

(३) अकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१ व्याप्य, २ सहचर, ३ पूर्वचर और ४ उत्तरचर।

१. व्याप्य हेतु—जहाँ व्याप्यसे व्यापकका अनुमान होता है वह व्याप्यहेतु है। जैसे—समस्त पदार्थ अनेकान्तस्वरूप हैं, क्योंकि सत् हैं, अर्थात् वस्तु हैं।

२. सहचर हेतु—जहाँ एक सहभावीसे दूसरे सहभावीका अनुमान किया जाता है वह सहचर है। जैसे—अग्निमे स्पर्श है, क्योंकि रूप है। स्पर्श रूपका न कार्य है न कारण, क्योंकि दोनो सर्वत्र सर्वदा समकालवृत्ति होनेसे सहचर प्रसिद्ध है। ध्यान रहे, वैशेषिकोके संयोगी और एकार्थसमवायी हेतु विद्यानन्दके मतानुसार साध्यसमकालीन होनेसे सहचर हैं। जैसे समवायी कारणहेतु है, वह उससे पृथक नहीं है।

३. पूर्वचरहेतु—शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। पूर्वपूर्वचरादि परम्परापूर्वचरहेतुओका इसीमें समावेश है।

४. उत्तरचरहेतु—भरणिका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है। उत्तरोत्तरचरादि परम्पराउत्तरचरहेतुओंका इसीके द्वारा संग्रह हो जाता है।

ये छह (२ + ४ = ६) हेतु[1] विधिरूप साध्यको सिद्ध करनेसे विधिसाधन (भूतभूत) हेतु कहे जाते हैं।

प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेवाले हेतु[2] तीन हैं।—(१) विरुद्धकार्य, (२) विरुद्धकारण और (३) विरुद्धाकार्यकारण।

---

१. तदेतत्साध्यस्य विधौ साधनं षड्विधमुक्तम्।
—प्रमाणप० पृ० ७२।

२. प्रतिषेधे तु प्रतिषेध्यस्य विरुद्धं कार्यं विरुद्धं कारणं विरुद्धाकार्यकारणं चेति ...।
—प्र० प० पृष्ठ ७२।

(२) विरुद्धकार्यहेतु—यहां शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है। स्पष्ट है कि शीतस्पर्शसे विरुद्ध अनल है, उसका कार्य धूम है। उसके सद्भावसे शीतस्पर्शका अभाव सिद्ध होता है।

(२) विरुद्धकारण—इस पुरुषके असत्य नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है। प्रकट है कि असत्यसे विरुद्ध सत्य है, उसका कारण सम्यग्ज्ञान है। रागद्वेषरहित यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वह उसके किसी यथार्थकथन आदिसे सिद्ध होता हुआ सत्यको सिद्ध करता है और वह भी सिद्ध होता हुआ असत्यका प्रतिषेध करता है।

(३) विरुद्धाकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१. विरुद्धव्याप्य, २. विरुद्धसहचर, ३. विरुद्धपूर्वचर और ४. विरुद्धउत्तरचर।

१. विरुद्धव्याप्य—यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। यहाँ निश्चय ही शीतस्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है और उसका व्याप्य उष्णता है।

२. विरुद्धसहचर—इसके मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है। यहाँ मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर (सहभावी) सम्यग्दर्शन है।

३. विरुद्धपूर्वचर—मुहूर्त्तान्तिमें शकटका उदय नही होगा, क्योकि रेवतीका उदय है। यहाँ शकटोदयसे विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय है।

४—विरुद्धोत्तरचर—एक मुहूर्त्त पूर्व भरणिका उदय नही हुआ, क्योकि पुष्यका उदय है। भरणिके उदयसे विरुद्ध पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय है।

ये छह[1] साक्षात्प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्यादिहेतु विधिद्वारा प्रतिषेधको सिद्ध करनेके कारण प्रतिषेधसाधन (अभूतभूत) हेतु उक्त हैं।

परम्परासे[2] होनेवाले कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारणव्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य, कारणविरुद्धकारण, व्यापकविरुद्धकारण, कारणव्यापकविरुद्धकारण और व्यापककारणविरुद्धकारण तथा कारणविरुद्धव्याप्यादि और कारणविरुद्धसहचरादि हेतुओंका भी विद्यानन्दने संकेत किया है। वे इस प्रकार हैं—

---

१. तान्येतानि साक्षात्प्रतिषेध्यविरुद्धकार्यादीनि लिंगानि विधिद्वारेण प्रतिषेधसाधनानि षडभिहितानि।

—प्र० प० पृ० ७२।

२. परम्परया तु कारणविरुद्धकार्यं व्यापकविरुद्धकार्यं कारणव्यापकविरुद्धकार्यं व्यापककारणविरुद्धकार्यं ···वक्तव्यानि।

—वही, पृ० ७२।

१. कारणविरुद्धकार्य—इसके शीतजनित रोमहर्षादिविशेष नहीं हैं, क्योंकि धूम है। प्रतिषेध्य रोमहर्षादिविशेषका कारण शीत है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

२. व्यापकविरुद्धकार्य—यहां शीतस्पर्शसामान्यसे व्याप्त शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है। निषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है।

३. कारणव्यापकविरुद्धकार्य—यहा हिमत्वव्याप्त हिमविशेषजनितरोमहर्षादिविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है। रोमहर्षादिविशेषका कारण हिमविशेष है, उसका व्यापक हिमत्व है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

४. व्यापककारणविरुद्धकार्य—यहा शीतस्पर्शविशेषव्यापक शीतस्पर्शसामान्यके कारण हिमसे होनेवाला शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है। प्रतिषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका कारण हिम है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है।

५. कारणविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

६. व्यापकविरुद्धकारण—इसके आत्मामें मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। मिथ्याज्ञानविशेषका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी सत्यज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

७. कारणव्यापकविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है। यहां मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञानविशेष है, उसका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

८. व्यापककारणविरुद्धकारण—इसके मिथ्याचरणविशेष नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोप्रदेशका ग्रहण है। मिथ्याचरणविशेषका व्यापक मिथ्याचरणसामान्य है, उसका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

९. कारणविरुद्धव्याप्य[1]—सर्वथैकान्तवादीके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य नहीं हैं, क्योंकि विपरीतमिथ्यादर्शनविशेष है। प्रशमादिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शनसामान्य है, उससे व्याप्य विपरीतमिथ्यादर्शनविशेष है।

---

१. प्र० प० पृष्ठ ७४।

१०. व्यापकविरुद्धव्याप्य—स्याद्वादीके विपरीतादिमिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि सत्यज्ञानविशेष है। विपरीतादिमिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य सत्यज्ञानविशेष है।

११. कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य—इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञानविशेष है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य मिथ्याज्ञानविशेष है।

१२. व्यापककारणविरुद्धव्याप्य—इसके तत्त्वज्ञानविशेष नहीं है, क्योंकि मिथ्यार्थोपदेशका ग्रहण है। तत्त्वज्ञानविशेषोका व्यापक तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है, उसका विरोधी मिथ्यार्थोपदेशग्रहणसामान्य है, उससे व्याप्त मिथ्यार्थोपदेशग्रहणविशेष है।

१३ कारणविरुद्धसहचर[1]—इसके प्रशम आदि नही है, क्योंकि मिथ्याज्ञान है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१४. व्यापकविरुद्धसहचर—इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यादर्शनविशेषोका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

१५. कारणव्यापकविरुद्धसहचर—इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान है। प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१६. व्यापककारणविरुद्धसहचर—इसके मिथ्यादर्शनविशेष नही हैं, क्योकि सत्यज्ञान है। मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शन सामान्य है, उसका कारण दर्शनमोहोदय है, उसका विरोधी सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार विद्यानन्दने[2] विरोधी ६ परम्पराविरोधी १६ कुल २२ साक्षात् विरोधी हेतुओंका विस्तृत कथन किया है।

उल्लेखनीय है कि कणादने विरोधी हेतुके अभूतभूत, भूतअभूत और भूतभूत तीन प्रकारोंका निर्देश किया है। पर विद्यानन्दने[3] अभूत-अभूतनामक चौथे भेद

१. प्र० प० पृ० ७४।

२, ३. तदेतत्सामान्यतो विरोधिलिंगं प्रपञ्चतो द्वाविंशतिप्रकारमपि भूतमभूतस्य गमकमन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणत्वात्प्रतिपत्तव्यम्।

—प्र० प० पृ० ७४।

सहित उसके चार भेदोंका उल्लेख करके उनके साथ समन्वय भी प्रदर्शित किया है। उन्होंने बतलाया है कि उक्त २२ भेद अभूत-भूत (सद्भावप्रतिषेधक विधि-रूप प्रतिषेधसाधन) हेतुके हैं और वे एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयके आधारपर गमक है। विधिसाधकविधिरूप हेतुके पूर्वोल्लिखित कार्यादि ६ भेद भूतभूतके प्रकार हैं।[1] इस तरह विद्यानन्दने हेतुके प्रथम भेद विधिसाधन (उप-लब्धि)के विधिसाधक और विधिप्रतिषेधक इन दो भेदो तथा उनके उक्त अवान्तर प्रकारोंको दिखाया है।

इसके अनन्तर हेतुके दूसरे भेद[2] प्रतिषेधसाधन (अनुपलब्धि) के भी अक-लङ्ककी तरह विधिसाधक प्रतिषेधसाधन और प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधसाधन इन दो भेदोंका कथन किया है। प्रथमको भूत-अभूत और द्वितीयको अभूत-अभूत कह कर पूर्ववत् कणादोक्त विरोधि लिंगके भेदोंके साथ समन्वय किया है। ध्यातव्य है कि जहा कणादने विरोधि लिंगके मात्र तीन भेदोंका निर्देश किया है वहा विद्यानन्दने उसके चार भेदोंका वर्णन किया है, जिनमें अभूत-अभूत नामक प्रकार नया है और जिसकी विद्यानन्दने ही परिकल्पना की जान पड़ता है, जो युक्तियुक्त है।

विधिसाधक प्रतिषेधसाधन हेतु (भूत-अभूत)[3]—

जिन हेतुओंमें साध्य सद्भाव (भूत) रूप और साधन निषेध (अभूत) रूप हो उन्हें विधिसाधक प्रतिषेध (भूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. इस प्राणीके व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है। इस हेतु का नाम विरुद्धकार्यानुपलब्धि है।

२. सर्वथा एकान्तवादका कथन करने वालोंके अज्ञानादि दोष है, क्योंकि उनके युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वचन नही है। इसे विरुद्धकारणानुपलब्धि कहते है,

३. इस मुनिके आप्तत्व है, क्योंकि विसंवादी नहीं है। इसका नाम विरुद्ध-स्वभावानुपलब्धि है।

४. इस तालफलकी पतनक्रिया हो चुकी है, क्योंकि डंठलके साथ संयोग नहीं है। यह विरुद्ध सहचरानुपलब्धि है।

---

१. प्र० प० पृष्ठ ७४।

२. तदित्थं विधिमुखेन विधायकं प्रतिषेधमुखेन प्रतिषेधकं च लिंगमभिधाय साम्प्रतं प्रति-षेधमुखेन विधायकं प्रतिषेधकं च साधनमभिधीयते। तत्राभूतं भूतस्य विधायकं…।
—प्र० प० पृ० ७४।

३. वही, पृ० ७४-७५।

विधिप्रतिषेधकप्रतिषेध साधनहेतु (अभूत-अभूत)[1]—

जिनमें साध्य निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो और साधन भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो उन्हें विधिप्रतिषेधक प्रतिषेध (अभूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

(१) इस शवशरीरमें बुद्धि नहीं है, क्योंकि चेष्टा, वार्तालाप, विशिष्टआकारकी उपलब्धि नहीं होती। यह विधिसाधक प्रतिषेधसाधन कार्यानुपलब्धि हेतु है।

(२) इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धान उपलब्ध नहीं होता। यह कारणानुपलब्धि है।

(३) यहां शिंशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। यह व्यापकानुपलब्धि है।

(४) इसके तत्त्वज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है। यह सहचरानुपलब्धि है।

(५) एक मुहूर्तके अन्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है। यह पूर्वचरानुपलब्धि है।

(६) एक मुहूर्त पहले भरणिका उदय नहीं हुआ, क्योंकि कृत्तिकाका उदय अनुपलब्ध है। यह उत्तरचरानुपलब्धि है।

इसी प्रकार विद्यानन्दने[2] कारणकारणाद्यनुपलब्धि, व्यापकव्यापकानुपलब्धि आदि परम्पराप्रतिषेधसाधकप्रतिषेधसाधन हेतुओंका भी संकेत किया है। तथा इस समस्त निरूपणके अन्तमें अपने कथनकी सम्पुष्टिके लिए इन सब हेतुभेदोंके संग्राहक पूर्वाचार्योंके सात श्लोकोंको[3] प्रस्तुत किया है। इसके अनन्तर उन्होंने[4] बौद्ध

---

१. प्र० प० पृष्ठ ७४।

२. वही, पृ० ७४।

३. स्यात्कार्यं कारणं व्याप्यं प्राक्सहोत्तरचारि च।
लिंगं तल्लक्षणव्याप्तेर्भूतं भूतस्य साधकम् ॥
षोढा विरुद्धकार्यादि साक्षादेवोपवर्णितम्।
लिंगं भूतमभूतस्य लिंगलक्षणयोगतः ॥२॥
पारम्पर्यात्तु कार्यं स्यात् कारणं व्याप्यमेव च।
सहचारि च निर्दिष्टं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥३॥
कारणाद्विष्टकार्यादिभेदेनोदाहृतं पुरा।
यथा षोडशभेदं स्यात् द्वात्रिंशतिविधं ततः ॥४॥
लिंगं समुदितं ज्ञेयमन्यथानुपपत्तिमत्।
तथा भूतमभूतस्याप्यूह्यमन्यदपीदृशम् ॥ ५ ॥
अमूर्तं भूतमुन्नीतं भूतस्यानेकधा बुधैः।
तथाऽभूतमभूतस्य यथायोग्यमुदाहरेत् ॥६॥
बहुधाप्येवमाख्यातं संक्षेपेण चतुर्विधम्।
अतिसंक्षेपतो द्वेधोपलम्भानुपलम्भवत् ॥७॥
—वही, पृ० ७४-७५।

४. वही, पृ० ७५।

कल्पित स्वभावादि त्रिविध, नैयायिकसम्मत पूर्ववदादि त्रिविध, वैशेषिक स्वीकृत संयोग्यादि पंचविध और साख्याम्युपगत वीतादि त्रिविध हेतुनियमकी समीक्षा करते हुए कहा है कि जब हेतुभेदोंकी यह स्पष्ट स्थिति है तो उसे केवल त्रिविध आदि बतलाना संगत प्रतीत नहीं होता। अतः हेतुका एकमात्र प्रयोजक अन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयको ही मानना चाहिए, जिसके द्वारा सभी प्रकारके हेतुओंका संग्रह सम्भव है, त्रिविधत्वादिनियमको नहीं।

माणिक्यनन्दिकी उल्लेखनीय विशेषता है कि उन्होंने अकलंक और विद्यानन्दके वाङ्मयका आलोडन करके उसमे विप्रकलित हेतुभेदोंको सुसम्बद्ध ढंगसे सुगम एवं सरल सूत्रोंमे निबद्ध किया है। उनका यह व्यवस्थित हेतुभेदनिबन्धन उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र, लघु अनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रभृति तार्किकोंके लिए पथप्रदर्शक तथा आधार सिद्ध हुआ है। यहाँ उसे न देनेपर एक न्यूनता रहेगी। अत. उसे दिया जाता है।

अकलंककी तरह माणिक्यनन्दिने[1] भी आरम्भमें हेतुके मूल दो भेद स्वीकार किये है—(१) उपलब्धि और (२) अनुपलब्धि। तथा इन दोनोंको विधि और प्रतिषेध उभयका साधक बतलाया है। और इसलिए दोनोंके उन्होंने दो-दो भेद कहे हैं—उपलब्धिके (१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि तथा अनुपलब्धिके (१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि। अविरुद्धोपलब्धिके[2] छह भेद है—(१) व्याप्य, (२) कार्य, (३) कारण, (४) पूर्वचर, (५) उत्तरचर और (६) सहचर। विरुद्धोपलब्धिके[3] भी अविरुद्धोपलब्धिकी तरह छह भेद हैं। वे ये है—(१) विरुद्धव्याप्य, (२) विरुद्धकार्य, (३) विरुद्धकारण, (४) विरुद्धपूर्वचर, (५) विरुद्धउत्तरचर और (६) विरुद्धसहचर। इसी प्रकार अनुपलब्धिके प्रथम भेद अविरुद्धानुपलब्धि[4] प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेकी अपेक्षा सात प्रकारकी कही है—(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि, (२) व्यापकानुपलब्धि, (३) कार्यानुपलब्धि, (४) कारणानुपलब्धि, (५) पूर्वचरानुपलब्धि, (६) उत्तरचरानुपलब्धि और (७) सहचरानुपलब्धि। विरुद्धा-

---

१. परीक्षामु० ३।५७ ५८।

२. स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्। उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च। अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्।

—प० मु० ३।५७-५९।

३. विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति।

—वही, ३।७१।

४. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति।

—वही, ३।७८।

नुपलब्धि[1] विधिरूप साध्यको सिद्ध करनेमें तीन प्रकारकी कही गयी है—(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि, (२) विरुद्धकारणानुपलब्धि और (३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। इस तरह माणिक्यनन्दिने ६ + ६ + ७ + ३ = २२ हेतुभेदोंका सोदाहरण निरूपण किया है। विद्यानन्दकी तरह परम्पराहेतुओंकी भी उन्होंने सम्भावना करके उन्हें यथायोग्य उक्त हेतुओंमें ही अन्तर्भाव करनेका इंगित किया है। माणिक्यनन्दिने[2] अकलंककी भाँति कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर इन हेतुओंको पृथक माननेकी आवश्यकताको भी सयुक्तिक बतलाया है।

प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें और लघु अनन्तवीर्यने प्रमेयरत्नमालामें माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार होनेसे उनका ही समर्थन एवं विशद व्याख्यान किया है।

देवसूरिने[3] विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंके स्थानमें पाच अनुपलब्धियाँ बतायी हैं तथा निषेधसाधक विरुद्धोपलब्धिके छह भेदोंकी जगह सात भेद प्रतिपादित किये है। शेष निरूपण माणिक्यनन्दि जैसा ही है। विद्यानन्दकी तरह विरुद्धोपलब्धिके सोलह परम्पराहेतुओंका भी उन्होंने[4] निरूपण किया और इस निरूपण को अभियुक्तों द्वारा अभिहित बतलाया है। इसके साथ ही अविरुद्धानुपलब्धिके प्रतिपादक सूत्रमे साक्षात् हेतु सात और उसकी व्याख्यामे परम्पराहेतु ग्यारह कुल अठारह प्रकारोका भी कथन किया है।[5] उनका यह प्रतिपादन विद्यानन्दकी प्रमाणपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका आभारी है।

वादिराजका[6] हेतुभेदविवेचन यद्यपि अकलंक और विद्यानन्दसे प्रभावित है किन्तु उनका वैशिष्ठ्य भी उसमें परिलक्षित होता है। उन्होंने संक्षेपमे हेतुके

---

१. विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्।
—प० मु० ३।८६।

२. वही, ३।६०-६४।

३ विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पंचधेति। विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिषेधप्रपिपत्तौ सप्तप्रकारेति।
—प्र० न० त० ३।९९, ७९।

४ परम्परया विरोधाश्रयणेन त्वनेकप्रकारा विरुद्धोपलब्धिः सम्भवन्ती स्वयमभियुक्तैरवगन्तव्या···इति पारम्पर्येण···षोडशप्रकारा।
—वही, स्या० रत्ना० ३।८८, पृ० ६०५।

५. इतीयमविरुद्धानुपलब्धिः सप्तप्रकारा प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सोदाहरणा सूत्रतः प्रतिषेध्यवस्तुसम्बन्धिनां स्वभावकार्यादीनां साक्षादनुपलम्भद्वारेण प्रदर्शिता। परम्परया पुनरेषापि निपुणैर्निरूप्यमाणैकादशधा सम्पद्यते।···तदित्थं सूत्रोक्तैः सप्तभिर्भेदैः सहामी मिलिता एकादशभेदा अविरुद्धानुपलब्धेरष्टादश संवृत्ता इति।
—वही, स्या० रत्ना० ३।६८, पृ० ६१३-६१५।

६. प्रमाणनि० पृ० ४२-५०।

विधिसाधन और प्रतिषेधसाधन दो भेद करके विधिसाधनके धर्मिसाधन और धर्मि-विशेषसाधन ये दो भेद बतलाये हैं तथा इन दोनोंके भी दो-दो भेद कहे है। प्रति-षेधसाधनको भी विधिरूप और प्रतिषेधरूप दो प्रकारका वर्णित करके दोनोके अनेक भेदोंकी सूचना की है और उनके कतिपय उदाहरण दे कर उन्हें स्पष्ट किया है।

हेमचन्द्रने[1] कणाद, धर्मकीर्ति और विद्यानन्दकी तरह हेतुभेदोंका वर्गीकरण किया है फिर भी उनसे भिन्नता यह है कि उनके वर्गीकरणमें कोई भी अनुप-लब्धि विधिसाधकरूपसे वर्णित नही है[2] किन्तु धर्मकीर्तिकी तरह मात्र निषेध-साधकरूपसे वर्णित है।

धर्मभूषणने[3] विद्यानन्दके वर्गीकरणको स्वीकार किया है। अन्तर इतना ही है कि धर्मभूषणने आरम्भमे हेतुके दो भेद और दोनोंको विधिसाधक तथा प्रतिषेध-साधक प्रतिपादित किया है। पर विधिसाधक विधिरूप हेतुके छह भेदोंका ही उन्होंने उदाहरणद्वारा प्रदर्शन किया है, अन्य भेदोका नही और इस तरह ६ + १ + २ = ९ हेतुभेदोंका उन्होने वर्णन किया है।

यशोविजयका[4] वर्गीकरण विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, देवसूरि और धर्मभूषणके वर्गीकरणोके आधारपर हुआ है। विशेषतया देवसूरि[5] और धर्मभूषणका[6] प्रभाव उसपर लक्षित होता है।

इस प्रकार जैन तार्किकोंका हेतुभेदनिरूपण अनेकविध एव सूक्ष्म होता हुआ उनकी चिन्तनविशेषताको प्रकट करता है।

---

१. प्रमाणमी० १।२।१२, पृ० ४२।
२. वही, १।२।१३, पृ० ४२-४५।
३. न्या० दी० पृ० ९५-९९।
४. जैन तर्कभा० पृ० १६-१८।
५. तुलना कीजिए—प्र० न० त० ३।५४-५५, ३।६८, ६९, ७७, ३।७८, ३।७९, ३ ७० ३।८०, ३।८१, ३।८२, ३।८३-९३, ३।८४, ८५, ८७-९२, ३।१०३, ३।९४-१०२।
६. तुलना कीजिए, न्या० दी० पृ० ९५, ९६, ९७, ९८।

जैन हेतु-भेद
१. स्थानांगसूत्र (पृ० ३०९–३१०) के आधार से
हेतु—४
विधि-विधि
विधि-निषेध
निषेध-विधि
निषेध-निषेध
२. अकलंक (प्रमाणसंग्रह का० २९,३०) के अनुसार
हेतु—१५
उपलब्धि
अनुपलब्धि
सद्भावसाधक
सद्भावप्रतिषेधक
असद्भाव साधक
असद्भाव प्रतिषे०
स्वभाव
स्व० कार्य
स्व० का०
सहचर
सह० कार्य
स० कारण
अथवा
(सि० वि० ६।१,१५,१६ के अनुसार)
स्वभाव
कार्य
कारण
सहचर
पूर्वचर
उत्तरचर
स्वभावविरुद्धोपलब्धि
कार्यविरुद्धोपल०
कारणविरुद्धोपल०
स्वभावानुपलब्धि
कार्यानुपल०
कारणानुप०
स्व० सहच०
सह० कार्यानु०
सह० कारणा०
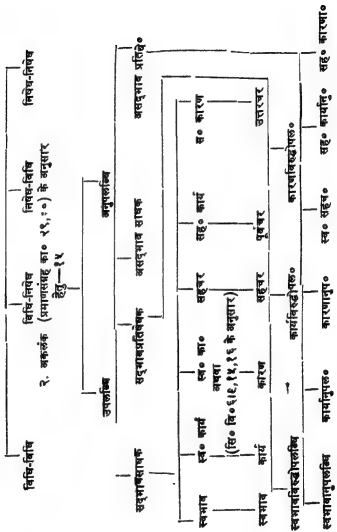
३. विद्यानन्द (प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२-७५) के अनुसार
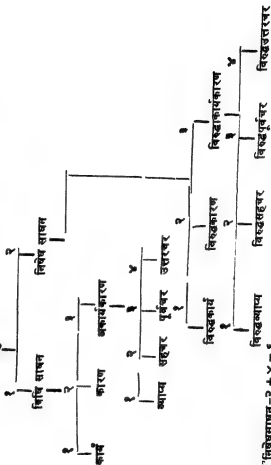
(१) साक्षात् निषेधसाधन—२ + ४ = ६
(२) परम्परा निषेधसाधन— १६
कुल २२

१. विधि साधन – ६
२. निषेध साधन २२

२८ कुल हेतु भेद

४. माणिक्यनन्दि (परीक्षामुख ३।५७–९०) के अनुसार

= ६ + ६ + ३ + ७—= २२ हेतुभेद

५ देवसूरि (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ३।५०-९१) के अनुसार

१. अविरुद्धोपलब्धि ६
२. विरुद्धोपलब्धि २३
३. अविरुद्धानुपलब्धि ७
४. विरुद्धानुपलब्धि ५
कुल ४१

साक्षात् विरुद्धोपलब्धि हेतु ७
परम्परा विरुद्धोपलब्धि हेतु १६
कुल २३

६ हेमचन्द्र (प्रमाणमीमांसा १।२।१२) के अनुसार

हेतु—५ (स्वोपज्ञवृत्ति १।२।१२ के आधार से ११)

१ स्वभाव | २ कारण | ३ कार्य | ४ एकार्थसमवायि | ५ विरोधि

विरोधि:
- निषेधसाधकनिषेधरूप
  - १ स्वभावानुपल०
  - २ कारणानुप०
  - ३ कार्यानुप०
  - ४ व्यापकानु०
- निषेधसाधकविधिरूप
  - १ कार्य
  - २ कारण
  - ३ व्यापक

१—विधिसाधन ४
२—विरोधि ४ + ३ = ७
—कुल ११

७. अभिनव धर्मभूषण (न्यायदीपिका पृष्ठ ९५–९९) के अनुसार

हेतु—९

- विधिरूप
  - विधिसाधक
    - १ कार्यरूप
    - २ कारणरूप
    - ३ विशेषरूप
    - ४ पूर्वचर
    - ५ उत्तरचर
    - ६ सहचर
  - प्रतिषेधसाधक
- प्रतिषेधरूप
  - विधिसाधक
  - प्रतिषेधसाधक

= ६ + १ + २ = ९

अध्याय : ५ :

प्रथम परिच्छेद

अनुमानाभास-विमर्श

जैन तर्कग्रन्थोंमें अनुमान-सम्बन्धी दोषोंपर जो चिन्तन उपलब्ध है वह महत्त्वपूर्ण, दिलचस्प और ध्यातव्य है। यहाँ उसपर विचार किया जाता है।

समन्तभद्रद्वारा निर्दिष्ट अनुमान-दोष :

समन्तभद्रने अनुमानदोषोंपर यद्यपि स्वतन्त्रभावसे कुछ नहीं लिखा, तथापि एकान्तवादोंकी समीक्षाके सन्दर्भमें उन्होंने कतिपय अनुमान-दोषोंका उल्लेख किया है। उनसे अवगत होता है कि समन्तभद्र उन दोषोंसे परिचित ही नहीं, उनके विशेषज्ञ थे। उदाहरणार्थ उनका यहाँ एक स्थल उपस्थित किया जाता है। विज्ञानाद्वैतकी समीक्षा करते हुए वे उसमें दोष-प्रदर्शन करते हैं। लिखते हैं[1] कि 'विज्ञप्तिमात्रताकी सिद्धि यदि साध्य और साधनके ज्ञानसे की जाती है तो अद्वैतकी स्वीकृतिके कारण न साध्य सम्भव है और न हेतु; अन्यथा प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष प्राप्त होंगे।' समन्तभद्रके इस दोषापादनसे स्पष्ट है कि वे प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष जैसे अनुमान-दोषोंसे सुपरिचित थे और वे उन्हें मानते थे। तथा इन दोषोंद्वारा एकान्तवाद-साधक अनुमानोंको दूषित अनुमान (अनुमानाभास) बतलाते थे। अतः समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपरसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन्हें प्रतिज्ञादोष (प्रतिज्ञाभास—पक्षाभास) और हेतुदोष (हेत्वाभास) ये दो प्रकारके अनुमाना-

---

१. साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः॥
—आप्तमी० का० ८०।

भास स्वीकृत हैं। साध्य-सिद्धिमें दृष्टान्तको[1] भी अंग कहनेसे उसका दोष (दृष्टान्ताभास) भी उन्हें अभिप्रेत हो तो आश्चर्य नहीं। असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचार जैसे हेत्वाभासोंका तो उन्होंने[2] स्पष्ट उल्लेख किया है।

सिद्धसेननिरूपित अनुमानाभास :

सिद्धसेनको[3] हम अनुमानाभासका स्पष्टतया विवेचक पाते हैं। यतः उन्होंने परार्थानुमानके पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार किये हैं अतः उसके दोष भी उन्होंने तीन प्रकारके वर्णित किये हैं। वे ये हैं—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास और (३) दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो भेद करके बाधितके सिद्धसेनने[4] अनेक अर्थात् चार भेद बतलाये हैं—(१) प्रत्यक्षबाधित, (२) लिङ्गबाधित, (३) लोकबाधित और (४) स्ववचनबाधित। हेत्वाभास उन्होंने[5] तीन प्रकारके प्रतिपादित किये हैं—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध और (३) अनैकान्तिक। वैशेषिक और बौद्ध भी यही तीन हेत्वाभास मानते है और त्रैविध्यका उपपादन वे यों करते हैं कि यतः हेतु त्रिरूप है, अतः एक-एक रूपके अभावमें उक्त तीन ही हेत्वाभास सम्भव हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि हेतुका त्रैरूप्य लक्षण माननेके कारण उनके अभावमें वैशेषिक और बौद्धोंका त्रिविध हेत्वाभास प्रतिपादन युक्त है। पर जैन तार्किकोंने एकमात्र अन्यथानुपपत्तिको ही हेतुलक्षण स्वीकार किया है। स्वयं सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्' शब्दों द्वारा अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका लक्षण बतलाया है। अतः उनके अनुसार हेत्वाभास एक होना चाहिए, तीन नहीं? इसका उत्तर स्वयं सिद्धसेनने[6] युक्तिपुरस्सर यह दिया है कि चूंकि अन्यथानु-

---

१. दृष्टान्तसिद्धावुभयोर्विवादे साध्य प्रसिद्धयेन्न तु तादृगस्ति।
नयः स दृष्टान्तसमर्थनस्ते।
—स्वयम्भू० का ५५ तथा ५३।

२. युक्त्य० का० १७, १८, २९।

३. न्यायाव० का० २१, २२, २३, २४, २५।

४. प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षाभासोऽक्ष-लिङ्गतः।
लोक-स्ववचनाभ्यां च बाधितोऽनेकधा मतः॥
—वही, का० २१।

५, ६. अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।
तदप्रतीति-सन्देह-विपर्यासैस्तदाभता॥
असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते।
विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥
—वही, का० २२, २३।

प्रपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है। या तो उसकी प्रतीति न हो, या उसमें सन्देह हो और या उसका विपर्यास हो। प्रतीति न होने पर हेतु असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध कहा जाता है। अतएव तीन हेत्वाभासोंका प्रतिपादन भी जैन परम्परामें सम्भव है।

सिद्धसेनने[1] दृष्टान्तदोषोंको प्रथमतः दो वर्गोंमें विभक्त किया है—(१) साधर्म्यदृष्टान्तदोष और (२) वैधर्म्यदृष्टान्तदोष। तथा इन दोनोंको उन्होंने छह-छह प्रकारका बतलाया है। इनमें साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधार्म्यदृष्टान्तदोष तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष न्यायप्रवेश जैसे[2] हैं। परन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्तदोष तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्तदोष धर्मकीर्तिकी[3] तरह कथित हैं। न्यायप्रवेशगत अनन्वय और विपरीतान्वय ये दो साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्यदृष्टान्ताभास एवं धर्मकीर्ति स्वीकृत अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक ये दो साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास सिद्धसेनको मान्य नहीं हैं। इस सन्दर्भमें सिद्धर्षिगणीको[4] अतिरिक्त दृष्टान्ताभास-समीक्षा द्रष्टव्य है। सिद्धसेनने इन दृष्टान्तदोषोंको यद्यपि 'न्यायविदीरिता:' शब्दों द्वारा न्यायवेत्ता-प्रतिपादित कहा है फिर भी उनका अपना भी चिन्तन है। यही कारण है कि उन्होंने न तो न्यायप्रवेशकी तरह पाँच-पाँच और न धर्मकीर्तिकी तरह नौ-नौ साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्ताभास स्वीकार किये। हाँ, अपने अङ्गीकृत उक्त छह-छह दृष्टान्ताभासोंके चयनमें उन्होंने इन दोनोंसे मदद अवश्य ली है और उसकी सूचना 'न्यायविदीरिता:' कह कर की है।

अकलङ्कीय अनुमानदोषनिरूपण :

जैन न्यायमें अकलङ्क ऐसे सूक्ष्म एवं प्रतिभाशाली चिन्तक हैं, जिन्होंने अनुमानाभासोंकी मान्यतामें नया चिन्तन प्रस्तुत किया है। अकलङ्कके पूर्व जैन दार्शनिक

---

१. साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
अपलक्षणहेतूत्थाः साध्यादिविकलादयः॥
वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।
साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात्॥
—न्यायाव० का० २४, २५।

२. न्यायप्र० पृ० ५-७।

३. न्यायबि० पृ० ९४-१०१।

४. न्यायाव० टी० का० २४, पृ० ५७।

अनुमानके तीन अवयवोंकी मान्यताके कारण तीन अनुमानाभास स्वीकार करते थे। पर अकलङ्कदेव अनुमानके मूलतः दो ही अवयव (अङ्ग) मानते हैं—(१) साध्य और (२) साधन। तीसरा अवयव दृष्टान्त तो अल्पज्ञोंकी दृष्टिसे अथवा किसी स्थलविशेषकी अपेक्षासे ही प्रतिपादित है। अतः दृष्टान्ताभास नामक तीसरे अनुमानाभासका निरूपण सार्वजनीन नहीं है। अकलङ्ककी उक्त मान्यतानुसार अनुमानाभास निम्न प्रकार हैं :—

साध्याभास :

अकलङ्कसे पूर्व प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामका अनुमानाभास माना जाता था। पर अकलङ्कने उसके स्थानमें साध्याभास नाम रखा है। अकलङ्कको यह नामपरिवर्तन अथवा सुधार क्यों अभीष्ट हुआ ? पूर्व नामोंको ही उन्होंने क्यों नहीं रहने दिया ? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। हमारा विचार है कि अनुमानके प्रयोजक तत्त्व मुख्यतया दो ही हैं—(१) जिसकी सिद्धि करना है अर्थात् साध्य और (२) जिससे उसकी सिद्धि करना है अर्थात् साधन। अनुमानका लक्षण[1] (साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्) भी इन दो हो तत्त्वोंपर आधारित माना गया है। अतः अनुमानके सन्दर्भमें साधनदोषोंकी तरह साध्यदोष (असाध्य या साध्याभास) ही विचारणीय हैं। जब अबाधित, अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहा जाता है[2] तो बाधित, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास ही माना जायेगा[3], क्योंकि वह (बाधितादि साध्य) साधनका विषय नहीं होता। जो बाधित है वह सिद्ध नहीं किया जा सकता, अनभिप्रेतको सिद्ध करनेमे अतिप्रसङ्गदोष है और प्रसिद्धको सिद्ध करना निरर्थक है[4]। अतः अकलङ्कदेवका उक्त संशोधन (नामपरिवर्तन) इस सूक्ष्म तथ्यका प्रकाशक जान पड़ता है। अतएव प्रतिज्ञाभास या पक्षाभास नामकी अपेक्षा अनुमानाभासके प्रथम भेदका नाम साध्याभास अधिक अनुरूप है। यों तो साध्यको अनुमेयकी तरह पक्ष और साध्याभासको अनुमेयाभासकी भाँति पक्षाभास या प्रतिज्ञाभास भी कहा जा सकता है। पर सूक्ष्म विचारकी दृष्टिसे साध्याभास नाम ही उपयुक्त है।

अकलङ्कदेवने साध्य और साध्याभासकी जो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं उनके अनुसार साध्याभासके मूल तीन भेद फलित होते हैं—(१) अशक्य (विरुद्ध—

---

१. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।
—न्यायवि० का० १७०; अनुमान प्रस्ताव (अकलं० ग्र० पृ० ५२।

२, ३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः॥
—वही, का० १७२; अनु० प्र० अक० ग्र० पृ० ५२।

४. तदविषयत्वं च निराकृतस्याशक्यत्वादनभिप्रेतस्यातिप्रसंगात्प्रसिद्धस्य च वैयर्थ्यात्।
—वादिराज, न्यायवि०, वि० २।३, पृ० २२५।

बाधित—निराकृत), (२) अनभिप्रेत और (३) प्रसिद्ध। पर सिद्धसेन अनभिप्रेत भेद नहीं मानते, शेष सिद्ध और बाधित ये दो ही भेद स्वीकार करते हैं। किन्तु जब साध्यको वादीकी अपेक्षा अभिप्रेत—इष्ट होना भी आवश्यक है, अन्यथा अनिष्ट भी साध्य हो जाएगा, तब अनभिप्रेत (अनिष्ट) को साध्याभासका एक प्रकार मानना ही चाहिए। उदाहरणार्थ शब्दकी अनित्यता असिद्ध और शक्य (अबाधित) होनेपर भी मीमांसकके लिए वह अनिष्ट है। अतः मीमांसककी अपेक्षा वह अनिष्ट साध्याभास है। तात्पर्य यह कि साध्याभासके लक्षणमें अनभिप्रेत विशेषण वांछनीय है और तब साध्याभास द्विविध न होकर त्रिविध होगा। साध्याभासके सम्बन्धमें अकलंकको सिद्धसेनसे दूसरी भिन्नता यह है कि अकलंकने बाधित साध्याभासके अवान्तर भेदोंका उल्लेख नहीं किया, जबकि सिद्धसेनने उसके चार भेदोंका निर्देश किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। हाँ, अकलंकके व्याख्याकार वादिराजने[1] अवश्य उनके 'विरुद्धादि' पदका व्याख्यान करते हुए बाधित (विरुद्ध-निराकृत) के प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत और आगमनिराकृत ये तीन भेद वर्णित किये हैं। इनमें आदिके दो भेद सिद्धसेनके उपर्युक्त चार भेदोंमें भी पाये जाते हैं। पर 'आगमनिराकृत' नामका भेद उनमें नहीं है और वह नया है। वादिराजने सिद्धसेनके स्ववचनबाधित और लोकबाधित इन दो बाधितोंको यहाँ छोड़ दिया है। परन्तु अपनी स्वतन्त्र कृति प्रमाणनिर्णयमें[2] उक्त तीनों बाधितोंके अतिरिक्त इन दोका भी उन्होंने कथन किया है और इस प्रकार पाँच बाधितोंका वहाँ निर्देश है।

साधनाभास :

जैन तार्किक हेतु (साधन) का केवल एक अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं। अतः यथार्थमें उनका[3] हेत्वाभास (साधनाभास) भी उसके अभावमें एक होना चाहिए, एकसे अधिक नहीं? इसका समाधान यों तो सिद्धसेनने

---

१. विरुद्धादि। त्रिविधं रुद्ध निराकृत प्रत्यक्षादिना विरुद्धम्। अनेनाशक्यमुक्तम्। न हि प्रत्यक्षादिनिराकृतं शक्यं साधयितुम्।...तत्र प्रत्यक्षनिराकृतं...तद्वदेव चानुमाननिराकृतं...एवमागमनिराकृतमपि।

—न्यायवि० वि० २।३, पृ० १२।

२. तत्र प्रत्यक्षविरुद्धं...अनुमानविरुद्धं... आगमविरुद्धं...स्ववचनविरुद्धं... लोकविरुद्धं यथा...।

—प्रमाणनिर्ण० पृ० ६१-६२।

३. हेत्वाभासत्वमन्यथानुपपत्तिवैकल्यात्। तस्य चैकविधत्वात् तदाभासानामप्येकविधत्वमेव प्राप्नोति, बहुविधत्वं चेष्यते तत्कथमिति चेत्।

—न्या० वि० वि० २।१९६, पृ० २२५।

किया ही है। पर अकलंकने बड़ी योग्यता और सूक्ष्मतासे उत्तर दिया है। वे[1] कहते हैं कि जो साधन अन्यथानुपपन्न नहीं है वह साधनाभास है और वह वस्तुतः एक ही है और वह है अकिंचित्कर। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीका विस्तार हैं। यतः अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक तरहसे होता है, अतः हेत्वाभास अनेक प्रकारका सम्भव है। अन्यथानुपपत्तिका निश्चय न होनेपर असिद्ध, विपर्यय होनेपर विरुद्ध और सन्देह होनेपर सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतु त्रिलक्षणात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं उन सबको अकलंक अकिंचित्कर हेत्वाभास मानते हैं।

यहां प्रश्न है कि पूर्वमें अप्रसिद्ध एवं अकलङ्कदेवद्वारा स्वीकृत इस अकिंचित्कर हेत्वाभासका आधार क्या है? क्योंकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतम स्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें? श्री पं० सुखलालजी संघवीका[2] विचार है कि 'जयन्तभट्टने अपनी न्यायमंजरी (पृ० १६३)में अन्यथासिद्ध अपरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभासको माननेका पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्तके पहले कभीसे चला आता हुआ जान पड़ता है।.........अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध मानने वाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलंकने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी अपने ढंगसे नयी सृष्टि की हो।' निस्सन्देह जयन्तभट्टने[3] अप्रयोजक हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तारपूर्वक विचार किया है। वे पहले तो उसे छठवां ही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहां तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपन्हव नहीं किया जा सकता और न वस्तुका अतिक्रमण। किन्तु पीछे उसे वे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं। अन्तमें 'अथवा'के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति सामान्य रूप है, छठवां हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमतको

---

१. (क) साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिंचित्करविस्तराः॥
—न्यायवि० २।२०१-२०२, पृ० १२७-१३०।
(ख) अन्यथासम्भवाभावभेदात्स बहुधा स्मृतः।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिंचित्करविस्तरैः॥
—वही, २।१९७, पृ० २२५।
(ग) अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।
अकिंचित्कारकान् सर्वांस्तान् वयं संगिरामहे॥
—वही, २।२०२, पृ० २३२।

२. प्र० मी० भाषाटि० पृ० ९७।

३. न्या० म० पृ० १६३-१६६ (प्रमेयप्रकरण)।

न्यायकलिका[1] (पृ० १५)में भी स्थिर रखा है। श्रीसंघवीजीकी सम्भावनापर जब हमने अकलंकसे पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोंमें 'अन्यथासिद्ध'का अन्वेषण किया तो उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें[2] 'अन्यथासिद्ध' हेत्वाभास मिल गया, जिसे उन्होंने असिद्धके तीन भेदोंमें परिगणित किया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एक प्रकारका अप्रयोजक या अकिंचित्कर हेत्वाभास ही है। जो हेतु निरर्थक हो—स्वीकृत साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिंचित्कर कहना चाहिए। अन्यथसिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव—अन्यथा-उपपन्नत्वके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही कारण है कि अकलंकदेवने[3] सर्वलक्षण (त्रिरूप अथवा पंचरूपादि) सम्पन्न होने पर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अकिंचित्कर 'हेत्वाभासकी संज्ञा दी है। अतएव अकलंकने उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वके आधारपर अकिंचित्कर हेत्वाभासकी परिकल्पना की हो तो आश्चर्य नहीं। प्रमाणसंग्रहगत[4] प्रतिपादनसे प्रतीत होता है कि वे अकिंचित्करको पृथक् हेत्वाभास भी मानते हैं, क्योंकि असिद्धादि अन्य तीन हेत्वाभासोंके लक्षणोंके साथ उसका भी स्वतन्त्र लक्षण दिया है।

इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें डा० महेन्द्रकुमार जैनका[5] मत है कि 'अकलंकदेवका अभिप्राय अकिंचित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ नहीं मालूम होता। वे लिखते हैं कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। फिर लिखा है कि अन्यथानुपपत्तिरहित जितने त्रिलक्षण है उन्हें अकिंचित्कर कहना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी असिद्ध या अकिंचित्कर संज्ञा रखना चाहते हैं।'

इसमे सन्देह नहीं कि अकिंचित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेकी अपेक्षा अकलंकदेवका अधिक झुकाव उसे सामान्य हेत्वाभास और विरुद्धादिको उसीका

१. अप्रयोजकत्व च सर्वहेत्वाभासानामनुगत रूपम्। अनित्याः परमाणवोऽमूर्तत्वात् इति सर्वलक्षणसम्पन्नोऽप्यप्रयोजक एव।
—न्यायक० पृ० १५।

२. सोऽयमसिद्धस्त्रेधा भवति प्रज्ञापनीयधर्मसमानः, आश्रयासिद्धः, अन्यथासिद्धश्चेति।
—न्या० वा० १।२।८, पृ० १७५।

३. अकिंचित्कारकान् सर्वास्तान् वयं संगिरामहे।
—न्या० वि० २।२०२, पृ० २३२।

४. स विरुद्धोऽन्यथाभावात् असिद्धः सर्वथात्ययात्।
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिंचित्करोऽखिलः॥
—प्र० सं० ४८, ४९, अ० ग्र० पृ० १११। तथा सि० वि० ६।३२, पृ० ४२६।

५. प्रस्तावना पृ० २०, न्या० वि० वि० द्वितीय भाग।

विस्तार बतलानेकी ओर है। पर उन्होंने सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास नहीं माना और न ही विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्धको उसका प्रकार कहा है। ज्ञात होता है कि डा० जैनको अलंकदेवके 'अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः'[1] इस वाक्यमें आये 'स' शब्दसे पूर्ववर्ती कारिकावाक्य 'असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने'[2] में आगत 'असिद्ध'के ग्रहणका भ्रम हुआ है। यथार्थमें 'स' शब्दसे वहां सामान्य हेत्वाभासका ग्रहण अकलकदेवको विवक्षित है। उनके व्याख्याकार वादिराजने[3] भी 'स हेत्वाभासो बहुधा बहुप्रकारः स्मृतः मतः' इस प्रकारसे 'स' शब्दका सामान्य हेत्वाभास व्याख्यान किया है, असिद्ध नहीं। दूसरे, जब प्रकारोमे भी 'असिद्ध' अभिहित है तब असिद्धका असिद्ध प्रकार कैसे सम्भव है? यह एक असंगति है। अतः अकलङ्कको विरुद्धादि अकिंचित्कर नामक सामान्य हेत्वाभासके तो प्रकार अभिमत है, पर असिद्धके नही। उसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेकी अपेक्षा चार हेत्वाभास स्वीकार कर अकलङ्कने उनका निम्न प्रकार विवेचन किया है—

(१) असिद्ध[4]—जो पक्षमे सर्वथा पाया ही न जाए अथवा जिसका साध्यके साथ अविनाभाव न हो वह असिद्ध है। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योकि चाक्षुष है। यहा चाक्षुषत्व हेतु शब्दमें नही रहता, शब्द तो श्रावण है। अतः असिद्ध है।

(२) विरुद्ध[5]—जो साध्यके अभावमें पाया जाए अथवा साध्याभावके साथ जिसकी व्याप्ति हो वह विरुद्ध है। जैसे—सब पदार्थ क्षणिक है, क्योंकि सत् हैं। यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वसे विरुद्ध कथंचित् क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति रखता है। अतः विरुद्ध है।

---

१. न्या० वि० वि० २।१९७।

२. वही, २।१९६।

३. अन्यथासम्भवाभावः अन्यथानुपपन्नत्वस्याभावः तस्य भेदो नानात्वं तस्मात् स हेत्वाभासो बहुधा बहुप्रकारः स्मृतो मत इति। कैः कृत्वा स बहुधेत्याह विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैर-किंचित्करविस्तरैः।
—वही, २।१९७।

४. असिद्धः सर्वथात्ययात्।
—प्र० सं० का० ४८, पृ० १११।
असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने।
—न्या० वि० २।१९६।

५. स विरुद्धोऽन्यथाभावात्।
—प्र० सं० का० ४८, पृ० १११।
साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः। यथा नित्यः शब्दः सत्त्वात् इति।
—वही, स्वो० वृ० ४०, पृ० १०७

(३) सन्दिग्ध[1]—जो पक्ष और सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रहे वह सन्दिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक है। जैसे - वह सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है। वक्तृत्व हेतुके असर्वज्ञको तरह सर्वज्ञमें भी रहनेका सन्देह है। अतः वह सन्दिग्ध है।

(४) अकिंचित्कर[2]—जिसका साध्य सिद्ध हो, अथवा अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी हेतु हों वे सब अकिंचित्कर है। जैसे—शब्द विनाशी है, क्योंकि कृतक है। अथवा यह अग्नि है, क्योंकि धूम है। कृतकत्व और धूम हेतु प्रत्यक्ष-सिद्ध विनाशित्व और अग्निको सिद्ध करनेसे अकिंचित्कर हैं।

अकलंकने धर्मकीर्ति और अर्चट द्वारा उल्लिखित ज्ञातत्वरूपके अभावमें होने-वाले अज्ञात साधनाभासको असिद्धका एक भेद कहकर उसका असिद्धमें अन्तर्भाव किया है[3]। इसी प्रकार दिग्नागके[4] विरुद्धाव्यभिचारीका, जिसे उन्होंने अनैकान्तिकका एक भेद माना है, विरुद्धमें समावेश किया है। परस्परविरोधी दो हेतुओंका एक धर्मीमें प्रयोग होनेपर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभिचारी कहा जाता है। यह नैयायिकोंके प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) हेत्वाभास जैसा है। दोनो हेतु संशयजनक होनेसे दोनोंका समुच्चयरूप यह विरुद्धाव्यभिचारी अनैकान्तिक हेत्वाभास है[5]। धर्म-कीर्तिने[6] इसे स्वीकार नहीं किया। उनका मत है कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसके विरोधी हेतुका अवसर ही नहीं है। प्रशस्तपादका[7] मंतव्य है कि उक्त हेत्वाभास संशयहेतु नहीं है, क्योंकि संशयका कारण विषयद्वैतदर्शन है। किन्तु समानासमान जातीय दो धर्मोंमें तुल्य बल होनेसे परस्पर विरोध है और इस विरोधके कारण वे (दोनो हेतु) केवल एकपक्षीय निर्णयानुत्पादक हैं, न कि संशय-हेतु। दूसरे, वे तुल्यबल भी नहीं है, क्योंकि उनमेंसे एकका साध्य बाधित हो जाता

---

१. व्यभिचारी विपक्षेऽपि। —प्र० स० का ४८, पृ० १११।
अनिश्चितविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः। —वही, का० ४०, पृ० १०८।

२. सिद्धऽकिंचित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया। —प्र०स० का० ४४, पृ० ११०।
सिद्धेऽकिंचित्करोऽखिलः। —वही, का० ४८, पृ० १११।

३. साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः। तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः।
—प्र० स० स्वो० वृ० ४४, पृ० ११०।

४. न्या० प्र० पृ० ४-५।

५. उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।
—न्या० प्र० पृ० ५।

६. न्या० बि० पृ० ८६।

७. 'न, संशयो विषयद्वैतदर्शनात्। ⋯तुल्यबलत्वे च तयोः परस्परविरोधान्निर्णयानु-त्पादकत्वं स्यान्न तु संशयहेतुत्वम्। न च तयोस्तुल्यबलत्वमस्ति अन्यतरस्यानुमेयोद्देश-स्यागमबाधितत्वादयं तु विरुद्धभेद एव।
—प्रश० भा० पृ० ११६।

है। अतः वह एक विरुद्धका भेद है—प्रत्यक्षादिविरुद्ध प्रतिज्ञाभासोंमेंसे कोई एक है। अकलंकका[1] मत है कि जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी—विपक्षमें रहनेवाला है उसे विरुद्ध हेत्वाभास होना चाहिए। इस तरह अकलंकने सामान्यरूपसे एक अकिंचित्कर हेत्वाभास स्वीकार करके भी विशेषरूपसे उसके असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन तथा अकिंचित्कर सहित चार हेत्वाभासोंका कथन किया है।

दृष्टान्ताभास :

अकलंकने[2] प्रतिपाद्यविशेष अथवा स्थलविशेषकी आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए 'तदाभासाः साध्यादिविकलादयः' शब्दों द्वारा साध्यविकल आदि दृष्टान्ताभासोंकी भी सूचना की है। परन्तु उनकी इस संक्षिप्त सूचनापरसे यह ज्ञात करना दुष्कर है कि उन्हें उसके मूल और अवान्तर भेद कितने अभिप्रेत हैं। पर हाँ, उनके व्याख्याकार वादिराजके व्याख्यान (विवरण) से उनके आशयको जाना जा सकता है। वादिराजने[3] धर्मकीर्तिकी[4] तरह उसके साधर्म्य और वैधर्म्य ये दो मूल भेद और उनके अवान्तर नौ-नौ प्रकार प्रदर्शित किये हैं। यथा—

१. साधर्म्यदृष्टान्ताभास :

(१) साध्यविकल—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्तिक है, कर्मकी तरह। यहा कर्म दृष्टान्त साध्यविकल है, कारण कि वह नित्य नहीं है, अनित्य है। यह साध्यविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभासका निदर्शन है।

(२) साधनविकल—उक्त अनुमानमें परमाणुका दृष्टान्त देना साधनविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभास है, क्योंकि परमाणु अमूर्तिक नहीं है, मूर्तिक है।

(३) उभयविकल—उपर्युक्त अनुमानमें ही घटका दृष्टान्त उभयविकल साधर्म्यदृष्टान्ताभास है, क्योंकि घट न नित्य है और न अमूर्तिक, वह अनित्य तथा मूर्तिक है।

(४) सन्दिग्धसाध्य—सुगत रागादिमान् हैं, क्योंकि उत्पन्न होते हैं, रथ्यापुरुषकी तरह। यहा रथ्यापुरुषमे रागादिका निश्चय नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादिसे उनका निश्चय करना अशक्य है।

(५) सन्दिग्धसाधन—यह मरणशील है, क्योंकि रागादिमान् है, रथ्यापुरुषकी तरह। यहा रथ्यापुरुषमें रागादिका पूर्ववत् अनिश्चय है।

---

१. विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषा पुनः।
—प्र० सं० का० ४३ तथा का० ४४ की स्वो० वृ० पृ० ११०-१११।

२. न्या० वि० २।२११, पृ० २४०।

३. न्या० वि० २।२११, पृ० २४०-४१।

४. न्यायबि० पृ० ९४-१०२।

(६) सन्दिग्धोभय—यह असर्वज्ञ है, क्योंकि रागादिमान् है, रथ्यापुरुषकी तरह। यहां रथ्यापुरुषमें साध्य और साधन दोनोंका अनिश्चय है।

(७) अनन्वय—यह रागादिमान् है, क्योंकि वक्ता है, रथ्यापुरुषकी तरह यहा रथ्यापुरुषमे रागादिका सद्भाव सिद्ध न होनेसे अन्वय असिद्ध हैं।

(८) अप्रदर्शितान्वय—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, घटको तरह। यहा 'जो जो कृतक होता है वह वह अनित्य होता है' ऐसा अन्वय प्रदर्शित नही है, क्योंकि कृतकताका ज्ञान होने पर भी अनित्यका ज्ञान शक्य नही है।

(९) विपरीतान्वय—'जो अनित्य होता है वह कृतक होता है' ऐसा विपरीत अन्वय प्रस्तुत करना विपरोतान्वय साधर्म्यदृष्टान्ताभास है।

ये नौ साधर्म्यदृष्टान्ताभास हैं।

२. वैधर्म्यदृष्टान्ताभास :

(१) साध्याव्यावृत्त—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त है, जो नित्य नही होता वह अमूर्त भी नही होता, जैसे परमाणु। यहा परमाणुका दृष्टान्त साध्याव्यावृत्त वैधर्म्यदृष्टान्तभास है, कारण कि परमाणुओमे साधनकी व्यावृत्ति होनेपर भी साध्य (नित्यत्व)की व्यावृत्ति नही है।

(२) साधनाव्यावृत्त—उक्त अनुमानमें कर्मका दृष्टान्त साधनाव्यावृत्त है, क्योकि उसमे साध्य (नित्यत्व) को व्यावृत्ति रहने पर भी साधन (अमूर्तत्व) की अव्यावृत्ति है।

(३) उभयाव्यावृत्त—उक्त अनुमानमें हो आकाशका दृष्टान्त उभयाव्यावृत्त है, क्योंकि आकाशमे न साध्य (नित्यत्व) को व्यावृत्ति है—नित्यत्व रहता ही है और न अमूर्त्तत्वकी व्यावृत्ति है—वह उसमें रहता ही है।

(४) सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक—सुगत सर्वज्ञ हैं, क्योंकि अनुपदेशादिप्रमाणयुक्ततत्त्वप्रवक्ता हैं, जो सर्वज्ञ नहीं वह उक्त प्रकारका प्रवक्ता नही, यथा वीथीपुरुष। यहां वीथीपुरुषमें सर्वज्ञत्वकी व्यावृत्ति अनिश्चित है, कारण कि परके मनकी बातको जानना दुष्कर है।

(५) सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक—शब्द अनित्य है क्योंकि सत् है, जो अनित्य नहीं होता वह सत् भी नहीं होता, जैसे गगन। गगनमें सत्त्वरूप साधनकी व्यावृत्ति सन्दिग्ध है, क्योंकि वह अदृश्य है।

---

१. वादिराज, न्या० वि० वि० २।२११, पृ० २४१। तुलना—न्यायबि० पृ० ९७-१०१।

(६) सन्दिग्धोभयव्यतिरेक—हरिहरादि संसारी हैं, क्योंकि अज्ञानादि युक्त हैं। जो संसारी नहीं है वह अज्ञानादि दोष युक्त नहीं है, यथा बुद्ध। बुद्धमें संसारित्व साध्य और अज्ञानादियुक्तत्व साधन दोनों-की व्यावृत्ति अनिश्चित है।

(७) अव्यतिरेक—शब्द नित्य है, क्योंकि अमूर्त्त है, जो नित्य नहीं वह अमूर्त्त नहीं, यथा घड़ा। घड़ेमें साध्यकी व्यावृत्ति रहनेपर भी हेतु-की व्यावृत्ति तत्प्रयुक्त नहीं है, क्योंकि कर्म अनित्य होनेपर भी अमूर्त्त है।

(८) अप्रदर्शितव्यतिरेक—शब्द अनित्य है, क्योंकि सत् है, आकाशकी तरह। यहां वैधर्म्येण आकाशमें व्यतिरेक अप्रदर्शित है।

(९) विपरीतव्यतिरेक—उक्त अनुमानमें ही 'जो सत् नहीं वह अनित्य भी नहीं, जैसे आकाश' यहा साधनकी व्यावृत्तिसे साध्यकी व्यावृत्ति दिखाई गयी है, जो विरुद्ध है।

इस तरह वादिराजने[1] अकलंकके अभिप्रायका उद्घाटन करते हुए नौ साधर्म्यदृष्टान्ताभास और नौ ही वैधर्म्यदृष्टान्ताभास कुल अठारह दृष्टान्ताभासों-का निरूपण किया है।

उपर्युक्त अध्ययनसे विदित होता कि अकलंकके चिन्तनमें हमें साध्याभासके तीन भेदोकी मान्यता, हेत्वाभाससामान्यका अकिंचित्कर नामकरण और उसके तीन अथवा चार प्रकारोको परिकल्पना तथा प्रतिपाद्यविशेषकी अपेक्षा साध्यविकलादि दृष्टान्ताभासोकी स्वीकृति ये उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह अवश्य है कि इन अनुमानदोषोका प्रतिपादन उनके उपलब्ध न्यायवाङ्मयमें क्रमबद्ध और एकत्र उपलब्ध नही होता—अतिसंक्षेपमे ही उनपर प्रकाश प्राप्त होता है। सम्भव है अनुमानदोषोंका निरूपण उन्हें उतना अभीष्ट न हो जितना समीक्ष्य दार्शनिक प्रमेयों (विषयों) की समीक्षा। सम्भवतः इसीसे अकलंकके न्यायवाङ्मयके तलदृष्टा माणिक्यनन्दिका ध्यान उधर गया और उन्होंने अपने परीक्षामुखमे आभासोंका प्रतिपादक एक स्वतन्त्र ही परिच्छेद निर्मित कर उसमें अनुमानाभासों-का क्रमबद्ध एवं एकत्र विशद और विस्तृत निरूपण किया है।

माणिक्यनन्दिद्वारा अनुमानाभास-प्रतिपादन :

यद्यपि जैन परम्परामें जैनन्यायपर अल्पनिर्णय, त्रिलक्षणकदर्थन, वादन्याय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण अनेक प्रकरणग्रन्थ लिखे

---

१. ते इमे पूर्वसूचिता अष्टादशापि दृष्टान्ताभासाः।
—न्या० वि० वि० १।२११, पृ० २४१।

आ चुके थे, पर गौतमके न्यायसूत्र, दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामीके न्यायप्रवेश और धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुकी तरह जैनन्यायको गद्यसूत्रोंमें निबद्ध करनेवाला कोई गद्यन्यायसूत्र ग्रन्थ नहीं रचा गया था। माणिक्यनन्दिने जैन न्यायको गद्यसूत्रोंमें निबद्ध करनेवाली अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'परीक्षामुख', जो जैन परम्पराका प्रथम 'न्यायसूत्र' है और जिसे उनके टीकाकार अनन्तवीर्यने[1] 'न्यायविद्या' एवं अकलंकके वचोम्भोधिका 'अमृत' कहा है, लिखकर उक्त कमीको पूरा किया है।

इसके अन्तिम परिच्छेदमें माणिक्यनन्दिने[2] अनुमानाभास प्रकरणको आरम्भ करते हुए उसे चार वर्गोंमें विभक्त किया है—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास, (३) दृष्टान्ताभास और (४) बालप्रयोगाभास। इनमें आद्य तीन तो सभी तार्किकोंके द्वारा चर्चित एवं निरूपित हैं। किन्तु अन्तिम चतुर्थ बालप्रयोगाभास का निरूपण हम स्पष्टतया माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखमें पाते हैं।

(१) त्रिविध पक्षाभास

माणिक्यनन्दिने[3] अकलंककी तरह इसके तीन भेद बतलाये हैं—(१) अनिष्ट, (२) सिद्ध और (३) बाधित। बाधितके भी उन्होंने पाँच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। ये वही हैं जिनका वादिराजने भी निर्देश किया है और जिनके विषयमें हम ऊपर प्रकाश डाल आए हैं। पर माणिक्यनन्दिके उदाहरण इतने विशद और स्वाभाविक हैं कि अध्येता उनकी ओर स्वभावतः आकृष्ट होता है। यथा—

(१) प्रत्यक्षबाधित[4]—अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि द्रव्य है, जलकी तरह, यहाँ अग्निकी अनुष्णता स्पार्शनप्रत्यक्षसे बाधित है।

(२) अनुमानबाधित[5]—शब्द अपरिणामी है, क्योंकि कृतक है, घटकी तरह। यहाँ शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह किया जाता है, जैसे घट। इस अनुमानसे उपर्युक्त पक्ष बाधित है।

---

१. अकलंकवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता। न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने॥
—प्रमेयर० मा० पृ० ३-४।

२. इदमनुमानाभासम्।
—परीक्षामु० ६।११।

३. तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः। अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः। सिद्धः श्रावणः शब्दः। बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।
—वही, ६।१२-१५।

४. तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।
—परीक्षामु० ६।१६।

५. अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्।
—वही, ६।१७।

(३) आगमबाधित[1]—धर्म परलोकमें असुखप्रद है, क्योंकि पुरुष द्वारा सम्पादित होता है, जैसे अधर्म। यहां पक्ष आगमबाधित है, क्योंकि आगममें धर्म सुखका और अधर्म दुखका देने वाला बतलाया गया है।

(४) लोकबाधित[2]—मनुष्यके शिरका कपाल पवित्र होता है, क्योंकि वह प्राणीका अवयव है, जैसे शंख-शुक्ति। यहा पक्ष लोकबाधित है, क्योंकि लोकमे प्राणीका अवयव होते हुए भी अमुक अवयव पवित्र और अमुक अपवित्र माना गया है।

(५) स्ववचनबाधित[3]—मेरी माता बन्ध्या है, क्योंकि पुरुषसंयोग होने पर भी गर्भ नही रहता, जैसे प्रसिद्धबन्ध्या। यहां पक्ष स्ववचनबाधित है, क्योंकि स्वयं मौजूद होते हुए भी माताको बन्ध्या कह रहा है।

(२) चतुर्विध हेत्वाभास .

माणिक्यनन्दिने[4] पूर्वसे प्रसिद्ध असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभासोंमे अकलंकोक्त अकिंचित्कर हेत्वाभासको भी सम्मिलित करके चार हेत्वाभासोंका अकलंकको तरह ही वर्णन किया है। विशेष यह कि माणिक्यनन्दिने[5] असिद्धके स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध ये दो भेद स्पष्ट प्रतिपादित किये है। अज्ञातासिद्धका[6] भी उल्लेख करके उसका असिद्ध हेत्वाभासमें ही समावेश किया है और उसे साख्यकी अपेक्षा बतलाया है। उदाहरणार्थ सांख्यके लिए 'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह कृतक है' इस प्रकार कृतकत्व हेतुसे शब्दको परिणमनशील सिद्ध करना, अज्ञातासिद्ध है, क्योंकि साख्यने कभी शब्दको कृतक नही जाना, वह ता उसकी अभिव्यक्ति जानता है। अनैकान्तिकके[7] भी दो भेदों—(१) निश्चितविपक्षवृत्ति और (२) शंकितविपक्षवृत्तिका माणिक्यनन्दिने निर्देश करके उनका स्वरूप प्रतिपादन किया है।

---

१. प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।
—परी०, ६।१८।

२. शुचि नरशिरः कपाल प्राण्यंगत्वाच्छङ्खशुक्तिवत्।
—वही. ६।१९।

३. माता मे बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबन्ध्यावत्।
—वही, ६।२०।

४. हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिंचित्कराः।
—प० मु० ६।२१।

५. वही, ६।२२, २३, २४, २५, २६।

६. वही, ६।२७-२८।

७. वही, ६।३१-३३।

इनकी[1] उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने अकिंचित्करके (१) सिद्ध और (२) बाधित ये दो भेद बतलाये हैं, जबकि अकलंकने अकिंचित्करका एक 'सिद्ध' मात्र भेद बतलाया है और बाधितको साध्याभासोंमें ग्रहण किया है। यथार्थमें अकिंचित्कर हेत्वाभास[2] लक्षणविचारके समयमें ही होता है, वादके समय नहीं। वादके समय तो व्युत्पन्नके लिए किया गया प्रयोग पक्षमें दूषण-प्रदर्शन द्वारा ही दूषित हो जाता है। तात्पर्य यह कि वादकालमें पक्षको पक्षाभास बता देनेके बाद अकिंचित्कर हेत्वाभासका उद्भावन निरर्थक है। अतः मात्र लक्षण-विचारमें ही अकिंचित्करका विचार किया जाता है।

(इ) द्विविध दृष्टान्ताभास :

(१) अन्वयदृष्टान्ताभास—माणिक्यनन्दिने[3] दृष्टान्ताभासोंका निरूपण करते हुए उन्हें दो भागोंमें विभक्त किया है—(१) अन्वयदृष्टान्ताभास और (२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास। इनमें अन्वयदृष्टान्ताभासके चार भेद हैं—(१) असिद्धसाध्य, (२) असिद्धसाधन, (३) असिद्धोभय और (४) विपरीतान्वय। इनमें आदिके तीन तो प्रशस्तपाद और दिङ्नाग कथित तथा चौथा दिग्नाग और धर्मकीर्ति प्रतिपादित है और जिन्हें हम वादिराज द्वारा उदाहृत पूर्वोक्त दृष्टान्ताभासोंमें भी देख चुके है। माणिक्यनन्दिने प्रशस्तपाद, दिग्नाग और धर्मकीर्ति प्रतिपादित तथा वादिराज द्वारा अनुसृत शेष अन्वयदृष्टान्ताभासोंको छोड़ दिया है।

(२) व्यतिरेकदृष्टान्ताभास —अन्वयदृष्टान्ताभासोंकी तरह व्यतिरेकदृष्टान्ताभासके भी चार भेद[4] है—(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक, (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक, (३) असिद्धोभयव्यतिरेक और (४) विपरीतव्यतिरेक। इनमें आद्य तीन प्रशस्तपाद और दिङ्नाग वर्णित तथा चतुर्थ दिग्नाग और धर्मकीर्ति अभिहित हैं और जिन्हें भी हम वादिराजके व्याख्यानमें ज्ञात कर चुके हैं। शेष उपर्युक्त तार्किकोंद्वारा स्वीकृत तथा वादिराजद्वारा प्रदर्शित व्यतिरेकदृष्टान्ताभासोंको भी माणिक्यनन्दिने स्वीकार नहीं किया।

(ई) चतुर्विध बाल-प्रयोगाभास :

अवयव-विमर्श प्रकरणमें यह स्पष्ट कर आये है कि परार्थानुमानका प्रयोग

---

१. परी०, ६।३५-३८।

२. वही० ६।३८।

३. दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः। अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्। विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम्। विद्युदादिनाऽतिप्रसंगात्।
—परी० मु० ६।४०-४३।

४. वही, ६।४१-४५।

व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा दो प्रकारका है। अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंके प्रयोगको ही बाल-प्रयोग और उसके आभास (असत् प्रयोग)को बाल-प्रयोगाभास कहा गया है। प्रकृतमें देखना है कि माणिक्यनन्दिने बालप्रयोगाभासका क्या स्वरूप बतलाया है ? बालप्रयोगके विवेचनके समय यह ज्ञात कर चुके हैं कि विभिन्न मन्दमति प्रतिपाद्योंके लिए जैन तार्किकोंने उतने अवयवोंका प्रयोग आवश्यक माना है जितनोंसे उन्हें प्रकृतार्थप्रतिपत्ति हो जाए। किसी मन्दमतिके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंकी आवश्यकता होती है, किसीके लिए उपनयसहित चारोंकी और किसी अन्यके लिए निगमनसहित पाचोंकी। अतएव यथायोग्य प्रयोग बालप्रयोग और उसमें अन्यथा—न्यून अथवा विपरीत प्रयोग बालप्रयोगाभास[1] है। और इस प्रकार बालप्रयोगाभास चार प्रकारका सम्भव है—(१) द्वि-अवयवप्रयोगाभास, (२) त्रि-अवयवप्रयोगाभास, (३) चतुरवयवप्रयोगाभास और (४) विपरीतावयवप्रयोगाभास।

(१) द्वि-अवयवप्रयोगाभास किसी मन्दमति प्रतिपाद्यके लिए पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीनका प्रयोग आवश्यक है, किन्तु उसके लिए केवल पक्ष और हेतु दोका ही प्रयोग करना द्वि-अवयवप्रयोगाभास नामका बालप्रयोगाभास है।

(२) त्रि-अवयवप्रयोगाभास—चार प्रयोगोंसे समझने वाले प्रतिपाद्यके लिए तीनका ही प्रयोग करना त्रि-अवयवप्रयोगाभास है।

(३) चतुरवयवप्रयोगाभास—पाच अवयवप्रयोगोंसे साध्यार्थका ज्ञान करनेवाले बालके लिए चार अवयवका ही प्रयोग करना चतुरवयव-बालप्रयोगाभास है। जैसे[2]—'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है, जो धूमवाला होता है वह अग्निवाला होता है, यथा महानस, और धूमवाला यह है' इन चारका ही प्रयोग करना, निगमनका नहीं।

(४) विपरीतावयवप्रयोगाभास[3]—क्रमबद्ध अवयवोंका प्रयोग न कर विपरीत प्रयोग करना विपरीतावयवप्रयोगगाभास है। जैसे उपनय न कहकर

---

१. बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता।
—परी० मु० ६।४६।

२. अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानसः, धूमवांश्चायमिति वा।
—वही, ६।४७-४८।

३. तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायम्।
—परीक्षामु० ६।४९।

निगमनका प्रयोग करना। यथा—धूमवाला होनेसे अग्निवाला है (निगमन), और यह धूमवाला है (उपनय)।

माणिक्यनन्दिने[1] उक्त प्रकारके प्रयोगोंको बालप्रयोगाभास इसलिए बतलाया है क्योंकि जिस प्रतिपाद्यने अमुक संख्यक अवयवोंसे साध्यार्थप्रतिपत्तिका संकेत ग्रहण कर रखा है उसके लिए उतने संख्यक अवयवोंका प्रयोग न कर कम प्रयोग अथवा क्रमभंग कर प्रयोग करनेसे उसे प्रकृतार्थकी स्पष्टतासे प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

प्रश्न है कि जब मन्दप्रज्ञोंके लिए कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पाँच अवयव अपेक्षणीय हैं तो उनके आभास भी कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पाँच होना चाहिए। किन्तु उपर्युक्त विवेचनमें पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास इन तीन अवयवाभासोंका तो कथन उपलब्ध है, पर उपनयाभास और निगमनाभास इन दोका नहीं, यह विचारणीय है?

हमारा विचार है कि हेतुकी आवृत्तिको उपनय और प्रतिज्ञाके उपसंहारको निगमन कहा गया है। अत. हेतुदोषोंके अभिधानसे उपनयाभास और पक्षदोषोंके कथनसे निगमनाभास प्रतिपादित हो जाते हैं। दूसरे, बालप्रयोगाभासके अन्तर्गत जो चतुर्थ विपरीतावयवप्रयोगाभास अभिहित है उसका अर्थ उपनयाभास तथा निगमनाभास है, क्योंकि उपनयके स्थानमें उपनयका और निगमनके स्थानमें निगमनका प्रयोग न कर विपरीत अर्थात् निगमन और उपनयका उचितानुपूर्वीका उल्लंघन करके प्रयोग करना ही निगमनाभास तथा उपनयाभास है। जैसाकि चारुकीर्तिके[2] मन्तव्यसे प्रकट है। जैन तर्कग्रन्थोंमें उनका स्पष्ट प्रतिपादन खोजते हुए वह भी हमें देवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारमें[3] उपलब्ध हो गया। देवसूरिने उक्त पक्षाभासादिके अतिरिक्त उपनयाभास और निगमनाभासका भी एक-एक सूत्रद्वारा स्वरूप-निर्देश किया है।

देवसूरि-प्रतिपादित अनुमानाभास :

देवसूरिका भी अनुमानाभासप्रतिपादन उल्लेखनीय है। उन्होंने[4] पक्षा-

---

१. स्पष्टतया प्रकृतार्थप्रतिपत्तेरयोगात्।
—परी० ६।४०।

२. उपनयानन्तरं निगमनप्रयोगे कर्त्तव्ये निगमनानन्तरमुपनयप्रयोगोऽप्याभास एव उचितानुपूर्विकत्वाभावादित्यर्थः।
—प्रमेयरत्नालं० ६।४९, पृ० २००।

३. प्र० न० त० ६।८१, ८२, पृ० १२३६-१२४०।

४. पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासमिति।
—प्र० न० त० ६।३७, पृ० १००७।

भासादिसे उत्पन्न ज्ञानको अनुमानाभास बतलाते हुए अकलंक और माणिक्यनन्दि-की तरह प्रथमतः त्रिविध पक्षाभासों तथा निराकृतपक्षाभासके प्रत्यक्षनिराकृत आदि पाँच भेदोंका ९ सूत्रोंमें[1] एवं सूत्रोक्त 'आदि' शब्दसे[2] स्मरणनिराकृतसाध्य-धर्मविशेषण और तर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण इन दोका व्याख्या (स्याद्वाद-रत्नाकर)में कथन किया है। इसके पश्चात् सिद्धसेनकी तरह तीन हेत्वाभासों-का[3] निरूपण किया है। इनकी[4] विशेषता यह है कि इन्होंने उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध दो असिद्धोंका सूत्रोंमें तथा अन्य स्वीकृत भागासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, सन्दिग्धासिद्ध, प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध आदि असिद्ध भेदोंकी समीक्षा प्रस्तुत की है। इसी प्रकार पराभिमत आठ विरुद्धभेदोंकी[5] भी मीमांसा करते हुए उन्हें पृथक् स्वीकार नहीं किया। अनैकान्तिकके भी दो[6] ही भेद माने हैं। अठारह दृष्टान्ताभासोंका[7] निरूपण धर्मकीर्ति और वादिराजकी तरह है। इनकी[8] जो अन्य उल्लेखयोग्य विशेषता है वह है दो उपनयाभासों और दो निगमना-भासोंका नया प्रतिपादन। इसके अतिरिक्त पक्षशुद्ध्याभास आदि पाँच अन्य अव-यवाभासोंका भी संकेत किया है। ध्यातव्य है कि इन्होंने[9] अकलंक और माणि-क्यनन्दि स्वीकृत अकिंचित्कर हेत्वाभासकी समीक्षा की है। इनका[10] मन्तव्य है कि अन्यथानुपपत्तिका निश्चय न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपरीत ज्ञान होनेपर विरुद्ध ये तीन ही हेत्वाभास आवश्यक हैं, अकिंचित्कर नहीं ? किन्तु जहाँ साध्य सिद्ध (निश्चित, असन्दिग्ध और अविपरीत) है वहाँ उसे सिद्ध करनेके लिए यदि कोई प्रतिवादी हेतु प्रयोग करे तो उस हेतुको क्या कहा जाएगा ? अतः ऐसे स्थलपर उक्त प्रकारके हेतुको सिद्धसाधन अकिंचित्कर ही कहना होगा। इसीसे अकलंकने 'सिद्धेऽकिंचित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपे-क्षया' (प्र० सं० ४४), 'सिद्धेऽकिंचित्करोऽखिलः' (वही, ४८) जैसे प्रति-पादनों द्वारा अकिंचित्कर हेत्वाभासकी आवश्यकता प्रदर्शित की है।

---

१. प्र० न० त० ६।३८-४६।
२. वही, ६।४०।
३. वही, ६।४७।
४. वही, ६।४८-५१, तथा व्याख्या।
५. वही० ६।५३, पृ० १०२१।
६. वही, ६।५५
७. वही, ६।५८-८०।
८. वही, ६।८१, ८२।
९. वही, ६।५७, पृ० १२३०।
१०. वही, ६।५७, पृ० १२३०।

हेमचन्द्रोक्त अनुमानाभास :

हेमचन्द्रने[१] स्वार्थानुमान प्रकरणमें साध्यलक्षणके प्रसंगसे प्रत्यक्षबाधा आदि छह बाधाओं (पक्षाभासों)का निर्देश किया है। इनमें पांच तो न्यायप्रवेशकार और माणिक्यनन्दि सम्मत है और अन्तिम प्रतीतिबाधा धर्मकीर्तिसम्मत। इन्होंने सिद्ध और अनिष्ट पक्षाभासोंको अस्वीकार तो नही किया, किन्तु उनका स्पष्ट प्रतिपादन भी नही किया। परार्थानुमान प्रकरणमे[२] दिङ्नाग, सिद्धसेन और देवसूरि स्वीकृत तीन हेत्वाभासोका कथन किया है। असिद्धके[३] स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध दो भेद बतलाकर वादी, प्रतिवादी और उभयकी अपेक्षासे उक्त दोनों असिद्धोंके तीन-तीन भेद और भी निरूपित किये है। विशेष्यासिद्धादि पराभिमत असिद्धभेदोका इन्हीमें अन्तर्भाव किया है। अन्य तार्किको द्वारा स्वीकृत आठ[४] विरुद्धभेदोको उदाहृत करके उन्हें विरुद्धलक्षण द्वारा ही संगृहीत किया है। हेमचन्द्रको विशेषता है कि इन्होने[५] धर्मकीर्तिकी तरह ९-९ दृष्टान्ताभास न मान कर आठ-आठ माने है। अनन्वय और अव्यतिरेक दो दृष्टान्ताभास स्वीकार नहीं किये, प्रत्युत उनकी मीमासा की है और उन्हें अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभासोंसे अभिन्न बतलाया[६] है। उपनयाभास, निगमनाभास और बालप्रयोगाभासके विषयमे हेमचन्द्र मौन है।

अन्य जैन तार्किकोंका मन्तव्य .

१. धर्मभूषण—पिछले जैन तार्किक धर्मभूषण, चारुकीर्ति और यशोविजयने भी अनुमानदोषोंपर चिन्तन किया है। धर्मभूषणने[७] पक्षाभासोका तो कोई पृथक् विचार नही किया। हाँ, बाधितपक्षाभासके भेदोका अकिंचित्कर हेत्वाभासके द्वितीय भेद बाधितविषयके अन्तर्गत कथन अवश्य किया है। माणिक्यनन्दि सम्मत चार हेत्वाभास बतलाये है। अकिंचित्करके[८] सिद्धसाधन और बाधितविषय ये दो

---

१. प्र० मी० १।२।१४।

२. प्र० मी०, २।१।१६।

३. वही, २।१।१७, १८, १९।

४. 'अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्गृहीताः ··
—वही, २।१।२०।

५. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामष्टावष्टौ दृष्टान्ताभासाः।
—वही, २.१.२२।

६. प्र० मी० २।१।२७, पृ० ५९।

७. न्या० दी० पृ० ६६।

८. अप्रयोजको हेतुरकिंचित्करः। स द्विविधः—सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति।······
—न्या० दी० पृ० १०२-१०३।

भेद करके बाधितविषयके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, आगमबाधित और स्व-वचनबाधित इन चारको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है तथा 'आदि,'[1] शब्दसे और भी अकिंचित्कर भेदोंको स्वयं विचारनेका संकेत किया है। दृष्टान्ताभासोंके कथनका प्रकार उल्लेखनीय है। अदृष्टान्तके वचन और दृष्टान्तके अवचनको इन्होंने[2] दृष्टान्ताभास कहा है तथा अन्वयदृष्टान्ताभास और व्यतिरेकदृष्टान्ताभास दोनोंके उक्त प्रकारसे दो-दो भेद प्रदर्शित किये हैं। उपनयाभास और निगमनाभासका इन्होंने[3] भी निर्देश किया है। दोनोंका व्यत्यय (विपरीतक्रम)से कथन करना उपनयाभास तथा निगमनाभास है। बालप्रयोगाभासका इन्होंने प्रतिपादन नहीं किया।

२ चारुकीर्ति—चारुकीर्ति यद्यपि माणिक्यनन्दिके व्याख्याकार होनेसे उनका ही अनुसरण करते हुए मिलते हैं फिर भी इनका अपना वैशिष्ट्य है। इन्होंने[4] पक्षाभासादिकी परिभाषाएँ नव्यन्यायपद्धतिसे प्रस्तुत की हैं जो वस्तुतः जैनतर्क-परम्पराके लिए अभिनव है। माणिक्यनन्दिने पाँच प्रकारके ही बाधितपक्षाभासोंका कथन किया था, किन्तु देवसूरिने जहाँ इनमें स्मरणनिराकृतसाध्यधर्म-विशेषण और तर्कनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण इन दो बाधितोंको सम्मिलित कर सात बाधितोका वर्णन किया है वहाँ चारुकीर्तिने[5] इनमें एक प्रत्यभिज्ञाबाधित और मिलाकर आठका प्रतिपादन किया है तथा माणिक्यनन्दिके पंचविधत्वकथन-को उपलक्षणपरक कहकर अपने अष्टविधत्वप्रतिपादनको सूत्रकारानुमत बतलाया है। इनकी[6] अन्य विशेषता यह है कि इन्होंने नैयायिकोंके उस मतकी भी समीक्षा की है जिसमें प्रत्यक्षादिबाधितस्थलमें बाध (कालात्ययापदिष्ट) हेत्वाभास माना गया है और अनुमानबाधितस्थलमें सत्प्रतिपक्ष। चारुकीर्तिका मत है कि अबाधितत्व पक्षका लक्षण है, अतः उससे रहित (बाधितत्व)को पक्षाभास कहना तो युक्त है, किन्तु हेत्वाभास नहीं, हेतुलक्षणके अभावमें ही हेत्वाभास मानना उचित है। अन्यथा हेत्वाभासस्थलमें भी पक्षाभासके स्वीकारका प्रसंग होनेसे हेत्वाभासका

---

१. एवमादयोऽप्यकिंचित्करविशेषाः स्वयमूह्याः।
—न्या० दी पृ० १०२।

२. वही, पृ० १०५, १०८।

३. अनयोर्व्यत्ययेन कथनमनयोराभासः।
—वही, पृ० ११२।

४. प्रमेयरत्नाल० ६।११ आदि।

५. अत्र यद्यपि स्मृतिबाधितप्रत्यभिज्ञाबाधिततर्कबाधितानामपि सम्भवादबाधितस्याष्टविधत्वमेव युक्तं न तु पंचविधत्वम्।…तथापि पंचविधत्वोक्तेरुपलक्षणपरत्वादष्टविधत्वमपि सूत्रकारानुमतमेवेति बोध्यम्।
—प्रमेयरत्नालं० ६।२०, पृ० १५१।

६. वही, ६।२० पृ० १६२।

ही विलोप हो जाएगा। इसीप्रकार अनुमानबाधित स्थलमें सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास मानना भी उचित नही है, क्योंकि पक्षके दोषको पक्षाभास ही मानना युक्त है, हेत्वाभास नहीं। इनका एक वैशिष्ट्य और है। इन्होंने[1] उचितानुपूर्वीके अभावमें उपनयाभास और निगमनाभासका भी निर्देश किया है।

३. यशोविजय—यशोविजयने[2] पृथक् रूपसे पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासोंका कथन नही किया, साध्यके लक्षण और दृष्टान्तप्रयोगके समर्थनमे उनका प्रतिपादनाभिप्राय प्रकट होता है। हेत्वाभासोका उन्होने[3] स्पष्ट निरूपण किया है। और सिद्धसेन तथा देवसूरिकी तरह उन्हे त्रिविध बतलाया है। अकिंचित्करको चतुर्थ हेत्वाभास माननेके धर्मभूषणके मन्तव्यका समालोचन भी किया है। उनका[4] कहना है कि सिद्धसाधन और बाधितविषय क्रमश. प्रतीत और निराकृत पक्षाभासभेदोंसे भिन्न नही है। और यह आवश्यक नही है कि जहाँ पक्षदोष हो वहाँ हेतुदोष भी अवश्य हो। अन्यथा वहाँ दृष्टान्तादि दोष भी अवश्य मानना पड़ेंगे।

किन्तु हम पहले कह आये है कि जहाँ साध्य सिद्ध है और उसे सिद्ध करनेके लिए कोई हेतुका प्रयोग करता है तो उसका वह हेतु पक्षदोषके अलावा अकिंचित्कर कहा जाएगा। यह नही कि पक्षदोष होनेपर हेतुदोष न हो—वह हो सकता है। जब विनेयोंको व्युत्पादन कराना आवश्यक है तो उनके लिए लक्षणव्युत्पादनशास्त्रमे अकिंचित्कर दोषका ज्ञान कराना ही चाहिए। हाँ, व्युत्पन्नोके प्रयोगकालमे उसकी आवश्यकता नही है। वहाँ तो पक्षदोषोंका प्रदर्शन ही पर्याप्त है—उसीसे व्युत्पन्नप्रयोग दूषित हो जाता है। चारुकीर्ति[5] भी यही कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन तर्कग्रन्थोंमे जहाँ अनुमान और उसके परिकर (अवयवादि) पर चिन्तन उपलब्ध है वहाँ उसके दोषोंपर भी विचार किया गया है।

---

१. प्रमेयरत्ना०, ६।४६, पृ० २००।

२. जैनत० भा० पृ० १३. १६।

३. वही, पृ० १८।

४. अकिंचित्कराख्यश्चतुर्थोऽपि हेत्वाभासभेदो धर्मभूषणेनोदाहृतो न श्रद्धेयः। सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति द्विविधस्याप्यप्रयोजकाह्वयस्य तस्य प्रतीत-निराकृताख्यपक्षाभासभेदानतिरिक्तत्वात्। न च यत्र पक्षदोषस्तत्रावश्यं हेतुदोषोऽपि वाच्यः, दृष्टान्तादिदोषस्याप्यवश्यं वाच्यत्वापत्तेः।
—जैनत० भा० पृ० १६।

५. लक्षणव्युत्पादनशास्त्र एव असावकिंचित्करलक्षणो दोषो विनेयव्युत्पत्त्यर्थं व्युत्पाद्यते, न तु व्युत्पन्नाना प्रयोगकाले।
—प्रमेयरत्नालं० ६।३९।

द्वितीय परिच्छेद

इतर परम्पराओंमें अनुमानाभास-विचार

जैन तर्कग्रन्थोंमें चिन्तित अनुमान-दोषोंके विमर्शके साथ यदि यहाँ अन्य परम्पराओके तर्कग्रन्थोमें प्रतिपादित अनुमानाभासकी चर्चा न की जाय तो एक न्यूनता होगी और अनुमानाभासको आवश्यक जानकारी (तुलनात्मक अध्ययन) से वंचित रहेंगे। अत· वैशेषिक, न्याय और बौद्ध परम्पराके न्यायग्रन्थोमें बहुचर्चित अनुमानाभासपर भी यहाँ विचार किया जाता है। इससे जहाँ अन्य तार्किकोकी अनुमानाभाससम्बन्धी उपलब्धियोंका अवगम होगा वहाँ जैन तार्किकोकी भी अनुमानाभासचिन्तन-विषयक अनेक विशेषताएँ ज्ञात हो सकेंगी।

वैशेषिक परम्परा :

कणादने[1] अनुमानका व्यवहार अनुमानशब्दसे न करके 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है और उन लिङ्गोको गिनाया है जिनसे वह उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि उनके मतानुसार 'लैङ्गिक' (अनुमान) की सामग्री मुख्यतया लिङ्ग है तथा लिङ्गाभास (अलिङ्ग) उसका अवरोधक। सम्भवतः इसीसे कणादने[2] लिङ्गके विचारके साथ लिङ्गाभासका भी ऊहापोह किया है। पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त अनुमानके अङ्ग है, इसका उन्होने निर्देश नहीं किया और इसी कारण प्रतिज्ञाभास तथा दृष्टान्ताभासका भी कथन नही किया। चूँकि लिङ्गको उन्होंने[3] त्रिरूप प्रतिपादन किया है, अतः उन रूपोंके अभावमें लिङ्गाभासको तीन प्रकारका बतलाया है—(१) अप्रसिद्ध, (२) असत् और (३) सन्दिग्ध।

कणादके भाष्यकार प्रशस्तपादने[4] उक्त तीन लिङ्गाभासोंके अतिरिक्त अनध्यवसित नामके चौथे लिङ्गाभासका भी उल्लेख किया है। किन्तु बादको उसे

१. अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम्।
—वैशे० सू० ९।२।१।

२. अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः।
—वैशे० सू० ३।१।१५।

३. विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥
—वही, प्रश० भा० पृ० १०० पर उद्धृत पद्य तथा वही, ३।१।१५।

४. प्रश० भा० पृ० ११६, १२०।

असिद्धवर्गमें सम्मिलित कर लिया है। असिद्धके उन्होंने[1] चार भेद बतलाये हैं—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) तद्भावासिद्ध और (४) अनुमेयासिद्ध। ध्यान रहे, प्रशस्तपादने इन असिद्धभेदों तथा विरुद्धादि हेत्वाभासोंका सोदाहरण कथन किया है। विशेष यह कि उन्होंने[2] लैङ्गिककी सामग्री केवल लिङ्गको ही नहीं, प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवोंको बतलाया है तथा प्रत्येकका लक्षण देते हुए प्रतिज्ञाके लक्षणमें 'अविरोधि' पदका निवेश करके उसके द्वारा प्रत्यक्षविरोधी, अनुमानविरोधी, आगमविरोधी, स्वशास्त्रविरोधी और स्ववचनविरोधी इन पाँच प्रतिज्ञाभासोंका निरास किया है। इससे ज्ञात होता है कि उन्हें प्रतिज्ञाभास भी लिङ्गाभासकी तरह अनुमानाभास मान्य है और उसके पाँच भेद इष्ट हैं। प्रशस्तपादसे पूर्व प्रतिज्ञाभासोंका निरूपण उपलब्ध नहीं होता। प्रशस्तपादने[3] दृष्टान्ताभासोंका भी, जिन्हें निदर्शनाभासके नामसे उल्लेखित किया गया है, निरूपण किया है और उनके मूलमें साधर्म्यनिदर्शनाभास तथा वैधर्म्यनिदर्शनाभास ये दो भेद बतलाये हैं। इन दोनोंके भी छह-छह भेद निम्न प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—(१) लिंगासिद्ध, (२) अनुमेयासिद्ध, (३) उभयासिद्ध, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अननुगत और (६) विपरीतानुगत ये छह साधर्म्यनिदर्शनाभास तथा (१) लिंगाव्यावृत्त, (२) अनुमेयाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) आश्रयासिद्ध, (५) अव्यावृत्त और (६) विपरीतव्यावृत्त ये छह वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। इस प्रकार प्रशस्तपादने बारह निदर्शनाभासोंका कथन किया है। पर अन्तिम दो अवयवदोषों—अनुसन्धानाभास (उपनयाभास) और प्रत्याम्नायाभास (निगमनाभास) का कोई निर्देश नहीं किया[4], जो होना चाहिए था।

न्याय-परम्परा :

अक्षपादके[5] अनुसार अनुमानकी सामग्री पंचावयव है—उनसे ही अनुमान समग्ररूपमें आत्मलाभ करता है। अतः उनके मतानुसार अनुमानके दोष पाँच

---

१. प्रश० भा० पृ० ११६-१२१।

२. अविरोधिग्रहणात् प्रत्यक्षानुमानाभ्युपगतस्वशास्त्रस्ववचनविरोधिनो निरस्ता भवन्ति। यथाऽनुष्णोऽग्निरिति प्रत्यक्षविरोधी ···।

—प्रश० भा० पृ० ११५।

३. अनेन निदर्शनाभासा निरस्ता भवन्ति। तद्यथा···लिङ्गानुमेयोभयाश्रयासिद्धाननुगतविपरीतानुगताः साधर्म्यनिदर्शनाभासाः। ···लिङ्गानुमेयोभयाव्यावृत्ताश्रयासिद्धाव्यावृत्तविपरीतव्यावृत्ता वैधर्म्यनिदर्शनाभासाः।

—वही, पृ० १२२, १२१।

४. वही, १२३-१२७।

५. न्या० सू० १।१।३२।

होना चाहिए—(१) प्रतिज्ञाभास, (२) हेत्वाभास, (३) उदाहरणाभास, (४) उपनयाभास और (५) निगमनाभास। परन्तु अक्षपादने इनमेंसे केवल हेत्वाभासोंका वर्णन किया है, प्रतिज्ञाभासादिका नहीं; यह चिन्त्य है ? विचार करनेपर प्रतीत होता है कि यदि प्रतिवादीके हेतुको हेत्वाभास प्रमाणित कर दिया जाए तो उसके द्वारा होनेवाली साध्य-सिद्धि प्रतिबन्धित हो जाती है और तब उसमें प्रतिज्ञादोष आदि दोषोंका उद्भावन निरर्थक है। उद्योतकरने[1] 'साध्य-निर्देशः प्रतिज्ञा' इस न्यायसूत्रकार-वचन द्वारा द्विविध साध्यदोषों (सिद्ध और अनुपपद्यमानसाधन—असाध्यो) की निवृत्ति बतलाकर प्रतिज्ञादोषोंका संकेत उसीके द्वारा सूचित किया है। इसी प्रकार उदाहरण आदिके प्रतिपादक सूत्रोंके द्वारा उदाहरणादिदोष भी निरस्त किये गये हैं। अतएव उनका भी पृथक् प्रतिपादन आवश्यक नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि फिर हेतुप्रतिपादक सूत्रद्वयसे हेतुदोषोंका निराकरण सम्भव होनेसे हेत्वाभासोंका भी पृथक् कथन नहीं किया जाना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि यथार्थमें हेतुप्रतिपादक सूत्रों द्वारा हेतुदोषोंका निरास हो जाता है फिर भी हेत्वाभासोका जो पृथक् अभिधान किया गया है वह शास्त्रार्थमें प्रतिवादीको पराजित करनेके लिए उसी प्रकार आवश्यक एवं उपयोगी है जिस प्रकार छल, जाति और निग्रहस्थानोंका। अन्य दोषोकी अपेक्षा हेत्वाभास बलवान् और प्रधान दोष है। अत उनका वादीको पृथक् ज्ञान होना आवश्यक एवं अनिवार्य है। अतएव अक्षपादने कणादकी तरह हेत्वाभासोका ही निरूपण किया है। भिन्नता इतनी ही है कि जहाँ कणादने तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं वहाँ अक्षपादने पाँच कहे हैं। इसका कारण यह है कि कणाद त्रिरूपलिंगसे अनुमान मानते हैं और अक्षपाद पंचरूपलिंगसे। अतएव एक-एक रूपके अभावमें कणादको तीन और अक्षपादको पाँच हेत्वाभास इष्ट हैं। वे ये हैं[2]—(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष), (४) साध्यसम और (५) अतीतकाल (कालात्ययापदिष्ट—बाधितविषय)। वाचस्पति[3] और जयन्तभट्टने[4] भी एक-एक रूपके अभावसे होनेवाले पाँच हेत्वाभासोका ही समर्थन एवं उपपादन किया है। जयन्तभट्टने तो स्पष्टतया हेतुदोषोंके कथनसे ही पक्षदोषो तथा दृष्टान्तदोषोके भी

---

१. असाध्यं च द्वेधा सिद्धमनुपपद्यमानसाधनं च। तत्र साध्यनिर्देश इत्यनेन वचनेनोभयं निवर्त्यते सिद्धमनुपपद्यमानसाधनं च।

—न्यायवा० १।१।३३, पृ० ११०।

२. न्या० सू० १।२।४।

३. न्यायवा० ता० १।२।४, पृ० ३३० ।

४. न्यायक० पृ० १४। न्यायमं० पृ० ११७।

कथनकी बात कही है। उन्होंने[1] यहाँतक बल दिया है कि वास्तवमें वे सब हेतु दोष ही हैं, पक्षदोषों और दृष्टान्तदोषोंका पृथक् वर्णन केवल प्रपंचमात्र है। एक-दूसरे स्थलपर[2] भी वे उन्हें हेतुदोषोंका अनुविधायी होनेके कारण हेतुदोष ही बतलाते हैं और कहते हैं कि इसीसे सूत्रकारने हेत्वाभासोंकी तरह उनका पृथक् उपदेश नहीं किया। हमने उनका प्रदर्शन मात्र शिष्यहितके लिए किया है। उद्योतकरका[3] मन्तव्य है कि साधकत्व हेतुका और असाधकत्व हेत्वाभासका विशेष धर्म है। तथा साधकत्वसे तात्पर्य समस्त लक्षणोंका सद्भाव और असाधकत्वसे मतलब असमस्त लक्षणोंका सद्भाव है। आशय यह कि उद्योतकर हेतुदोषोंको ही साध्यसिद्धिका प्रतिबन्धक मानते हैं, अन्य दोष तो उन्हींमें समा जाते हैं और वे प्रतिज्ञादिलक्षणसूत्रों द्वारा निरस्त हो जाते हैं। उद्योतकरका हेत्वाभाससम्बन्धी विस्तृत निरूपण विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने[4] हेतु और हेत्वाभासोंके भेदोंका प्रपंच १७६ बतलाया है और उन्हें कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करके सूत्रकारके हेत्वाभास-पंचकमें ही संग्रहीत किया है। पुनः असिद्धके ३८४, २०३२ और अनन्त भेदोंकी भी सूचना करके अनैकान्तिकके ६ और विरुद्धके ४ भेदोंका भी उल्लेख किया है।

बौद्ध-परम्परा :

न्यायप्रवेशकारने[5] यतः पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन ही साधन (परार्थानुमान) के अवयव स्वीकार किये है, अक्षपादकी तरह पाच या कणादकी तरह एक नही, अतः साधनदोष भी उन्होंने[6] तीन प्रकारके प्रतिपादित किये हैं—(१) पक्षाभास, (२) हेत्वाभास और (३) दृष्टान्ताभास। उनका यह प्रतिपादन

---

१. ये चैते प्रत्यक्षविरुद्धतादय. पक्षदोषाः, ये च वक्ष्यमाणाः साधनविकलत्वादयो दृष्टान्तदोषास्ते वस्तुस्थित्या सर्वे हेतुदोषा एव, प्रपंचमात्रं तु पक्षदृष्टान्तदोषवर्णनम्''' ।
—न्यायमं० पृ० १३३-१३४।

२. एते च वस्तुवृत्तेन हेतुदोषा एव तदनुविधायित्वात, अत एव हेत्वाभासवत्सूत्रकृता नोपदिष्टाः, अस्माभिस्तु शिष्यहिताय प्रदर्शिता एव।
—वही, पृ० १४०।

३. साधकत्वासाधकत्वे तु विशेषः हेतोः साधकत्वं धर्मोऽसाधकत्वं हेत्वाभासस्य। किं पुनस्तत् ? समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।
—न्यायवा० १।२।४, पृ० १६३।

४. वही, १।२।४, पृ० १६४-१६९।

५. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते।'''एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।
—न्यायप्र० पृ० १-२।

६. वही, पृ० २-७।

संगत प्रतीत होता है। यथार्थमें परार्थानुमानके जितने प्रयोजक तत्त्व स्वीकृत एवं प्रतिपादित किये जाएँ, उतने ही उसके अवरोधक दोषोंकी सम्भावना होनेसे उन सभीका भी प्रतिपादन करना उचित है। यह युक्त नहीं कि साधनावयवोंको तो अमुक संख्यामें मान कर उनका प्रत्येकका विवेचन किया जाए और उनके दोषोंकी संख्या उतनी ही सम्भाव्य होने पर उनका प्रतिपादन न किया जाए। जैसा कि हम अक्षपादके प्रतिपादनमें इस न्यूनताको देख चुके हैं। हेत्वाभासोंके द्वारा ही पक्षाभासादि दोषोंके संग्रहकी जयन्तभट्टकी युक्ति बुद्धिको नहीं लगती। अन्यथा अनुमानका प्रधान अंग हेतु होनेसे उसीका निरूपण किया जाना चाहिए और अन्य अवयवोंका उसके द्वारा ही संग्रह कर लेना चाहिए। यद्यपि इस असंगतिका परिहार करनेका प्रयास उन्होंने किया है पर उसमें उन्होंने कोई अकाट्य एवं बलवान् युक्ति प्रस्तुत नहीं की। इस दृष्टिसे न्यायप्रवेशकारका तीनों दोषोंका प्रतिपादन हम युक्ति और संगतिके निकट पाते हैं।

जो सिद्ध करनेके लिए इष्ट होनेपर भी प्रत्यक्षादिविरुद्ध हो वह पक्षाभास[1] है। न्यायप्रवेशकारने[2] इसके नौ भेद प्रतिपादित किये हैं—(१) प्रत्यक्षविरुद्ध, (२) अनुमानविरुद्ध, (३) आगमविरुद्ध, (४) लोकविरुद्ध, (५) स्ववचनविरुद्ध, (६) अप्रसिद्धविशेषण, (७) अप्रसिद्धविशेष्य, (८) अप्रसिद्धोभय और (९) प्रसिद्धसम्बन्ध। इन्हींको प्रतिज्ञादोष (प्रतिज्ञाभास) कहते हैं। न्यायप्रवेशमें[3] इनका उदाहरणों द्वारा वर्णन किया है। उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्तिने[4] प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमाननिराकृत, प्रतीतिनिराकृत और स्ववचननिराकृत ये चार ही पक्षाभास स्वीकार किये हैं।

हेत्वाभास तीन हैं[5]—(१) असिद्ध, (२) अनैकान्तिक और (३) विरुद्ध। यतः न्यायप्रवेशकारने कणादकी तरह हेतुको त्रिरूप माना है, अतः उन तीन रूपोंके अभावमें उसके तीन दोषोंका प्रतिपादन भी उन्होंने कणादकी तरह किया है। एक-एक रूप (पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व) के अभावमें क्रमशः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये तीन ही हेतु-दोष सम्भव हैं। असिद्ध चार प्रकारका है[6]—(१) उभयासिद्ध, (२) अन्यतरासिद्ध, (३) सन्दिग्धासिद्ध और (४) आश्रयासिद्ध। प्रशस्तपादने[7] भी ये चार भेद स्वीकार किये हैं, जैसा

१, २—न्यायप्र० पृ० २–३।

३. वही, पृ० ३।

४. न्या० वि० पृ० ३४–६६।

५. न्या० प्र० पृ० ३।

६. वही, पृ० ३।

७. प्रश० भा० पृ० ११६–११७।

कि ऊपर कहा जा चुका है। अनैकान्तिकके[1] छह भेद हैं—(१) साधारण, (२) असाधारण, (३) सपक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापी, (४) विपक्षैकदेशवृत्ति सपक्षव्यापी, (५) उभयपक्षैकदेशवृत्ति और (६) विरुद्धाव्यभिचारी। उद्योतकरने[2] विरुद्धाव्यभिचारीकी समीक्षा करके उसे अस्वीकार किया है। प्रतीत होता है कि इस विरुद्धाव्यभिचारीकी मान्यता न्यायप्रवेशकारसे भी पूर्ववर्ती है, क्योंकि उनके पूर्व प्रशस्तपादने[3] भी उसकी मीमांसा की है और उसे अनध्यवसितमें अन्तर्भूत किया है। धर्मकीर्तिने[4] भी इसे स्वीकार नहीं किया। जयन्तभट्टने[5] भी इसे नहीं माना। विरुद्धके[6] चार प्रकार हैं—(१) धर्मस्वरूपविपरीतसाधन, धर्मविशेषविपरीतसाधन, (३) धर्मिस्वरूपविपरीतसाधन और (४) धर्मिविशेषविपरीतसाधन। प्रशस्तपादने[7] विरुद्धके भेदोंका कोई संकेत नहीं किया। पर उद्योतकरने[8] अवश्य उसके चार भेदोंका निर्देश किया है। धर्मकीर्तिने[9] केवल दो भेद स्वीकार किये हैं।

दृष्टान्ताभासके दो भेद अभिहित हैं[10]—(१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य। साधर्म्यदृष्टान्ताभास पांच प्रकारका है—(१) साधनधर्मासिद्ध, (२) साध्यधर्मासिद्ध, (३) उभयधर्मासिद्ध, (४) अनन्वय और (५) विपरीतान्वय। वैधर्म्यदृष्टान्ताभासके भी पांच प्रकार हैं—(१) साध्याव्यावृत्त, (२) साधनाव्यावृत्त, (३) उभयाव्यावृत्त, (४) अव्यतिरेक और (५) विपरीतव्यतिरेक। प्रशस्तपादके पूर्वोक्त[11] बारह निदर्शनाभासोंमें न्यायप्रवेशकारके दृष्टान्ताभासोंसे आश्रयासिद्ध नामक दो निदर्शनाभास अधिक हैं। अर्थात् न्यायप्रवेशमें जहां दश दृष्टान्ताभास वर्णित हैं वहां प्रशस्तपादभाष्यमें बारह अभिहित हैं। धर्मकीर्तिने[12]

---

१. न्या० प्र० पृ० ३।
२. न्या० वा० १।२।४, पृ० १६६।
३. प्रश० भा० पृ० ११८।
४. न्यायबि० पृ० ८६।
५. न्यायम० पृ० १५५।
६. न्यायप्र० पृ० ५।
७. प्रश० भा० पृ० ११७।
८. न्यायवा० १।२।४, पृ० १६६।
९. न्यायबि० पृ० ७८।
१०. न्यायप्र० पृ० ५–७।
११. प्रश० भा० पृ० १२३।
१२. साध्यसाधनधर्मोभयविकलास्तथा सन्दिग्धसाध्यधर्मादयश्च।···अनन्वयोऽप्रदर्शितान्वयश्च। तथा विपरीतान्वयः। इति साधर्म्येण। वैधर्म्येणापि···साध्याद्यव्यतिरेकिणः। तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेकादयः।···अव्यतिरेको यथा···अप्रदर्शितव्यतिरेको···वैधर्म्येणापि विपरीतव्यतिरेको···न्यायबि० पृ० ९४–१०१।

नौ साधर्म्य और नौ ही वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहे हैं। इनमें सन्दिग्धसाध्यान्वय, सन्दिग्धसाधनान्वय, सन्दिग्धोभयान्वय और अप्रदर्शितान्वय ये चार साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, सन्दिग्धोभय-व्यतिरेक और अप्रदर्शितव्यतिरेक ये चार वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न्यायप्रवेशोक्त दृष्टान्ताभासोंसे भिन्न और नये हैं और धर्मकीर्ति-उपज्ञ है, शेष दोनों दृष्टान्ताभासोंके पाच-पाच भेद न्यायप्रवेशोक्त ही हैं। नैयायिक जयन्तभट्टने[1] न्यायप्रवेशकी तरह उभयविध पांच-पाच दृष्टान्ताभासोंका निरूपण किया है। पर उनका यह निरूपण उनकी परम्पराके लिए सर्वथा अभिनव है, क्योंकि उनके पूर्व न्यायपरम्परामें यह दृष्टिगोचर नही होता। जयन्तभट्टने[2] स्वयं कहा है कि हेत्वाभासको तरह सूत्रकारने उनका उपदेश नहीं किया, किन्तु हमने शिष्योंके हितार्थ प्रदर्शन किया है। जयन्तभट्टने[3] साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल इन तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभासोंको वस्तुदोषकृत तथा अनन्वय और विपरीतान्वय इन दो को वक्ताके वचनदोषकृत बतलाया है। इसी प्रकार साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त इन तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंको भी वस्तुदोषकृत तथा अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन दोको वक्ताके वचनदोषकृत प्रतिपादन किया है।

यद्यपि न्यायप्रवेशकारने[4] उपर्युक्त पक्षाभासादिको साधनाभास कहा है, अनुमानाभास नही, तथापि उन्हें साधनपदसे परार्थानुमान अभिप्रेत है और पक्ष हेतु तथा दृष्टान्त ये उसीके अवयव हैं। अतः साधनाभाससे परार्थानुमानाभास अर्थ ही न्यायप्रवेशकारको विवक्षित है। हा, स्वार्थानुमान, जिसे उन्होंने अनुमानशब्दसे उल्लेखित किया है, अवश्य मात्र लिंगापेक्ष है और इसीसे उसका लक्षण देते हुए कहा है कि 'लिंगादर्थदर्शनमनुमानम्'[5]—लिंगसे जो अनुमेयका दर्शन होता है वह अनुमान है। तथा 'हेत्वाभासपूर्वकं ज्ञानमनुमानाभासम्'—हेत्वाभासपूर्वक होनेवाला ज्ञान अनुमानाभास है। यहा भी अनुमानाभाससे न्यायप्रवेशकारको स्वार्थानुमानाभास इष्ट है। तात्पर्य यह है कि स्वार्थानुमानविचारमें मात्र हेत्वाभासोंका विचार प्रयोजक है। पर परार्थानुमानविचारमें हेत्वाभासोंके अतिरिक्त पक्षाभासों और दृष्टान्ताभासोंका भी विचार आवश्यक है, क्योंकि प्राश्निकोंको अप्रतीत अर्थका प्रतिपादन पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीनोंके वचनों द्वारा किया जाता है। अतएव उनकी निर्दुष्टताका ज्ञान होनेके लिए उक्त तीनों दोषोंका

---

१. न्यायमं० पृ० १४०।

२,३ वही, पृ० १४०।

४. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम्।
—न्यायप्र० पृ० ७।

५. वही, पृ० ७।

कथन जरूरी है। दूसरी बात यह है कि जब अनुमानको आत्मप्रत्यायन और साधनको परप्रत्यायनका कारण कहा जाता है तो सुतरा अनुमानपदसे स्वार्थानुमान और साधनपदसे परार्थानुमानका ग्रहण अभीष्ट है।

सांख्य, मीमांसा और वेदान्त दर्शनोंमें भी अनुमानदोषोंपर विचार उपलब्ध है, पर वह नही के बराबर है। अतएव उसपर यहाँ विमर्श नहीं किया—प्रथम अध्यायमें कुछ किया गया है।

●

उपसंहार

पिछले अध्यायोंमें भारतीय तर्कशास्त्रमें निरूपित एवं विवेचित अनुमान तथा उसके घटकोंके यथावश्यक तुलनात्मक अध्ययनके साथ जैन तर्कशास्त्रमें चिन्तित अनुमान एवं उसके परिकरका ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक विमर्श प्रस्तुत किया गया है। अब यहाँ जैन अनुमानकी उपलब्धियोंका संक्षेपमें निर्देश किया जायेगा, जिससे भारतीय अनुमानको जैन तार्किकोंकी क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या संशोधन किया है, यह समझनेमें सहायता मिलेगी।

अध्ययनसे अवगत होता है कि उपनिषद् कालमें अनुमानकी आवश्यकता एवं प्रयोजनपर भार दिया जाने लगा था, उपनिषदोंमें 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'[1] आदि वाक्योंद्वारा आत्माके श्रवणके साथ मननपर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों (युक्तियों) के द्वारा किया जाता था।[2] इससे स्पष्ट है कि उस कालमें अनुमानको भी श्रुतिकी तरह ज्ञानका एक साधन माना जाता था—उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था। यह सच है कि अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे व्यवहार होनेकी अपेक्षा 'वाकोवाक्यम्', 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', 'हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था।

प्राचीन जैन वाङ्मयमें ज्ञानमीमांसा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमानका 'हेतुवाद' शब्दसे निर्देश किया गया है और उसे श्रुतका एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे 'अभिनिबोध' नामसे उल्लेखित किया है। तात्पर्य यह कि जैन दर्शनमें भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ज्ञानों) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थनिश्चायक माना गया है। अन्तर केवल उनमें वैशद्य और अवैशद्यका है। प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष)।

अनुमानके लिए किन घटकोंकी आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणादने किया प्रतीत होता है। उन्होंने अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे निर्देश न कर 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमानका मुख्य घटक लिङ्ग

---

१. बृहदारण्य० २।४।५।

२. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
   मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गाभासोंका निरूपण किया है। उसके और भी कोई घटक है, इसका कणादने कोई उल्लेख नहीं किया। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंको उसका घटक प्रतिपादित किया है।

तर्कशास्त्रका निबद्धरूपमे स्पष्ट विकास अक्षपादके न्यायसूत्रमें उपलब्ध होता है। अक्षपादने अनुमानको 'अनुमान' शब्दसे ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारणसामग्री, भेदो, अवयवो और हेत्वाभासोका स्पष्ट विवेचन किया है। साथ ही अनुमानपरीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान-सहायक तत्त्वोका प्रतिपादन करके अनुमानको शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया ह। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गङ्गेशने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वोंको विविक्त करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है। वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकोने अनुमानको इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन न्याय (तर्क —अनुमान) दर्शनके नामसे ही विश्रुत हो गया।

असग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने न्यायदर्शनकी समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओंके आधारपर अनुमानका सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है। इनके चिन्तनका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमानकी विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़नेके साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी। वास्तवमें बौद्ध तार्किकोके चिन्तनने तर्कमें आयी कुण्ठाको हटाकर और सभी प्रकार के परिवेशोंको दूर कर उन्मुक्तभावसे तत्त्वचिन्तनकी क्षमता प्रदान की। फलत. सभी दर्शनोंमें स्वीकृत अनुमानपर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानो, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थसारथि प्रभृति मीमासकचिन्तकोने भी अपने-अपने ढंगसे अनुमानका चिन्तन किया है। हमारा विचार है कि इन चिन्तकोंका चिन्तन-विषय प्रकृति-पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तनसे अछूते नही रहे। श्रुतिके अलावा अनुमानको भी इन्हे स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बढ़ विवेचन किया है।

जैन विचारक तो आरम्भसे ही अनुमानको मानते आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' संज्ञासे उन्होने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावनके लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तनमें जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

अनुमानका परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भाव :

अनुमान प्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकोंने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना। प्रमाणके उन्होंने मूलतः दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। हम पीछे इन दोनोंकी परिभाषाएँ अङ्कित कर आये हैं। उनके अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाण-में अन्तर्भूत है, क्योंकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाणका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थके परिच्छेदक अविशद ज्ञानोंका इसीमें समावेश है। तथा वैशद्य एवं अवैशद्यके आधार पर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण मान्य नहीं है।

अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् नहीं :

प्राभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमानसे पृथक् अर्थापत्ति नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थके बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है। जैसे —'पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते' इस वाक्यमें 'उक्त 'पीनत्व' अर्थ 'भोजन' के बिना न होता हुआ 'रात्रिभोजन' की कल्पना करता है, क्योंकि दिवा भोजन-का निषेध वाक्यमें स्वयं घोषित है। इस प्रकारके अर्थका बोध अनुमानसे न होकर अर्थापत्तिसे होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमानसे भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतुसे उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थसे। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्य-थानुपपद्यमान अर्थ दोनों एक हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों ही व्याप्तिविशिष्ट होनेसे अभिन्न हैं। डा० देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तुका आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनों-में व्याप्यव्यापकभाव या व्याप्तिसम्बन्ध हो।'[1] देवदत्त मोटा है और दिनमें खाता नहीं है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रिभोजनकी कल्पनाकी जाती है। पर वास्तवमें मोटापन भोजनका अविनाभावी होने तथा दिनमें भोजनका निषेध करनेसे वह देवदत्तके रात्रिभोजनका अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—'देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्तेः।' यहाँ अन्यथानुपत्तिसे अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नहीं, क्योंकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नहीं हैं। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनों व्याप्तिपूर्वक होनेसे एक ही हैं—पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं।

---

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

अनुमानका विशिष्ट स्वरूप :

न्यायसूत्रकार अक्षपादकी 'तत्पूर्वकमनुमानम्', प्रशस्तपादको 'लिङ्गदर्शनात्सं-जायमानं लैङ्गिकम्' और उद्योतकरकी 'लिंगपरामर्शोऽनुमानम्' परिभाषाओंमें केवल कारणका निर्देश है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा 'लैंगिकी प्रतिपत्तिरनुमानम्' में भी लिङ्गरूप कारणका उल्लेख है, स्वरूपका नहीं। दिङ्नागशिष्य शङ्करस्वामीकी 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम्' परिभाषामें यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारण-के रूपमें लिङ्गको सूचित किया है, लिङ्गके ज्ञानको नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञा-यमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदिके अनुमापक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भाव मात्रसे अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शङ्करस्वामीके उक्त अनुमानलक्षणमें 'लिंगात्' के स्थानमें 'लिंगदर्शनात्' पद होने पर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलङ्कदेवने जो अनुमानका स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओंसे मुक्त है। उनका लक्षण है—

> लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
> लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥

इसमें अनुमानके साक्षात्कारण—लिङ्गज्ञानका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी 'लिङ्गिधीः' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट है। अकलङ्कने स्वरूपनिर्देशमें केवल 'धी.' या 'प्रतिपत्ति' नहीं कहा, किन्तु 'लिङ्गिधीः' कहा है, जिसका अर्थ है साध्य-का ज्ञान; और साध्यका ज्ञान होना ही अनुमान है। न्यायप्रवेशकार शङ्करस्वामी-ने साध्यका स्थानापन्न 'अर्थ' का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारणका निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलङ्कके इस लक्षण-की एक विशेषता और भी है। वह यह कि उन्होंने 'तत्फलं हानादिबुद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमानका फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंसे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलङ्ककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही अपनाया। इस अनुमानलक्षणसे स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग लिङ्गि (साध्य—अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभावका निश्चय है। यदि उसमें अविनाभावका निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पांच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'वज्र लोह लेख्य है, क्योंकि पार्थिव है, काष्ठ की तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपोंसे सम्पन्न होने पर भी अविना-भावके अभावसे सद्धेतु नहीं हैं, अपितु हेत्वाभास हैं और इसीसे वे अपने साध्योंके अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार 'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा,

क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है', 'समुद्रमें वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदों-का विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्रका उदय है' आदि हेतुओंमें पक्षधर्मत्व न होनेसे न त्रिरूपता है और न पंचरूपता। फिर भी अविनाभावके होनेसे कृत्तिका-का उदय शकटोदयका और चन्द्रका उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकासका गमक है।

हेतुका एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप :

हेतुके स्वरूपका प्रतिपादन अक्षपादसे आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धानसे प्रतीत होता है। उनका यह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दृष्टान्तोंपर आधा-रित है। अत एव नैयायिक चिन्तकोंने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उनकी व्याख्याएँ की हैं। वैशेषिक, बौद्ध, साख्य आदि विचारकोंने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकोंने षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, जैसा कि हम हेतुलक्षण प्रकरणमें पीछे देख आये है। पर जैन लेखकोंने अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और एकलक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैरूप्य, पांचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसाकि ऊपर अनुमानके स्वरूपमें प्रदर्शित उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इस अविनाभाव-को ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकोंकी ही उपलब्धि है, जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र है, यह हम पीछे विस्तारके साथ कह आये हैं।

अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति :

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभीने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका अङ्ग माना है। परन्तु जैन तार्किकोंने केवल व्याप्तिको उसका अङ्ग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमानमें पक्षधर्मता अनावश्यक है। 'उपरि वृष्टिरभूत् अधोपूराम्यथानुपपत्तेः' आदि अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म नहीं है फिर भी व्याप्तिके बलसे वह गमक है। 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यादि असद् अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म है किन्तु अविनाभाव न होनेसे वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मताको नहीं।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओंकी परिकल्पना :

अकलङ्कदेवने कुछ ऐसे हेतुओंकी परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये तीन हेतु है। इन्हें किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलङ्कने इनकी आव-

श्यकता एवं अतिरिक्तताका स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा अनुमान-प्रयोग :

अनुमानप्रयोगके सम्बन्धमें जहाँ अन्य भारतीय दर्शनोंमें व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी विवक्षा किये बिना अवयवोंका सामान्य कथन मिलता है वहाँ जैन विचारकोंने उक्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन भी किया है। व्युत्पन्नोंके लिए उन्होंने पक्ष और हेतु ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' जैसे स्थलोंमें बौद्धोंने और 'सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्' जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानोंमें नैयायिकोंने भी दृष्टान्तको स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नोंके लिए उक्त दोनों अवयवोंके साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंकी भी जैन चिन्तकोंने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यों समझिए—

गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेनके प्रतिपादनोंसे अवगत होता है कि आरम्भमें प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंसे अभिप्रेतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकालमें अकलङ्कका सङ्केत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्दने प्रतिपाद्योंको व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो वर्गोंमें विभक्त करके उनकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् अवयवोंका कथन किया। उनके बाद माणिक्यनन्दि,देवसूरि आदि परवर्ती जैन ग्रन्थकारोंने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नोंके लिए पक्ष और हेतु ये दो तथा अव्युत्पन्नोंके बोधार्थ उक्त दोके अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहुने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवोंका भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजयने किया है।

व्याप्तिका ग्राहक एकमात्र तर्क :

अन्य भारतीय दर्शनोंमें भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रहको व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शनमें वाचस्पति और सांख्यदर्शनमें विज्ञानभिक्षु इन दो तार्किकोंने व्याप्तिग्रहकी उपर्युक्त सामग्रीमें तर्कको भी सम्मिलित कर लिया। उनके बाद उदयन, गंगेश, वर्द्धमान प्रभृति तार्किकोंने भी उसे व्याप्तिग्राहक मान लिया। पर स्मरण रहे, जैन परम्परामें आरंभसे तर्कको, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दोंसे व्यवहृत किया गया है, अनुमानकी एकमात्र सामग्रीके रूपमें प्रतिपादित किया है। अकलङ्क ऐसे जैन तार्किक हैं जिन्होंने वाचस्पति और

विज्ञानभिक्षुसे पूर्व सर्व प्रथम तर्कको व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्पुष्ट किया तथा सबलतासे उसका प्रामाण्य स्थापित किया। उनके पश्चात् सभीने उसे व्याप्ति-ग्राहक स्वीकार कर लिया।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति :

यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्तिके भेदसे व्याप्तिके तीन भेदों, समव्याप्ति और विषमव्याप्तिके भेदसे उसके दो प्रकारों तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति इन दो भेदोंका वर्णन तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्तिप्रकारों (व्याप्तिप्रयोगों) का कथन केवल जैन तर्क-ग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनपर ध्यान देनेपर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान ही होना चाहिए। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों ज्ञानात्मक हैं, जब कि उपर्युक्त व्याप्तियाँ ज्ञेयात्मक (विषयात्मक) हैं। दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियोंमें एक अन्त-र्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्त-र्व्याप्तिके बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं, अत एव वे साधक नहीं हैं। तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप है अथवा उनका विषय है। इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है। इनका विशेष विवेचन तृतीय अध्यायमें किया गया है।

साध्याभास :

अकलङ्कने अनुमानाभासोंके विवेचनमें पक्षाभास या प्रतिज्ञाभासके स्थानमें साध्याभास शब्दका प्रयोग किया है। अकलङ्कके इस परिवर्तनके कारणपर सूक्ष्म ध्यान देनेपर अवगत होता है कि चूँकि साधनका विषय (गम्य) साध्य होता है और साधनका अविनाभाव (व्याप्तिसम्बन्ध) साध्यके ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञाके साथ नहीं, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्या-भास होनेसे उसे ही साधनाभासोंकी तरह स्वीकार करना युक्त है। विद्यानन्दने अकलङ्कको इस सूक्ष्म दृष्टिको परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया। यथा-र्थमें अनुमानके मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होनेसे तथा साधनका सीधा सम्बन्ध साध्यके साथ ही होनेसे साधनाभासकी भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है। अकलङ्कने शक्य, अभिप्रेत और असिद्धको साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास प्रतिपादित किया है—(साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽ-परम्। साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास :

हेत्वाभासोंके विवेचन-सन्दर्भमें सिद्धसेनने कणाद और न्यायप्रवेशकारक

तीन हेत्वाभासोंका कथन किया है, अक्षपादकी भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नही किये। प्रश्न हो सकता है कि जैन तार्किक हेतुका एक (अविनाभाव-अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते है, अत. उसके अभावमें उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए। वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य तो हेतुको त्रिरूप तथा नैयायिक पंचरूप स्वीकार करते है, अत. उनके अभावमे उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त है। पर सिद्धसेनका हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है ? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते है कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कही उसमें सन्देह होने और कही उसका विपर्यास होनेसे; प्रतीति न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास होते हैं।

अकलङ्क कहते है कि यथार्थमे हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमे होता है। वास्तवमे अनुमानका उत्थापक अविनाभावी हेतु ही है, अत. अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभावमे हेत्वाभासकी सृष्टि होती है। यत. हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अत. उसके अभावमें मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा उपपन्नत्व अर्थात् अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसीका विस्तार है। इस प्रकार अकलङ्कके द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नामके नये हेत्वाभासकी परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास :

माणिक्यनन्दिने आभासोंका विचार करते हुए अनुमानाभाससन्दर्भमे एक 'बालप्रयोगाभास' नामके नये अनुमानाभासकी चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभासका तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञको समझानेके लिए तीन अवयवोकी आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवोंका प्रयोग करना, जिसे चारकी आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँचकी जरूरत है उसे चारका ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रमसे अवयवोंका कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह वे चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास) सम्भव हैं। माणिक्यनन्दिसे पूर्व इनका कथन दृष्टिगोचर नही होता। अतः इनके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते है।

अनुमानमें अभिनिबोध-मतिज्ञानरूपता और श्रुतरूपता :

जैन वाङ्मयमें अनुमानको अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुत दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञानके पर्यायोंमें पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्तने उसे 'हेतुवाद' नामसे व्यवहृत किया है और श्रुतके पर्यायनामोंमें गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनोंमें कुछ विरोध-सा

प्रतीत होगा। पर विद्यानन्दने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने स्वार्थानुमानको अभिनिबोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेनने परार्थानुमानको श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्दका यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्रमें एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है। इस उपलब्धिका सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञानमीमांसाके साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकोंकी अनुमानविषयमें अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनका अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्रके लिए कई नये तत्त्व देता है।

●

परिशिष्ट–१

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अकलंक

सम्पादक–महेन्द्रकुमार जैन।

न्यायविनिश्चय भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५४।

सिद्धिविनिश्चय भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५९।

प्रमाणसंग्रह--अकलंकग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३९।

लघीयस्त्रय–अकलंकग्रन्थत्रयके अन्तर्गत, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, सन् १९३९।

अष्टशती (अष्टस०)–सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन् १९१८।

तत्त्वार्थवार्तिक भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५३।

अकलंकग्रन्थत्रय–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९५३।

२. अक्षपाद

न्यायसूत्र–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९१६।

३. अनन्तवीर्य

सिद्धिविनिश्चयटीका भाग १-२–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५९।

४. अनन्तवीर्य (लघु)

प्रमेयरत्नमाला–चौखम्भा, वाराणसी, वि० सं० २०२०।

५. अन्नम्भट्ट

तर्कसंग्रह–निर्णयसागर प्रेस, बंबई, सन् १९३३

तर्कसंग्रह–(न्यायबोधिनी) श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवनम्, वाराणसी।

६. अभयदेव

सन्मतितर्कटीका–गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद।

७. अर्चट

हेतुबिन्दुटीका–ओरियंटल इंस्टीटयूट, बड़ौदा, सन् १९४९।

८. ईश्वरकृष्ण

सांख्यकारिका–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९१७।

९. उदयन
न्यायवार्तिकतात्प० परि०–गव० सं० कालेज, कलकत्ता, सन् १९११ ।
न्यायकुसुमाजलि–चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९६२ ।
किरणावली—चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९१८ ।

१०. उद्योतकर
न्यायवार्त्तिक–चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, सन् १९१६ ।

११. उमास्वाति
तत्त्वार्थधिगमभाष्य–रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बंबई ।

१२. कणाद
वैशेषिकदर्शन–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९२३ ।

१३. कुमारिल
मीमासाश्लोकवार्तिक–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १८९८ ।

१४. केशवमिश्र
तर्कभाषा–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९६३ ।

१५. कैलाशचन्द्र शास्त्री
जैन न्याय–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९६६ ।

१६. कौटिल्य
कौटिलीय अर्थशास्त्र–मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९६१ ।

१७ गंगेश
तत्त्वचिन्तामणि–स्याद्वाद महाविद्यालय काशीमें विद्यमान प्रति ८१।सं० १० ।

१८. गृद्धपिच्छ
तत्त्वार्थसूत्र–दि० जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० नि० २४६७ ।

१९. चारुकीर्त्ति
प्रमेयरत्नालंकार–मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९४८ ।

२०. जगदीश तर्कालंकार
दीधितिटीका–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी ।

२१. जयन्तभट्ट
न्यायमंजरी–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९३४ ।
न्यायकलिका–गंगानाथ झा ।

२२. जैमिनि
मीमांसादर्शन–मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, सन् १९३४ ।

२३. दलसुखभाई

आगमयुगका जैन दर्शन–सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६६ ।

२४ द्वारिकादास (सं०)

न्यायभाष्य–(हिन्दी) भारतीय विद्याप्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६ ।

२५. दिङ्नाग

प्रमाणसमुच्चय–(प्रत्यक्ष परिच्छेद) मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर, सन् १९३०।

२६. दुर्वेकमिश्र

धर्मोत्तरप्रदीप–काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्था, पटना, सन् १९५५ ।

२७. देवराज

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन–(द्वि० आवृत्ति) बुद्धिवादी प्रकाश गृह, लखनऊ।

२८. देवसूरि

प्रमाणनयतत्त्वालोक–आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय, पूना, वी० नि० २४५३ ।
स्याद्वादरत्नाकर–(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार), आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय, पूना, वी० नि० २४५३ ।

२९. धर्मकीर्त्ति

न्यायबिन्दु–(द्वि० आवृत्ति) चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९५४ ।
प्रमाणवार्त्तिक–किताबमहल, इलाहाबाद, सन् १९४३ ।
हेतुबिन्दु–ओरियंटल इन्स्टीटयूट, बड़ौदा सन् १९४९ ।
वादन्याय–महाबोधि सभा, सारनाथ ।

३०. धर्मभूषण

(सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया)
न्यायदीपिका–वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९४५ ।

३१. नरेन्द्रसेन

(सम्पादक—दरबारीलाल कोठिया)
प्रमाणप्रमेयकलिका–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वी० नि० २४८७ ।

३२. नागार्जुन

उपायहृदय–प्री दिन्नाग बुद्धिस्ट टेक्स्ट्स ऑन लाजिक फ्रॉम चाइनीज सोर्सेजके अन्तर्गत, ओरि० इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, सन् १९२९ ।

३३. नेमिचन्द्र

गोम्मटसार जीवकांड–रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई सन् १९२७ ।

३४. पाल स्टेनथल
उदान

३५. पार्थसारथि
न्यायरत्नाकर (मी० श्लो० व्या०)–चौखम्मा सं० सी० वाराणसी।
शास्त्रदीपिका–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९२५।

३६ पुष्पदन्त-भूतबली
षट्खण्डागम–(मूल हिन्दी सहित) ग्रन्थप्रकाशन समिति फलटन, सन् '६५।

३७ पूज्यपाद
सर्वार्थसिद्धि–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५५।

३८ प्रभाकर
बृहती–मद्रास यूनि० मद्रास, सन् १९३६।

३९. प्रज्ञाकर
वार्त्तिकालंकार–महाबोधि सभा, सारनाथ।
प्रमाणवार्त्तिकभाष्य–काशीप्रसाद जा० अनुशीलन संस्था पटना, सं० २०१०।

४०. प्रभाचन्द्र
(सम्पादक—महेन्द्रकुमार)
प्रमेयकमलमार्तण्ड–(द्वि० सं०) निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९४१।
न्यायकुमुदचन्द्र–दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई, सन् १९४१।

४१. प्रशस्तपाद
प्रशस्तपादभाष्य–चौ० सं० सी० वाराणसी, सन् १९२३।

४२. वल्लभाचार्य
न्यायलीलावती–चौ० सं० सी० वाराणसी, सन् १९२७।

४३ भगवानदास डॉ०
दर्शनका प्रयोजन

४४. भद्रबाहु
दशवैकालिकनिर्युक्ति–आगमोदय समिति, सूरत।

४५. भीमाचार्य
न्यायकोश–(तृ० आ०) प्राच्य विद्यासंशोधन मन्दिर बम्बई, सन् १९२८।

४६. मथुरानाथ तर्कवागीश
व्याप्तिपंचकम्–सत्यनामाख्यमन्त्रालय काशी, संवत् १९८२।

४७. मनु
मनुस्मृति–चौ० सं० सी०, वाराणसी, सन् १९५२ ।

४८. मल्लिषेण
स्याद्वादमंजरी–भा० प्रा० संशोधन मन्दिर, पूना, सन् १९३३ ।

४९. महेन्द्रकुमार जैन
जैन दर्शन(द्वि० सं०)–वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, सन् १९६६ ।

५०. माधवाचार्य
सर्वदर्शनसंग्रह–आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् १९२८ ।

५१. माणिक्यनन्दि
परीक्षामुख–पं० घनश्यामदास जैन स्या० म०, काशी, वी० सं० १९७२ ।

५२. मुनि कन्हैयालाल (सम्पादक)
मूलसुत्ताणि–शान्तिलाल वी० सेठ, ब्यावर, वि० सं० २०१० ।
अनुयोगसूत्र–शान्तिलाल वी० सेठ, ब्यावर, वि० सं० २०१० ।
स्थानागसूत्र–धनपतिसिंह, कलकत्ता ।
भगवतीसूत्र–धनपतिसिंह, कलकत्ता ।

५३. यशोविजय
ज्ञानबिन्दुप्रकरण–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद सन् १९४२ ।
जैन तर्कभाषा–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९३८ ।

५४. राय डेविड (सम्पादक)
ब्रह्मजालसुत्त

५५. लक्ष्मीसिंह
नीलकण्ठी (त० सं० टी०)–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३ ।

५६. वाचस्पति
न्यायवार्तिकतात्प० टी०–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९२५ ।
सांख्यतत्त्वकौमुदी–चौखम्भा सं० सी०, वाराणसी, सन् १९१७ ।

५७. वर्द्धमानोपाध्याय
न्यायनिबन्धप्रकाश–गवर्नमेंट सं० कालेज, कलकत्ता, सन् १९११ ।

५८. वसुबन्धु
तर्कशास्त्र–ओरियंटल इंस्टीटयूट, बड़ौदा, सन् १९२९ ।

५९. वाल्मीकि
रामायण–गीता प्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१७ ।

६०. वादिराज

न्यायविनिश्चयवि० भाग १–२–भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४।
प्रमाणनिर्णय–मा० दि० जैन ग्र०, बम्बई, वि० सं० १९७४।

६१. वादीभसिंह

(सम्पादक — दरबारीलाल कोठिया)
स्याद्वादसिद्धि–मा० दि० जैन ग्र०, बम्बई, सन् १९५०।

६२. वासुदेव (सम्पादक)

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्–निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२।
(ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, मैत्रायणी उपनिषद्, सुबालोपनिषद्)

६३. विद्यानन्द

तत्त्वार्थश्लोकवा०–सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन् १९१८।
अष्टसहस्री–सेठ रामचन्द्र नाथारंग, बम्बई, सन् १९१५।
प्रमाणपरीक्षा–सनातन जैन ग्र० कलकत्ता, सन् १९१४।
पत्रपरीक्षा–सनातन जैन ग्र० कलकत्ता, सन् १९१३।
युक्त्यनुशासनालंकार–मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बंबई।

६४. विज्ञानभिक्षु

सांख्यदर्शनभाष्य–चौखम्भा, वाराणसी, वि० सं० १९८५।

६५. वीरसेन

धवला–जैन साहित्योद्धारक फण्ड, भेलसा, ई० १९५५।
जयधवला–जैन संघ, चौरासी, मथुरा, सन् १९४४।

६. व्यास

महाभारत–गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१७।

६७. शबरस्वामी

मीमांसादर्शनभाष्य–मद्रास यूनि०, मद्रास, सन् १९३४।

६८. शान्तरक्षित

तत्त्वसंग्रह–जनरल लायब्रेरी, बड़ौदा, सन् १९२६।

६९. शान्तिसूरि

न्यायावतारवार्तिक०–भारतीय विद्याभवन, बंबई, वि० सं० २००५।

७०. शालिकानाथ

प्रकरणपंचिका–का० हि० विश्ववि०, सन् १९६५।

७१. शंकरमिश्र–
वैशेषिकसूत्रोपस्कार–चौखम्भा, वाराणसी, सन् १९२३ ।

७२. शंकरस्वामी
न्यायप्रवेश–ओरियंटल इंस्टी०, बड़ौदा, सन् १९२० ।

७३. शंकराचार्य
छान्दोग्योपनि०भाष्य-गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१३ ।

७४. श्रुतसागर
तत्त्वार्थवृत्ति–भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९४९ ।

७५. विश्वनाथ
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली–गुजराती प्रेस, बम्बई, सन् १९२३ ।

७६. सतीशचन्द्र विद्याभूषण
ए हिस्टरी ऑफ इंडियन लाजिक–कलकत्ता यूनि०, कलकत्ता ।

७७. सदानन्द
वेदान्तसार–चौखम्भा सं० सी० वाराणसी, सन् १९५९ ।

७८. समन्तभद्र
(सम्पादक-अनुवादक—जुगलकिशोर मुख्तार)
आप्तमीमांसा–वीरसेवामन्दिरट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९६७ ।
युक्त्यनुशासन–वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, सन् १९५१ ।
स्वयम्भूस्तोत्र–वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, सन् १९५१ ।

७९. सिद्धसेन
(सम्पादक—पं० सुखलाल संघवी)
न्यायावतार–भारतीय विद्याभवन, बंबई, वि० सं २००५ ।
सन्मतिप्रकरण–ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, सन् १९६३ ।

८०. सिद्धर्षिगणि
न्यायावतारटीका–श्वे० जैन महासभा, बम्बई, वि० सं० १९८५ ।

८१. हरिभद्र
षड्दर्शनसमुच्चय–आत्मानन्दसभा, भावनगर ।

८२. हेमचन्द्र
प्रमाणमीमांसा–सिंघी जैन ग्र०, अहमदाबाद, सन् १९३९ ।

८३. अज्ञातकर्तृक
छान्दोग्योपनिषद्–गीता प्रेस, गोरखपुर ।

८४. अज्ञातकर्तृक
ऋग्वेद

८५. अज्ञातकर्तृक
युक्तिदीपिका—कलकत्ता यूनिव० सं० सी०, कलकत्ता, सन् १९३८।

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) अनेकान्त—वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।
(२) जैन-सिद्धान्त-भास्कर—जैन सिद्धान्त भवन, आरा।
(३) दी जनरल ऑव दी बिहार एण्ड उड़ीसा—रिसर्च सोसायटी, पटना।
(४) जैन एण्टिक्वेरी—जैन सिद्धान्त भवन, आरा।
(५) दार्शनिक—राजस्थान यूनिवर्सिटी, जयपुर।
(६) भारतीय विद्या—भारतीय विद्या भवन, बम्बई।

●

परिशिष्ट–२

नामानुक्रमणी

ध

न

प

ब

भ

म

•

परिशिष्ट—३

प्रमुख दार्शनिक-तार्किक-पारिभाषिक शब्द-सूची

अ

ब

म

य

ह

•

परिशिष्ट—४

प्रमुख जैनतर्कग्रन्थकार और उनकी तर्ककृतियाँ[1]

गृद्धपिच्छ	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
(वि० १-३ शती)		
समन्तभद्र	आप्तमीमांसा	प्रकाशित
(वि सं २-३ शती)	युक्त्यनुशासन	,,
	स्वयम्भूस्तोत्र	,,
	जीवसिद्धि	पार्श्वनाथचरित मे वादिराज द्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन	सन्मतितर्क	प्रकाशित
(वि. ४-५ वी शती)	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	प्रकाशित
देवनन्दि-पूज्यपाद	सारसंग्रह	धवला-टीकामें उल्लिखित
(वि, ६ वी शती)	सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ,वाराणसी
श्रीदत्त	जल्पनिर्णय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित
(वि ६ वी श.)		
सुमति	सन्मतितर्क-टीका	पार्श्वनाथचरितमे वादिराज द्वारा उल्लिखित
(वि. ६ वी श.)		
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेण प्रशस्तिमे निर्दिष्ट

(इन्हींका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमें 'सुमतेर्दिगम्बरस्य' के रूपमें है)

पात्रस्वामी (पात्र केशरी)	त्रिलक्षणकदर्थन	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धि-विनिश्चय टीकामें उल्लिखित और तत्त्वसंग्रहमें शान्त-रक्षितद्वारा आलोचित
(वि. ६ वी)		
वादिसिंह		वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत
(वि. ६-७ श.)		

---

१. यह सूची वर्णी ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित जैन दर्शन, भारतीय ज्ञानपीठद्वारा प्रकाशित जैन न्याय और वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित आप्तपरीक्षाके आधारसे दी गयी है।

अकलङ्कदेव (वि. ७ वी.)	लघीयस्त्रय (स्ववृत्तिसहित)	सिंघी जैन ग्रन्थमाला अकलंक ग्रन्थत्रयके अन्तर्गत
	न्यायविनिश्चय (स्ववृत्तिस.)	,,
	प्रमाणसंग्रह (स्ववृत्तिसहित)	,,
	सिद्धिविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित)	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
	अष्टशती (आप्तमीमांसावृत्ति)	गांधीनाथारंग जैन ग्रन्थमाला
	तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य	भारतीय ज्ञानपीठ काशी
हरिभद्र (वि ८वी शती)	अनेकान्तजयपताका	गायकवाड़ सीरिज बड़ौदा
	अनेकान्तवादप्रवेश	
	षड्दर्शनसमुच्चय	आत्मानन्द सभा भावनगर
	शास्त्रवार्तासमुच्चय	देवचन्द लालभाई सूरत
	न्यायप्रवेशटीका	गायकवाड सीरिज बड़ौदा
कुमारसेन (वि. ७७०)		जिनसेनद्वारा 'महापुराणमें और विद्यानन्दद्वारा अष्टसहस्रीमें स्मृत
सिद्धसेन(न्यायावतारकार) (वि. ८ वी श.)	न्यायावतार	प्रकाशित
	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	,,
कुमारनन्दि (वि. ८वी श.)	वादन्याय	विद्यानन्दद्वारा प्रमाण-परीक्षामें उल्लिखित
वादीभसिंह[1] (वि. ८ वी श.)	स्याद्वादसिद्धि	मा० दि० जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित
	नवपदार्थनिश्चय	मूडबिद्री भण्डार
अनन्तवीर्य (वृद्ध) (वि. ८-९ वीं शती)	सिद्धिविनिश्चयटीका	रविभद्रपादोपजीवि अनन्तवीर्यद्वारा सिद्धिविनिश्चयटीकामें निर्दिष्ट
अनन्तवीर्य रविभद्रपादोपजीवि (वि. ९ वीं शती)	सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी

---

१. विशेषके लिए देखिए, मेरे द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित स्याद्वादसिद्धिकी प्रस्तावना।

विद्यानन्द[1] (वि० ८३२-८९७)	विद्यानन्दमहोदय	तत्त्वार्थश्लोकवर्तिकमें स्वयं निर्दिष्ट तथा देवसूरि द्वारा स्याद्वादरत्नाकरमें उद्धृत
	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गांधी नाथारंग ग्रन्थमाला
	अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा-अष्टशतीटीका)	गांधी नाथारंग ग्रन्थमाला
	आप्तपरीक्षा	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली,
	प्रमाणपरीक्षा	सनातन जैन ग्रन्थमाला
	पत्रपरीक्षा	"
	युक्त्यनुशासनालंकार (युक्त्यनुशासनटीका)	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
	सत्यशासनपरीक्षा	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
	श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वी शती)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथ-चरितमें उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	" "
देवसेन (वि० ९९०)	नयचक्र (प्राकृत)	प्रकाशित
	आलापपद्धति	"
वसुनन्दि (वि. १०-११श.)	आप्तमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला काशी
माणिक्यनन्दि[2] (वि. सं. १०५०-१११०)	परीक्षामुख	अनेक स्थानोंसे प्रकाशित
सोमदेव	स्याद्वादोपनिषद्	दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८
वादिराज (वि० १०८२)	न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
	प्रमाणनिर्णय	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. सं. १०६७-११३७)	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस बम्बई
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रटीका)	माणणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला

१. इसका विशेष परिचय मेरे द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिर-द्वारा प्रकाशित आप्त-परीक्षाकी प्रस्तावना देखें।

२. विशेषके लिए देखें, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना।

सिद्धर्षि (वि. ११वीं श.)	न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बई
अभयदेव (वि. १०६७-११३७)	सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ अहमदाबाद
अनन्तवीर्य (वि० १२वी शती)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी
शान्तिसूरि (वि १२वी श)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
देवसूरि (वि. ११४३-१२२६)	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	आर्हत प्रभाकर कार्यालय पूना
	स्याद्वादरत्नाकर	,, ,,
हेमचन्द्र (वि. ११४५-१२२९)	प्रमाणमीमांसा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला बम्बई
	अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशतिका	प्रकाशित
	वादानुशासन	अनुपलब्ध
	वेदांकुश	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि १२-१३ शती)	विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
लघुसमन्तभद्र (वि १३ वी श.)	अष्टसहस्री-टिप्पण	प्रकाशित
आशाधर (वि १३ वी शती)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर प्रशस्तिमे उल्लिखित
शान्तिषेण (वि १३ वी शती)	प्रमेयरत्नसार	जैन सिद्धान्तभवन आरा (अप्रकाशित)
अभयचन्द्र (वि. १३वी श)	लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
रत्नप्रभसूरि (वि १३ वी शती)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
मल्लिषेण (वि १४ वी शती)	स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई
जिनदेव	कारुण्यकलिका	न्यायदीपिकामे उल्लिखित
धर्मभूषण[१] (वि. १५वी श.)	न्यायदीपिका	वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमालाटीका)	जैन सिद्धान्तभवन आरा (अप्रकाशित)

१. विशेषके लिए देखिए, मेरे द्वारा सम्पादित और वीरसेवामन्दिर दिल्ली-द्वारा प्रकाशित 'न्यायदीपिका' की प्रस्तावना।

शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका	जैन सिद्धान्त भवन आरा (अप्रकाशित)
नरेन्द्रसेन[1] (वि. १७८७)	प्रमाणप्रमेयकलिका	माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला
चारुकीर्ति[2] (वि. १८वीं श)	प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर यूनिवर्सिटी, मैसूर
	अर्थप्रकाशिका	अप्रकाशित
	सप्तभङ्गीतरङ्गिणी	प्रकाशित
	प्रमेयकमलमार्तण्डटिप्पण (अपूर्ण)	अप्रकाशित
यशोविजय (वि १८वीं श.)	अष्टसहस्रीविवरण	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था	
	जैनतर्कभाषा	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
	ज्ञानबिन्दु	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
	न्यायखण्डखाद्य	प्रकाशित
	अनेकान्तप्रवेश	,,
	न्यायालोक	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका	,,
	गुरुतत्त्वविनिश्चय	,,

●

१. विशेषके लिए देखिए, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी द्वारा प्रकाशित मेरी प्रमाणप्रमेय-कलिकाकी प्रस्तावना।

२. विशेषके लिए देखिए, मैसूर यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित प्रमेयरत्नालंकारकी-प्रस्तावना।

ग्रन्थ-संकेत सूची

अकलंकग्र० } अकलंकग्रन्थत्रय
अ० ग्र०

अष्टश०—अष्टशती

अष्टस०—अष्टसहस्री

आप्तमी०—आप्तमीमांसा

उ० हृ०—उपायहृदय

अनुयो० सू०—अनुयोगसूत्र

किरणा०—किरणावली

गो० जी०—गोम्मटसार जीवकाण्ड

जै० त० भा०—जैन तर्कभाषा

तर्कसं० } तर्कसंग्रह
त० सं०

तत्त्वसं०—तत्त्वसंग्रह

त० भा० } तर्कभाषा
तर्कभा०

त० वा० } तत्त्वार्थवार्तिक
तत्त्वार्थवा०

त० चि०—तत्त्वचिन्तामणि

त० शा०—तर्कशास्त्र

त० सू०—तत्त्वार्थसूत्र

त० वृ०—तत्त्वार्थवृत्ति

त० श्लो० } तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थश्लो०

त० भा०—तत्त्वार्थाधिगमभाष्य

दशवै० नि०—दशवैकालिकनिर्युक्ति

न्या० वि० } न्यायविनिश्चयविवरण
न्यायवि०

न्यायबि० } न्यायबिन्दु
न्या० बि०

न्यायवा०—न्यायवार्त्तिक

न्यायभा०—न्यायभाष्य

न्यायसू०—न्यायसूत्र

न्यायमं०—न्यायमंजरी

न्यायर०—न्यायरत्नाकर

न्यायवा० ता०—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका

न्यायाव०—न्यायावतार

न्यायकुसु०—न्यायकुसुमांजलि

न्यायकुमु० } न्यायकुमुदचन्द्र
न्या० कु०

न्या० प्र० } न्यायप्रवेश
न्यायप्र०

न्या० को०—न्यायकोश

न्यायक०—न्यायकलिका

न्यायाव० वा—न्यायावतारवार्तिकवृत्ति

न्या० दी० } न्यायदीपिका
न्यायदी०

न्यायनिब० प्र०—न्यायनिबन्धप्रकाश

न्या० वा० ता० परि—न्यायवार्तिक-
,, तात्पर्यपरिशुद्धि

प० मु० } परीक्षामुख
परीक्षामु०

प्रमाणप्रमेयक०—प्रमाणप्रमेयकलिका

प्र० मं०—प्रमाणमंजरी

प्र० नि०—प्रमाणनिर्णय

प्रमाणसं०—प्रमाणसंग्रह

प्रशस्त० भा० } प्रशस्तपादभाष्य
प्र० भा०

प्र० वा०—प्रमाणवार्तिक

प्र० प० } प्रमाणपरीक्षा
प्रमाणप०

प्रमेयक० मा०—प्रमेयकमलमार्तण्ड

प्र. न. तं } प्रमानयतत्त्वालोक / प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार
प्रमेयर० मा०–प्रमेयरत्नमाला
प्र० मी०–प्रमाणमीमांसा
प्रमेयरत्ना०–प्रमेयरत्नालंकार
भ० सू०–भगवती सूत्र
प० प०, पत्रप० } पत्रपरीक्षा
मी० श्लो० वा०–मीमांसाश्लोकवार्तिक
मी० द०–मीमांसादर्शन
मूलसु०–मूलसुत्ताणि
युक्तिदी०, यु० दी० } युक्तिदीपिका
युक्त्यनु०–युक्त्यनुशासन
वैशे० द०–वैशेषिकदर्शन
वैशेषिकसूत्रो०, वैशे० उस० } वैशेषिकसूत्रोपस्कार
वेदान्तसा०–वेदान्तसार
सां० का०–सांख्यकारिका
सां० भा०–सांख्यदर्शनभाष्य
सां० त० कौ०–सांख्यतत्त्वकौमुदी
शास्त्रदी०–शास्त्रदीपिका
षट्खण्डा०–षट्खण्डागम
स० सि०–सर्वार्थसिद्धि
सि० वि०–सिद्धिविनिश्चय
सिद्धिवि० टी–सिद्धिविनिश्चयटीका
स्वयम्भू०–स्वयम्भूस्तोत्र
स्याद्वादर०–स्याद्वादरत्नाकर
स्या० सि०–स्याद्वादसिद्धि
सि० मु०–सिद्धान्तमुक्तावली
स्थानांगसू०–स्थानांगसूत्र
सर्वद० सं०–सर्वदर्शनसंग्रह
हेतुबि०–हेतुबिन्दु
हेतुबि० टी०–हेतुबिन्दुटीका
ज्ञानबि०–ज्ञानबिन्दुप्रकरण

संशोधन

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
पात्रस्वामी	पात्रस्वामी	८	८
न्यायमाष्य	न्यायभाष्य	११	३
····मुदाहणे····	मुदाहरणे	११	२२
उपलबधि	उपलब्धि	१२	१८
लिंगपगामर्श	लिंगपरामर्श	१३	१३
चतुर्लक्षिण	चतुर्लक्षण	१४	१५
हेहु	हेतु	१५	६
ऋवयन····	ऋवयव····	१५	१४
सागोपांग	सागोपाग	१६	६
अन्तर्मूत	अन्तर्भूत	१६	१२
····समानाधिकरण्य····	समानाधिकरण	१७	२६
प्रभाबित	प्रभावित	१९	१५
उपायहृदय	उपायहृदयमे	२०	५
विशेषतथा	विशेषतया	२१	१०
प्रयाण-	प्रमाण-	२१	१२
धर्मकीति	धर्मकीर्ति	२१	२४
न्यायाबिन्दु	न्यायबिन्दु	२१	२४
तर्कशास्व	तर्कशास्त्र	२३	९
स्नानाग	स्थानाग	२३	१३
धर्भभूषण	धर्मभूषण	२४	२४
शेशावत्	शेषवत्	२९	१
अभिभिनोध	अभिनिबोध	३०	१८
जाना	जान	४०	१८
पतिपादित	प्रतिपादित	४३	१९
स्वर्षा—	स्वार्था—	४४	२४
हो	ही	४४	२६
प्रत्यक्षधिरुद्ध	प्रत्यक्षविरुद्ध	४६	१५
न्यान—	न्याय—	५०	७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पंक्ति
आश्रयसिद्ध	आश्रयासिद्ध	५२	१
पदार्थों	पदार्थोंमें	६४	१९
प्रयाणों	प्रमाणों	७०	२
कहलाहा	कहलाता	७५	१४
बोध	बोध	७८	१३
····तारद	····तरिद	७९	१२
गमयसि	गमयति	८२	५
पर्यायय—	पर्याय—	८५	१५
कमारनन्दि	कुमारनन्दि	११६	७
न्यायप्रवेशकारक	न्यायप्रवेशकारकी तरह	२५१	३२
सामहित	समाहित	८४	१५
हेतु	(हेतु)	८६	१५
वृक्षका	वृक्षकी	८६	१६
सकता	सकती	८६	१६
अग्नि	अग्नि	८७	१७
लिंगनर्शनात्	लिंगदर्शनात्	९७	१४
अवधाणात्मक	अवधारणात्मक	९९	५
पदोर्थो	पदार्थों	९०	१९
····केवल पांच	····केवल इन पांच	१००	२
(प्रत्यभिज्ञान	(प्रत्यभिज्ञान)	१०१	५
अभाबाश	अभावाश	१०३	१४
तथ्य है	तथ्य यह है	१०,	२२
घटरहिता	घटरहितता	१०४	२
प्रतोयये	प्रतीयते	१०४	२६
स्वार्थानमान	स्वार्थानुमान	११२	१९
वितृत	विस्तृत	११५	२
पह	यह	११५	४
न्यानप्रवेश—	न्याय प्रवेश—	१२०	९
प्रशस्तपावने[६]	प्रशस्तपादने[५]	१२०	१४
प्रमाण····कारने[७]	प्रमाण····कारने[६]	१२०	१५
सिद्धसेनने[८]	सिद्धसेनने[७]	१२०	१६
दूसरी	दूसरी[८]	१२०	१८
स्वरूप	स्वरूप	१२३	१७

अशुद्ध	शुद्ध		पृ०	पंक्ति
पदार्थ	परार्थ		१२५	१६
विबक्षा	विवक्षा		१२६	२८
विकल्पसिद्धि	विकल्पसिद्ध		१२७	१७
वर्तमान '' होता	वर्तमान····होना		१२८	११
या अनुमान	या आगमगम्य होना			
आर्द्रन्धन—	आर्द्रेन्धन—		१३४	२
नियमे	नियमे		१३८	३०
····भदात्	भेदात्		१३८	३१
वेदातिन्यों—	वेदान्तियों—		१३९	१६
···दर्शद—	दर्शन—		१४०	५
····दर्नन—	दर्शन		१४१	१९
न्याया—	न्याय—		१४२	१२
····र्ऽर्थानुभीयते	····र्ऽर्थोनुमीयते		१४२	३०
मीमांसाकादि	मीमासकादि		१४५	५
'चिन्ता	'चिन्ता'		१५३	१३
ऊहा	'ऊहा'		१५३	१३
विज्जइ	विज्जइ'		१५३	२३
षट्टख०	षट्ख०		१५३	३०
सर्वप्रथम व्याप्ति—	सर्वप्रथम		१५४	१२
····एवं स्पष्टतया	एवं स्पष्टतया व्याप्ति ग्राहक ···			
न्यायबा—	न्यायवा—		१५४	२३
उदयने	उदयनने		१५५	१६
किए	लिए		१७६	१६
शान्तरक्षितने	शान्तरक्षितेके		१९४	१५
उत्लेख	उल्लेख		१९६	११
दार्शिनिकों	दार्शनिकों		२०७	४
विद्यानन्दने विरोधी····	विद्यानन्दने सा—			
साक्षात्	क्षात विरोधी····		२१५	२५
न्यायविदीरताः	न्यायविदीरिताः		२२८	१६
३० (वां फर्मा)	३१ (वा फर्मा)		२४१	३३
व्यभिचारारा गृह	व्यभिचाराग्रह		२६०	२५
सिलासिजम	सिलाजिज्म	प्राक्कथन	५	१०
अमुमान	अनुमान	प्रस्तुत-कृति	९	१०
वाराणी	वाराणसी	,,	१०	२१
सिद्ध बाधित	सिद्ध बाधित	विषय-सूची	१८	१२

प्रमाणपरीक्षागत हेतुभेद-प्रदर्शक संशोधित चित्र
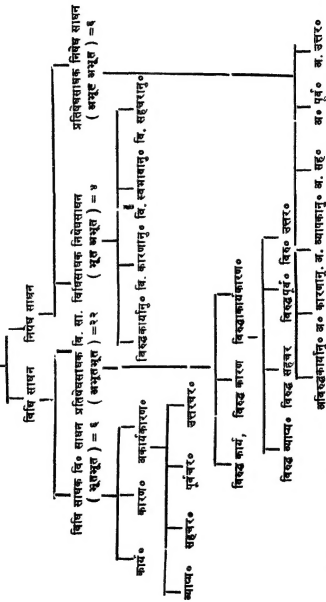
विधिसाधक विधि साधन = ६ प्रतिषेध साधक विधि साधन = २२ विधिसाधक निषेध साधन = ४ प्रतिषेध साधक निषेध साधन = ६